ओ३म

आस्तिकवाद

लेखक

मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्राप्तकर्त्ता

श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय एम० ए०

[प्रणेता—अद्वैतवाद, विधवा विवाह मीमांसा, धम्मपद हिन्दी शेक्सपियर, (छः भाग), शंकर रामानुज दयानन्द, अंग्रेजी जाति का इतिहास और सम्पादक वेदोदय तथा चमचम]

मुद्रक तथा प्रकाशक

कला प्रेस, ज़ीरोरोड, प्रयाग।

द्वितीय वार
४०००

१९३२

[मूल्य १)

मुद्रक और प्रकाशक—जीवनलाल, कला प्रेस, प्रयाग ।

ओ३म

प्राक्कथन

कुछ दिन पहले, शिक्षित जगत के नाम से जो समुदाय प्रसिद्ध था, उसने यह फैशन सा बना रक्खा था कि ईश्वर और धर्म दोनों का बहिष्कार करना चाहिये। उनकी समझ मे इसका कारण यह था कि ईश्वर के मानने से व्यर्थ मनुष्य को बन्धन में पड़ना पड़ता है—और धर्म लड़ाई झगड़े की चीज़ है ही, इसलिये धर्म का ग्राहक बनना मानो लड़ाई झगड़े का खरीद करना है। १९ वीं शताब्दी में यूरोप मे प्रायः उपर्युक्त भांति के पुरुषो का शिक्षित समुदाय पर आधिपत्य था। उस समय यदि "निटशे" ने एक ओर आघोषित किया कि इस विज्ञान युग मे ईश्वर की मृत्यु हो गई तो दूसरी ओर " मेकाइल वैकुनिन " ने दावा किया कि "If God really existed, it would be necessary to abolish him" अर्थात् यदि सचमुच कोई ईश्वर मौजूद है तो उसे नष्ट कर देना आवश्यक है"। बोलशेविक २० वीं शताब्दी में भी शोर मचा रहे है कि मामूली अमीर और राजा से लेकर ईश्वर तक का आधिपत्य नष्ट कर देना, उनके गढ़े हुये "साम्यवाद" (Socialism) का उद्देश्य है। इस प्रकार के भ्रम मूलक विचार जन-समुदाय में क्यों उत्पन्न हुये इसे हम उचित रीति से मध्य कालीन यूरोप मे धर्म के नाम से दार्शनिकों और वैज्ञानिको पर हुये अत्याचार रूपी कार्य्य का प्रतिकार्य्य ही कह सकते है और दोनों कार्य्य और प्रतिकार्य्य मे कुछ दरजो का अन्तर भले ही कोई कह देवें परन्तु श्रेणी का भेद नही कहा जा सक्ता—अर्थात् मध्य-कालीन यूरोप मे जो कार्य्य कुछ अज्ञानी पुरुषो ने धर्म के नाम से किये उनमें और जो कार्य्य अब उसी श्रेणी के पुरुष विज्ञान

के नाम से कर रहे हैं इनमे नाम मात्र का ही अन्तर कहा जा सकता ।

विज्ञान, दर्शन और धर्म

उपनिषदो ने जो एक प्रकार से वैदिक आस्तिकवाद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं, बड़ी उत्कृष्टता के साथ, विज्ञान (सायन्स), दर्शन (फिलोसोफी) और धर्म का मूलतत्व और सीमा बतलाने का यत्न किया है। याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुये कहते है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मेत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" ॥ (वृहदारण्यकोपनिषद २ । ४ । ५ ।) अर्थात् "अरे मैत्रेयि ! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है—अयि मैत्रेयि। निश्चय, आत्मा के दर्शन और श्रयण से, मनन से और विज्ञान से यह सब विदित होता है"।

याज्ञवल्क्य ने आत्मा पर्य्यन्त समस्त जगत के ज्ञान के लिये साधन बतलाये हैं:—

(१) दर्शन और श्रवण—इसी का नाम विज्ञान (सायन्स) है।

(२) मनन—दर्शन या फिलोसोफी को कहते हैं।

(३) निदिध्यासन—अनुभव (Realisation) का नाम धर्म है।

कितनी उत्तम समन्वित शिक्षा है। मनुष्य दर्शन और श्रवण के बाद ही मनन और मनन के बाद ही निदिध्यासन करने के योग्य होता है। इसीलिये कहा जाता है कि यदि अनुभूत विज्ञान (Realized Science) फिलोसोफी है तो अनुभूत फिलोसोफी (Realized Philosophy) का नाम ही धर्म है। तीनो की, अपने २ दरजो पर कितनी आवश्यकता है और तीनो मे कितना

सहयोग है और किस प्रकार वे तीनों जीवन के उच्च उद्देश्य की प्राप्ति का साधन हैं, ये सभी बातें याज्ञवल्क्य के एक छोटे, परन्तु सारगर्भित वाक्य से प्रकट हो रहा है।

भूर्भुवः स्वः

इसी शिक्षा और समन्वित ज्ञान का समर्थन, तीनों महाव्याहृतियों "भूर्भुवः स्वः" से भी होता है।

(१) भूः = सत = प्रकृति = Material manifestatation
(२) भुवः = चित्त = आत्मा = Spiritual
(३) स्वः = आनन्द = परमात्मा = Harmonious

अर्थात भुर्भुवः स्वः कहो या सच्चिदानन्द—यह ईश्वर का नाम इसीलिये है कि वह प्राकृतिक जगत और आत्मिक संसार मे मेल रखने वाला है। यदि आत्मिक जगत धर्म का बोधक है तो प्राकृतिक जगत विज्ञान (सायन्स) का विधायक है।

यूरोप की उन्नीसवीं शताब्दी मे उपर्युक्त विचार स्वीकार नही किया जाता था परन्तु २० वीं शताब्दी का विज्ञान इसे स्वीकार करने के लिये बाधित सा हो रहा है। डाक्टर फिलमिंग (Dr Fleming) ने १९१४ ई० मे हुये 'सायन्स वीक' मे विज्ञान और धर्म की एकता, इन शब्दों मे स्वीकार की थी:—"They are not opposed they are not neutrals, they are allies," (Science and Religion by seven men of science) अर्थात् विज्ञान और धर्म न तो परस्पर विरोधी हैं न एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं। किस प्रकार सहायक है, डाक्टर फिलमिंग ने इसकी भी व्याख्या की है। उनका कथन है कि हम जब किसी वस्तु को जानना चाहते हैं तो हमें दो प्रश्नों, कैसा और क्यो, (How and Why) के

के नाम से कर रहे हैं इनमे नाम मात्र का ही अन्तर कहा जा सकता।

विज्ञान, दर्शन और धर्म

उपनिषदो ने जो एक प्रकार से वैदिक आस्तिकवाद के व्याख्यान ग्रन्थ ही हैं, बड़ी उत्कृष्टता के साथ, विज्ञान (सायन्स), दर्शन (फिलोसोफी) और धर्म का मूलतत्व और सीमा बतलाने का यत्न किया है। याज्ञवल्क्य अपनी विदुषी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश देते हुये कहते हैं कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्वं विदितम्" ॥ (वृहदारण्यकोपनिषद २ । ४ । ५ ।) अर्थात् "अरे मैत्रेयि ! निश्चय, आत्मा ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य है—अयि मैत्रेयि। निश्चय, आत्मा के दर्शन और श्रयण से, मनन से और विज्ञान से यह सब विदित होता है"।

याज्ञवल्क्य ने आत्मा पर्य्यन्त समस्त जगत के ज्ञान के लिये साधन बतलाये हैं:—

(१) दर्शन और श्रवण—इसी का नाम विज्ञान (सायन्स) है।

(२) मनन—दर्शन या फिलोसोफी को कहते हैं।

(३) निदिध्यासन—अनुभव (Realisation) का नाम धर्म है।

कितनी उत्तम समन्वित शिक्षा है। मनुष्य दर्शन और श्रवण के बाद ही मनन और मनन के बाद ही निदिध्यासन करने के योग्य होता है। इसीलिये कहा जाता है कि यदि अनुभूत विज्ञान (Realized Science) फिलोसोफी है तो अनुभूत फिलोसोफी (Realized Philosophy) का नाम ही धर्म है। तीनो की, अपने २ दरजों पर कितनी आवश्यकता है और तीनो मे कितना

सहयोग है और किस प्रकार वे तीनों जीवन के उच्च उद्देश्य की प्राप्ति का साधन हैं, ये सभी बातें याज्ञवल्क्य के एक छोटे, परन्तु सार-गर्भित वाक्य से प्रकट हो रही है।

भूर्भुवः स्वः

इसी शिक्षा और समन्वित ज्ञान का समर्थन, तीनों महा-व्याहृतियों, "भूर्भुवः स्वः" से भी होता है।

(१) भूः = सत = प्रकृति = Material manifestatation

(२) भुवः = चित्त = आत्मा = Spiritual

(३) स्वः = आनन्द = परमात्मा = Harmonious

अर्थात् भुर्भुवः स्वः कहो या सच्चिदानन्द—यह ईश्वर का नाम इसीलिये है कि वह प्राकृतिक जगत और आत्मिक ससार मे मेल रखने वाला है। यदि आत्मिक जगत धर्म का बोधक है तो प्राकृतिक जगत विज्ञान (सायन्स) का विधायक है।

यूरोप की उन्नीसवी शताब्दी मे उपर्युक्त विचार स्वीकार नही किया जाता था परन्तु २० वीं शताब्दी का विज्ञान इसे स्वीकार करने के लिये वाधित सा हो रहा है। डाक्टर फिलीमिग (Dr Fleming) ने १९१४ ई० मे हुये 'सायन्स वीक' मे विज्ञान और धर्म की एकता, इन शब्दो मे स्वीकार की थी:—"They are not opposed they are not neutrals, they are allies," (Science and Religion by seven men of science) अर्थात् विज्ञान और धर्म न तो परस्पर विरोधी हैं न एक दूसरे की उपेक्षा करते हैं किन्तु एक दूसरे के सहायक हैं। किस प्रकार सहायक है, डाक्टर फिलीमिग ने इसकी भी व्याख्या की है। उनका कथन है कि हम जब किसी वस्तु को जानना चाहते हैं तो हमे दो प्रश्नो, कैसा और क्यो, (How and Why) के

उत्तर लेने पड़ते हैं। उदाहरण के लिये जगत ही को लीजिये—जगत कैसे बना ? इसका उत्तर सायन्स देगी। परन्तु जगत क्यों बना ? इसका उत्तर, सायन्स नहीं दे सकती, इसका उत्तर धर्म देगा कि ईश्वर ने जगत किस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये बनाया है। जब दो प्रश्नों मे से जिनके बिना हम किसी वस्तु या कार्य का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, एक का उत्तर सायन्स और दूसरे का उत्तर धर्म देता है तो किस प्रकार इन दोनों को एक दूसरे का विरोधी कह सकते हैं। उनका तो परस्पर सहायक मानना अनिवार्य्य है। इस प्रकार हमने देख लिया कि जो भूल १९ वी शताब्दी के अधिकतर और २० वीं शताब्दी के भी कुछ विद्वान् कर रहे थे और कर रहे हैं, उनका कारण धर्म के मूल तत्त्व से अनिभिज्ञता ही थी। एक और बात इस प्रकरण मे जो विचारणीय है वह है स्वयमेव विज्ञान (सायन्स)।

सायन्स के आविष्कार क्या है ?

कुछ अधकचरे वैज्ञानिक वेकन के संकेतित अधकचरे दार्शनिकों की भांति सायन्स के आविष्कारों के अभिमान पूर्ण वर्णन करने में, सीमा का उल्लंघन करते हुये आस्तिकवाद की अवहेलना करने लगते हैं—ऐसे विद्वानों को समझना चाहिये कि जिन्हे वे आविष्कार कहते हैं, वे आविष्कार नहीं किन्तु अब तक की अपनी अल्पज्ञता और अनिभिज्ञता का इकबाल है। कहते हैं कि न्यूटन ने आकर्षण का आविष्कार किया, इस आविष्कार के अर्थ यह नहीं कि पृथ्वी मे आकर्षण गुण मौजूद नही था, और न्यूटन ने उसे उत्पन्न कर दिया। नहीं आकर्षण गुण तो उसमें जब से पृथ्वी है तभी से मौजूद था परन्तु न्यूटन से पहले अर्वाचीन काल के वैज्ञानिक उसे जानते न थे अब न्यूटन ने उसे जान लिया। बस इसी एक प्राकृतिक नियम की जानकारी का नाम, आविष्कार

है। वृक्ष की जड़ मे पानी देने से समस्त वृक्ष में फुनगी तक पानी पहुंच जाता है, यह एक सृष्टि नियम था और है परन्तु सर जगदीश चन्द्र बोस ने उसके कारण की जानकारी प्राप्त कर ली। बस यह भी सायन्स का एक आविष्कार हो गया—इस प्रकार जितने चाहे उतने आविष्कारो पर विचार करते चले जाइये—सब की तह मे विज्ञान की भूतकालिक अनभिज्ञता निहित मिलेगी। जिस प्रभु के रचे हुये जगत में प्रचलित असंख्य नियमो मे से कुछ की जानकारी प्राप्त कर लेना ही सायन्स के बड़े से बड़े आविष्कारों की पराकाष्ठता है तो फिर इन आविष्कारों पर क्या इतना अभिमान करना उचित है कि जिसके आवेश मे आकर जगत के रचयिता को ही भुला दिया जावे ? यह बात है जिस पर ठंडे दिल से प्रत्येक ऐसे विद्वान् को विचार करना चाहिये। यदि इस प्रकार विचार किया जायगा तो प्रत्येक को आस्तिकता के सिद्धान्त के आगे शिर झुकाना पड़ेगा। हां उचित रीति से यह पूछा जा सकता है कि हमें आस्तिक क्यों बनना चाहिये ?

मनुष्य को आस्तिक क्यों बनना चाहिये ?

इसका उत्तर यह है कि मनुष्य में सद्गुणों की वृद्धि का इससे बढ़कर कोई और मार्ग ही नहीं है। उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये आदर्श की ज़रूरत होती है। यह जगत् का सार्वत्रिक नियम है। अच्छे से अच्छे पुरुष को भी यदि हम आदर्श रूप मे रक्खेंगे तो भी उसमे अच्छे गुणों के साथ कुछ न कुछ कमियाँ अवश्य मिलेंगी—परंतु ईश्वर का आदर्श ही एक ऐसा आदर्श है जिसमे कमी और त्रुटियो की गुंजाइश ही नही है अच्छे मनुष्य आंशिक आदर्श का काम तो दे सकते हैं परन्तु पूर्ण आदर्श ईश्वर के सिवा कहीं नही मिल सकता। मनुष्य का अन्तिम ध्येय पूर्ण स्वतन्त्रता रूप मुक्ति का प्राप्त करना है और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये आदर्श उसके

सम्मुख ईश्वर का होना चाहिये। इस आदर्श से वह जितने गुण ग्रहण करता चला जायगा उसकी आखिरी मञ्जिल उसके बराबर समीप हो होती चली जायगी और अन्त मे, इस यत्न को बराबर जारी रखने से, एक समय आवेगा जब मनुष्य संभव पूर्णता को प्राप्त करके सत्चित से सच्चिदानन्द हो जायगा। वह जगत कर्ता नहीं बन सकता। कर्म फलदाता भी नही बन सकता। अनादि सच्चिदानन्द भी नही बन सकता। किन्तु सादि सच्चिदानन्द अवश्य बन सक्ता है। इसी सादि सच्चिदानन्द बनने का नाम मुक्ति की प्राप्ति है, यही मनुष्य है, यही मनुष्य जीवन का उद्देश्य, यही मनुष्य का अन्तिम ध्येय है।

आस्तिकवाद नामक पुस्तक

प्रसन्नता की बात है कि जिस पुस्तक के प्राक्कथन मे ये शब्द लिखे जा रहे हैं उस पुस्तक में उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के प्रत्येक पहलू पर योग्यता और विद्वत्ता के साथ दार्शनिक रीति से प्रकाश डाला गया है। उन सब पहलुओ के सम्बन्ध मे कुछ लिखना तो सम्भव ही कहां था इन कुछेक पंक्तियों मे तो उनकासंकेत भी नही किया जा सकता। परन्तु एक प्रभाव जो पुस्तक के आद्योपान्त पढ़ जाने से मुझ पर पड़ा है, वह यह है कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है और आस्तिकवाद के सम्बन्ध मे कुछ जानने की इच्छा रखनेवालों के लिये बड़े काम की चीज़ है। जगत की रचना, जगत के कर्तृत्व, ईश्वर के गुण, सायन्स और आस्तिकवाद, पाप पुण्य, कर्म फलादि के सम्बन्ध मे जो कुछ लिखा गया है, वह सभी पढ़ने और मनन करने के योग्य है। अन्त मे पुस्तक के रचयिता प० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय एम० ए० को इस सफलता के लिये जो पुस्तक के समाप्त करने में उन्होंने प्राप्त की है मुबारिकवाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि अधिकतर पुरुष स्त्री इससे लाभ उठाने का यत्न करेंगे।

—नारायण स्वामी

भूमिका

सब धर्मों का केन्द्र ईश्वर है। परन्तु ईश्वर के विषय में भिन्न भिन्न पुरुषों के भिन्न भिन्न मत हैं। इसी भिन्नता के कारण व्यक्तियों, जातियो तथा सम्प्रदायों के व्यावहारिक जीवन मे भिन्नता है और यही भिन्नता अनेक प्रकार के वैमनस्य, कलह, शत्रुता तथा युद्ध आदि के रूप मे प्रकट हुआ करती है। सच्ची शान्ति का स्थापन आस्तिकता के यथार्थ भावों द्वारा ही हो सकता है ऐसा मेरा मत है। और यही यथार्थ भाव मनुष्य को परमार्थ की भी प्राप्ति कराते हैं।

मैंने यथाशक्ति पाश्चात्य तथा पूर्वीय सभी विद्वानों के आक्षेपों की मीमांसा करने का यत्न किया है। इसमे दो पुस्तकों के उदाहरणो का आधिक्य है। एक फ़्लिण्ट के थीज़्म (Theism) का और दूसरा वालेस के वर्ल्ड आफ़ लाइफ़ (World of life) का। पहली पुस्तक आस्तिकता के विषय में बहुत अच्छी है और दूसरी विकासवाद पर बहुत कुछ प्रकाश डालती है। यद्यपि फ़्लिण्ट के बहुत से भाग से मैं सहमत नहीं जैसा कि पुस्तकावलोकन से प्रतीत होगा तथापि जो स्थल मैंने उद्धृत किये हैं वह ऐसी उत्तमता से लिखे गये हैं कि मैंने फ़्लिण्ट के शब्दों को ही रखना अच्छा समझा। इतने अवतरणों के देने का एक प्रयोजन यह भी था कि

पाठकवर्ग मूल को देखकर स्वयं अपना मत निश्चित कर सकें। अद्वैतवाद के सम्बन्ध में श्री शङ्कराचार्य्यजी के भाष्य से ही पुष्कल अवतरण दिये हैं क्योंकि इस विषय मे इनसे अधिक अन्य कोई नहीं समझा जाता । यद्यपि शांकर ग्रन्थों के पढ़नेवाले कम हैं तथापि उनके नाम का प्रभाव बहुत है।

शेष विशेषतायें पुस्तकावलोकन या विषय सूची से ज्ञात हो सकेंगी।

दयानिवास, प्रयाग
कृष्ण जन्माष्टमी १९८८
३० अगस्त १९३२

गंगाप्रसाद उपाध्याय।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

मैंने 'आस्तिकवाद' इसलिये लिखा था कि लोग ईश्वर-सम्बन्धी बातों की ओर से सर्वथा उदासीन होते जा रहे हैं। और मुझे भय था कि कहीं मेरी पुस्तक घर के कोने मे ही पड़ी न सड़ती रहे। परन्तु कई बड़े बड़े सज्जनों ने इसकी आदर पूर्वक समालोचना की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने तो मई १९३१ के कलकत्ते के अधिवेशन में मुझे इस पुस्तक पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान करके अनुग्रहीत किया। पुस्तक के अनुकूल इससे अधिक और क्या कहा जा सकता है। मुझे हर्ष है द्वितीय संस्करण की शीघ्र ही आवश्यकता पड़ गई। मैंने इसमे दो परिवर्तन कर दिये हैं। पहले अंगरेजी भाग पुस्तक का ही भाग था। अब वह फुटनोट मे दे दिया गया है। इससे केवल हिन्दी पढ़ने वालों का ध्यान बटेगा नहीं और जो मौलिक प्रमाण देखना चाहेंगे वह फुटनोट में देख लेंगे। दूसरे कपिल के "ईश्वरा सिद्धेः" की समालोचना कर दी गई है। क्योंकि यह भी विवादास्पद विषय था।

दयानिवास
होलिका १९३२ वि०
२२ मार्च १९३२

गंगाप्रसाद उपाध्याय

ओ३म्

आस्तिकवाद

विषय-सूची

ओ३म्

आस्तिकवाद

पहला अध्याय

विषय की व्यापकता

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्द्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत् ॥

प्राचीनकाल के किसी कवि का यह श्लोक उस समय के मनुष्यो के भावों को भली भांति प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह है कि "मारा हुआ (नष्ट किया हुआ) धर्म मनुष्य को नष्ट कर देता है और सुरक्षित धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। इसलिये धर्म को नही मारना चाहिये जिससे हमारा नाश न हो।" पुराने लोगों का मत था कि यदि हम संसार में अपना भला चाहते है तो धर्म की रक्षा करें। इस बात को वह स्वयंसिद्ध समझते थे। इसीलिये न केवल भारतवर्ष के किन्तु समस्त संसार के प्राचीन ग्रन्थों मे यह प्रश्न तो कई बार आया है कि "धर्म क्या है?" परन्तु किसी ने यह प्रश्न कभी नही किया कि "धर्म की

आवश्यकता क्या है।" स्मृतियों, दर्शनों, उपनिषदों तथा अन्य पुस्तकों को उठाकर देखिये। वहाँ इसी बात की मीमांसा की गई है कि "धर्म क्या है?" अथवा "सच्चा धर्म क्या है?" वहाँ यह प्रश्न ही नहीं उठता कि "धर्म क्यों करना चाहिये?" अथवा "मनुष्य को धर्मात्मा क्यों होना चाहिये?"

उस युग के मनुष्यों को यह बात क्यों नहीं सूझी? क्या वह दूरदर्शी न थे? क्या उनकी बुद्धि इतनी कुण्ठित थी? यह कोई असम्भव बात तो नहीं है। एक युग के मनुष्य दूसरे युग की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् हो सकते हैं। सम्भव है कि आजकल के मनुष्यों को एक बात न सूझे और सौ पचास वर्ष पीछे आने वाली सन्तान उसको निकाल ले। परन्तु एक प्रश्न है जिसका समाधान होना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थों में सैकड़ों ऐसे प्रश्न मिलते हैं जिनसे उस युग के विद्वानों की बुद्धि की तीव्रता का परिचय मिलता है तथा उनके भौतिक और पारलौकिक विचारों की उच्चता, असाधारणता और विशालता प्रकट होती है। फिर क्या कारण है कि बाल की खाल खींचनेवाले और आकाश-पाताल एक कर देनेवाले लोगों ने इस छोटे से प्रश्न का समाधान नहीं किया? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि "धर्म की क्या आवश्यकता है?" यह एक मौलिक प्रश्न है? "धर्म क्या है?" यह केवल शाखा सम्बन्धी है। मौलिक प्रश्न शाखा सम्बन्धी प्रश्नों की अपेक्षा गूढ़ होते हैं। सम्भव है कि तीव्र बुद्धि होते हुये भी उस युग के मनुष्यों को यह बात न सूझी हो कि प्रश्नों की जड़ तक पहुँचा जाय। परन्तु एक प्रश्न फिर भी रह जाता है, वह यह कि "धर्म का प्रश्न मनुष्य समाज के गले कैसे पड़ गया?" हम संसार की समस्त जातियों को इस प्रश्न की विवेचना करते हुये पाते हैं चाहे वह सभ्य जातियां हों, चाहे असभ्य। इनके जीवन का अधिकांश इसी प्रश्न

की मीमांसा में व्यय होता है कि "धर्म क्या वस्तु है ?" इनके इतिहास की विशेष घटनायें, इनके साहित्य के मुख्य ग्रन्थ, इनके युद्ध, इनकी सभाएँ, इनकी सामाजिक क्रान्तियाँ, इनकी सन्धियाँ, इनके विग्रह सभी किसी न किसी अंश में इस प्रश्न से सम्बन्ध रखते हैं। यह तो माना जा सकता है कि उस युग के लोग धर्मरूपी वृक्ष की जड़ तक न पहुँचे हों। परन्तु इस वृक्ष से उनका परिचय ही कैसे हुआ, जिसने इनके समस्त सामाजिक और वैयक्तिक जीवन को प्रभावित कर दिया ? क्या वस्तुतः यह कोई वृक्ष था जिस पर यह लोग इतने मोहित हो गये ? यदि था तो इसका मूल भी अवश्य रहा होगा और "धर्म की क्या आवश्यकता है ?" यह प्रश्न उतना ही सुसंगत हो सकता है जितना यह प्रश्न कि "मनुष्य की क्या आवश्यकता है ?" आजकल विज्ञान की बहुत उन्नति हो रही है और उसके प्रत्येक विभाग का विशाल साहित्य तैयार हो गया है। एक-एक विभाग के उपविभाग भी इतने प्रौढ़ हो गये हैं कि वह स्वयं वटवृक्ष की शाखाओं के समान बड़े-बड़े वृक्षों का रूप धारण कर रहे हैं। समाज शास्त्र, अर्थशास्त्र, मनःशास्त्र, भूगोल शास्त्र, इतिहास शास्त्र इत्यादि अगणित शास्त्रों की मीमांसा हो रही है। उनमें इस प्रकार के प्रश्न आते हैं कि मनुष्य समाज कैसे बना ? उसने कैसे उन्नति या अवनति की ? उसने जड़ प्रकृति पर क्या प्रभाव डाला ? उसने धरातल पर क्या-क्या परिवर्तन किये ? उसकी अब कैसे उन्नति हो सकती है ? परन्तु अभी तक मेरी दृष्टि में यह प्रश्न नहीं आया कि "मनुष्य की आवश्यकता ही क्या है ?" या तो अभी तक इस युग के विद्वानों को यह प्रश्न सूझा नहीं है और आगे के युग में यह प्रश्न उठे। या उन्होंने जान-बूझ कर इसकी विवेचना नहीं की। उन्होंने यह बात स्वयं सिद्धि की भांति मान ली है कि मनुष्य है और रहेगा। चाहें

किसी की दृष्टि में उसकी आवश्यकता हो या न हो। इसलिये इस प्रश्न को उठाना ही व्यर्थ है।

म समझता हूँ कि प्राचीन लोगो ने धर्म को मनुष्य के गले से बधा हुआ पाया। जिस प्रकार नाक, कान, हाथ आदि अन्य अंग मनुष्य जन्म से ही अपने साथ लाया [illegible] प्रकार धर्म भी उसके साथ लगा हुआ था। यहीक रण है कि वतमान युग के मनुष्यो के अत्यन्त परिश्रम से भी धम संसार से निकल नहीं पाया। यदि एक रूप मे निकलता है, तो दूसरे रूप मे उपस्थित हो जाता है। यह वायु के समान व्यापक हो रहा है, वायु को एक स्थान से निकालने का यत्न कीजिये और दूसरे स्थान से दूसरा वायु वहाँ आ जायगा। आजकल के वैज्ञानिको ने चाहा कि धर्म की मुश्कें बांध कर संसार से बाहर फेंक देना चाहिये या जलाकर भस्म कर देना चाहिये। इस काम के लिये कलें तैय्यार की गईं, सेनायें इकट्ठी की गईं और अत्यन्त परिश्रम किये गये। कुछ वैज्ञानिको ने यह समझा कि हमको पूरी सफलता हो गई। न केवल हमने धर्म का वृक्ष ही नष्ट कर दिया किन्तु उसकी जड़ो को भी मट्ठा पिला दिया। अब यह कभी हरा भरा होने का ही नहीं। १९०१ ई० के जनवरी मास मे फ्रान्स देश के प्रसिद्ध विद्वान् बर्थोंले (Berthollet) ने एक व्याख्यान दिया था जिस मे उन्होंने बताया था।†

"अब धर्म के दिन चले गये। अब धर्म के स्थान पर विज्ञान का राज्य होगा।"

"प्राचीन युग मे दो शक्तियाँ थी जिनका प्रभाव जाति पर पड़ता था। एक बल और दूसरा धर्म। अब यह दोनों शक्तियाँ

† "The day of religion has passed and religion must now be replaced by science."

अनावश्यक हो गई क्योंकि इन दोनों का स्थान विज्ञान ने ले लिया।"†

रूस के प्रसिद्ध विद्वान् और तपस्वी कौएट लियो टौल्स्टोय (Count Leo Tolstoy) ने इस युग के भावों को प्रकट किया है:—

"धर्म का युग चला गया। विज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी बात पर विश्वास करना मूर्खता है। जिस किसी वस्तु की हम को आवश्यकता है वह सब विज्ञान से प्राप्त हो जाती है। मनुष्य के जीवन का प्रदर्शक केवल विज्ञान ही होना चाहिये।' यह विचार या कथन वैज्ञानिकों या उन साधारण मनुष्यों का है जिनको विज्ञान की तो गन्ध भी नहीं लगी परन्तु जिनका वैज्ञानिकों पर विश्वास है और जो वैज्ञानिकों के स्वर में स्वर मिला कर यह कहते हैं कि धर्म एक अनावश्यक ढोंग है और हमारे जीवन का प्रदर्शक केवल विज्ञान को ही होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवन का प्रदर्शक किसी को भी न होना चाहिये क्योंकि विज्ञान का स्वयं इतना ही उद्देश्य है कि उन सब वस्तुओं का अध्ययन करे जो वर्त्तमान हैं। इसलिये विज्ञान कभी मनुष्य के जीवन का पथ प्रदर्शक हो ही नहीं सकता।"‡

---

†"There were formerly two motors moving humanity : Force and Religion : but that these motors have now become superfluous, for in their place we have *science*."

‡"Religion is obsolete : belief in anything but science is ignorance Science will arrange all that is needful and one must be guided in life by science alone." This is what is thought and said both by scientists themselves and also by those men of the crowd who, though far from scientific, believe in the scientists and join them in asserting thet religion is an obsolete superstition and that

टॉल्स्टाय महोदय का तात्पर्य यह है कि जो धर्म को वहिष्कृत करके केवल विज्ञान (भौतिक विज्ञान) को ही अपने जीवन का पथ प्रदर्शक बनाना चाहते हैं वह बहुत बड़ी भूल करते हैं क्योंकि भौतिक विज्ञान केवल उन बातों की मीमांसा करता है जो वर्त्तमान काल मे उपस्थित हैं। वह जीवन की अगणित आने वाली समस्याओं के समाधान की योग्यता नही रखता क्योंकि वैज्ञानिक लोग स्वयं इन प्रश्नों को अपने अधिकार से बाहर समझते हैं।

टौल्स्टाय महाशय ने अपनी पुस्तक "धर्म क्या है ?" (What is Religion ?) मे एक विचित्र बात और दर्शायी है। वह यह कि जब कभी वैज्ञानिकों अथवा उनके अन्ध-विश्वासी अनुयायियों ने (जिस प्रकार धर्माधिकारियों के अन्ध-विश्वासी अनुयायी होते हैं इसी प्रकार वैज्ञानिकों के भी। इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं है) धर्म को वहिष्कृत करने का यत्न किया तो वह धर्म को वहिष्कृत न कर सके किन्तु एक नीच कोटि के धर्म के उपासक हो गये। यह बात इतिहास से भी सिद्ध होती है। वर्त्तमानकाल मे पाश्चात्य देशों में सभ्यता के नाम पर धर्म को वहिष्कृत करने का बहुत कुछ उद्योग हो रहा है। परन्तु वहाँ जो लोग धर्म को अन्ध विश्वास कह कर तिरस्कृत करते हैं सैकड़ों ऊटपटांग बातों पर विश्वास करने लग जाते हैं जिनका उच्च कोटि के धर्म अथवा विज्ञान से कोई भी सम्बन्ध नहीं हैं। भारतवर्ष मे भी हमने देखा है कि कई बड़े आदमी जो धर्म की बहुत सी बातों को ढोंग कह कर त्याग देते हैं मृत आत्माओं को बुलाने, उनसे भावी बातों के विषय में पूछने, उन पर विश्वास करने आदि भ्रम मूलक बातों में फँस जाते हैं।

---

we must be guided in life by science only : that is, in reality by nothing at all; for science, by reason of its very aim (which is to study all that exists) can afford no guidance for the life of man." (What is religion ?)

हम यहां टौल्स्टाय का कथन ही उद्धृत करते हैं:—

"यद्यपि कभी कोई समय या देश ऐसा नही था जब या जहां मनुष्य बिना किसी धर्म के रह सका हो, तथापि आजकल के विद्वानों का कथन और विश्वास है कि हम बिना धर्म के रह सकते हैं और हमको रहना चाहिये। परन्तु धर्म आजकल भी प्राचीनकाल के समान ही बना हुआ है अर्थात् वह मानवजाति का संचालक और हृदय है॥ जिस प्रकार बिना हृदय के मनुष्य जीवन असम्भव है उसी प्रकार बिना धर्म के भी मनुष्य जीवन असम्भव ही है। पहले भी भिन्न २ देशों मे भिन्न २ जातियों की उन्नति की अवस्था भिन्न २ होने के कारण अनन्त शक्ति, ईश्वर या देवी देवताओ के सम्बन्ध में मनुष्य के भाव भी बदलते रहे हैं परन्तु जब से मनुष्य (समझदार) हुआ है उस समय से आज तक न कभी वह धर्म के बिना रह सका और न रह सकता है।"

Though there never was an age when or a place where men lived without a religion, yet the learned men of to-day say, like Moliere's 'In voluntary Doctor' who asserted that the liver is on the left side : *Nous avons change toute cela* (We have changed all that), and they think that we can and should live without any religion. But nevertheless, religion remains what it has been in the past : the chief motor and heart of human societies : and without it, as without a heart, human life is impossible. There have been, and there are, many different religions—for the expression of man's relation to the Infinite and to God, or to the Gods, differs different times and in different places, according to the stages of development of different nations—but never in any society of men, since men first became rational creatures, could they live, or have they lived without a religion." (What is Religion.?)

फ्लिराट (Flint) ने अपनी 'आस्तिकता' नामी पुस्तक में लिखा है।

"वस्तुतः धर्म एक विशाल शक्ति है। सचमुच यह मानवी जीवन और मानवी इतिहास के समानान्तर चलता है। यह एक सन्दिग्ध बात है कि किसी देश या किसी समय के मनुष्य कभी विना धर्म के रहे हो। न केवल यही बात है कि जहाँ कहीं मनुष्य रहा वहाँ किसी न किसी प्रकार का धर्म अवश्य रहा अधिकन्तु उस ने उन मनुष्यों के जीवन पर भी बहुत बड़ा प्रभाव डाला। किसी जाति की सभ्यता उसके धर्म से सर्वथा रंगी होती है। कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान, दर्शन शास्त्र सभी पर और उनकी प्रत्येक अवस्था मे धर्म का प्रभाव देखा गया है।"†

कुछ लोगों का धर्म की व्यापकता पर विश्वास नहीं है। उन्होंने यह दिखलाने की कोशिश की है कि बहुत सी असभ्य जातियो के पास किसी प्रकार का धर्म नहीं था। मैक्समूलर महोदय ने अपनी पुस्तक "सायंस आफ् रिलीजन्स" (Science of Religions) मे इस प्रकार की कुछ साक्षियाँ दी हैं। जैसे कप्तान गार्डीनर (Gardiner) ने १८३५. ई० में जूलू (अफ्रीका की जंगली) जाति के लोगो मे जाकर निम्नलिखित वार्त्तालाप किया :—

---

†"Religion is certainly a very large phenomenon. It is practically co-extensive, indeed, with human life and history. It is doubtful if any people, any age, has been without some religion And religion has not only in some form existed almost wherever man has existed, but its existence has to a great extent influenced his whole existence. The religion of a people colours its entire civilization ; its action may be traced on industry, art, literature, science and philosophy in all their stages.(Flint's Theism page 4.)

† "क्या तुम को उस शक्ति का भी कुछ ज्ञान है जिस ने संसार बनाया है ? जब तुम देखते हो कि सूर्य्य निकला और डूबा, या वृक्ष उगे तो क्या तुम जानते हो कि इनको किसने बनाया और कौन इन पर शासन करता है ?"

"टपाई नामक एक जूलू ने विचार में निमग्न होकर और कुछ सोचकर उत्तर दिया "नहीं, हम इनको देखते हैं परन्तु यह नहीं जानते कि वह कैसे आ जाते हैं ? हमारा विचार है कि वह अपने आप आ जाते हैं।"

"तो तुम युद्ध की हार जीत का कारण किसको समझते हो ?"

"टपाई का उत्तर—जब हम हार जाते है और पशुओं को नहीं छीन पाते तो समझते हैं कि हमारे बाप इटोंगो ने हम पर कृपा दृष्टि नहीं की।"

प्रश्न—"क्या तुम समझते हो कि तुम्हारे बाप की आत्माओं (अमाटोंगो) ने संसार बनाया है ?"

---

† "Have you any knowledge of the power by whom the world was made ? When you see the sun rising and setting and the trees growing, do you know who made them and who governs them ?"

Tpai, zulu (after a little pause, apparently deep in thought)—"No , we see them, but cannot tell how they come, we suppose that they come of themselves."

A.—"To whom then do you attribute your success or failure in war ?"

Tpai—"When we are not successful and do not take cattle, we think our father (Itongo) has not looked upon us."

A.—"Do you think your father's spirits (Amatongo) made the world ?"

ट्पाई—नहीं

प्रश्न—क्या तुम जानते हो कि मनुष्य का आत्मा शरीर छोड़ कर कहां जाता है ?

ट्पाई—हम नहीं वता सकते।

प्रश्न—क्या तुम समझते हो कि वह सदैव रहता है ?

ट्पाई—हम नहीं वता सकते। हमारा विश्वास है कि जव हम लड़ाई पर जाते है तो हमारे पूर्वजों के आत्मा हमारे ऊपर कृपा दृष्टि रखते हैं। परन्तु अन्य किसी समय हमको इसका ध्यान नहीं आता।*

इससे कप्तान गार्डीनर ने यह परिणाम निकाला कि अफ्रीका की जूलू जाति के पास किसी प्रकार का भी धर्म नहीं है। यदि यह वात सच है तो हमारे उस कथन का खण्डन हो जाता है कि धर्म सर्वव्यापक है और मनुष्य जाति की प्रत्येक अवस्था में उसके साथ रहता है। परन्तु मैक्समूलर महोदय कप्तान गार्डीनर की साक्षी को विश्वसनीय नही समझते। वह कहते हैं कि एकाकी किसी श्वेत रंग के मनुष्य का असभ्य जातियो के मध्य मे जाकर विना उनकी वोली पर आधिपत्य प्राप्त किये हुये दो चार प्रश्नों के उत्तर से कोई

Tpai. : No.

A.—"Where do you suppose the spirit of man goes after it leaves the body ?"

Tpai.—"We cannot tell."

A.—"Do you think it lives for ever ?"

Tpai.—"That we cannot tell ; we believe that the spirit of our fore-fathers looks upon us when we go to war, but we do not think about it at any other time."

(Maxmuller's 'Science of Religion' pp. 44.)

परिणाम निकालना ठीक नहीं है क्योंकि बहुत सी असभ्य जातियाँ श्वेत रंगवालो से डरती हैं और उनके प्रश्नों का यथोचित उत्तर या तो दे नहीं सकती या देना नही चाहतीं। यह बात अधिकांश में ठीक है। न केवल असभ्य ही किन्तु भारतवर्ष की सभ्य जातियों के ग्रामीण पुरुष जिनको धर्म के विषय मे कम से कम इतना ही ज्ञान है जितना किसी ईसाई को हो सकता है अपने भावो को श्वेत रंग के मनुष्यों पर स्पष्टतया प्रकट करना नहीं चाहते। वह डरते हैं कि न जाने आगे इस साधारण वार्त्तालाप का क्या परिणाम निकले।

प्रोफेसर मैक्समूलर का यह विचार सत्य था क्योंकि रेवेरेण्ड डाक्टर कौलेवे (Callaway) नामी एक पादरी जूलू जाति के मध्य मे बहुत दिनों तक रहा और उसकी बोली को भली प्रकार बोलने तथा समझने लगा तो उसको मालूम हुआ कि जूलू जाति धर्म से शून्य न थी। उनका विश्वास है कि प्रत्येक घराने का एक पूर्वज था और फिर समस्त मानवजाति का एक पूर्वज था जिसका नाम उन्होने उनकुलकुलू (Unkulunkulu) बताया। 'उनकुलकुलू' शब्द का जूलू भाषा का अर्थ है 'प्रपितामह'। सम्भव है इस शब्द को कोई दूरस्थ सम्बन्ध संस्कृत के 'कुल' शब्द से हो। जब उनसे पूछा गया कि 'उनकुलंकुलू' का बाप कौन था तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'वह बांस में से निकला था' (branched off from a reed) जूलू भाषा में 'बांस' के लिये 'उथलङ्ग (Uthlanga) शब्द है। बाप को सन्तान का 'उथलङ्ग' कहते हैं क्योंकि जैसे बांस मे से कुल्ले फूटते हैं इसी प्रकार बाप से सन्तान की उत्पत्ति होती है। डाक्टर कौलैवे का विचार है कि 'उथलङ्ग' का वास्तविक अर्थ कोई और होगा। अब लोग उस अर्थ को भूल गये। केवल शब्द शेष रह गया। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि सम्भव है कि जिस प्रकार संस्कृत का 'वंश' शब्द 'बांस' और 'कुल' दोनों अर्थों में

आता है। इसी प्रकार की कुछ गड़बड़ 'उथलङ्ग' शब्द के साथ भी हुई है।

डाक्टर कौलैवे से एक जूलू ने कहा कि यह ठीक नहीं है कि हमने स्वर्गीय राजा का नाम पहले-पहल गोरे आदमियो से सुना हो। गर्मियों मे जब बादल गरजता है तो हम कहते हैं 'राजा (ईश्वर) खेल रहा है'। यदि कोई डरता है तो बड़े लोग उससे कहते हैं "तुम क्यो डरते हो ? तुम ने राजा (ईश्वर) का क्या खाया है ?" एक दूसरे बुड्ढे आदमी ने कहा कि जब हम बच्चे थे तो यही सुना करते थे कि 'राजा स्वर्ग मे हैं (The king is in Heaven.)"। हम अपने बचपने मे यही सुना करते थे कि राजा ऊपर है। हम उसका नाम नही जानते। हमने केवल यही सुना था कि राजा ऊपर है। हमने यह भी सुना था कि संसार का पैदा करने वाला उम्दबूको (Umdabuko) राजा है, जो ऊपर है।"

एक बुड्ढी स्त्री ने कहा "जब हम पूछते थे कि अन्न कहां से आता है तो वृद्ध जन कहते थे 'जिसने सब संसार बनाया उसी ने अन्न भी बनाया। परन्तु हम उसका नाम नही जानते' जब पूछा जाता कि 'ईश्वर कहां है। हम उसको क्यो नहीं देखते ?' तो वृद्ध लोग उत्तर देते 'वह स्वर्ग में है, वह राजों का राजा है,' जब कोई पशु बिजली से मर जाता तो लोग कहते 'दैव उसको गांव से ले गया'।

एक और बुड्ढे आदमी ने बताया "हमारे पूर्वजों का विचार ऐसा था कि एक उनकुलंकुलू है जो आदमी है और पृथ्वी पर रहता है और एक राजा है जो स्वर्ग मे रहता है, और जीवन का मूल स्वर्ग मे है। यही मनुष्यों को जीवन देता है," पहले लोगों का विचार था कि राजा मेंह बरसाता है, वही सूरज निकालता है। वही चांद

निकालता है जिसकी रात मे सफेद रोशनी होती है। जिससे मनुष्य चल सकें और उनको हानि न पहुँचे"।

जब किसी पशु पर बिजली पड़ जाती तो बिना दुख प्रकट किये हुये लोग कहते "राजा ने इसे अपने खाने के लिये मारा है। क्या तुम्हारा है? क्या यह राजा का नहीं है। वह भूखा है। इस लिये वह अपने लिये मारता " जब कोई आदमी बिजली से मरता तो लोग कहते "राजा ने इसको अपराधी समझा है।"

संसार के रचयिता का जूलू भाषा का नाम "इटोंगों (Itongo) भी है। एक जूलू ने कहा। "इटोंगो का यह अर्थ नहीं है कि वह कोई आदमी हो और मर कर उठा हो। इटोंगो का अर्थ है वह शक्ति जो पृथ्वी को धारण किये हुये है जिस पर मनुष्य और पशु चलते हैं। पृथ्वी हमारा आधार है क्योंकि हम उस पर रहते हैं। परन्तु पृथ्वी का भी एक आधार‡ है जिसके सहारे हम जीते हैं, जिसके बिना हम नहीं जी सकते और जिसके कारण हम जीते हैं"।

इस पर मैक्समूलर महोदय टिप्पणी लगाते हैं।

†"इस प्रकार हम को पता लगता है कि जिस जाति को हम धार्मिक जीवन और ईश्वर सम्बन्धी विचारों से सर्वथा शून्य समझते थे उसमें भी धर्म के बहुत से आवश्यक अंग उपस्थित हैं—अर्थात् अगोचर ईश्वर पर विश्वास, जो सब का रचयिता है, स्वर्ग मे रहता है, मेंह, ओला और बिजली भेजता है, अपराधियों को दण्ड देता है और हज़ारों पहाड़ियों पर पशुओ में से अपने लिये बलि लेता है। इससे प्रकट होता है कि हमको जंगली जातियों

---

‡वेद में कहा है "सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्", ईश्वर इस पृथ्वी और द्यौलोक का आधार है।

†"Thus we find among a people who were said to be without any religious life, without any idea of

के धर्म-शून्यता के विषय में निषेधात्मक साक्षी स्वीकार करने में कितना सावधान होना चाहिये।"

हमने इन पृष्ठों में यह दिखलाने का यत्न किया है कि मानवी इतिहास की साक्षी के अनुसार संसार में कोई जाति कभी बिना धर्म के नहीं रही और न अब रह सकती है। धर्म की भूख मनुष्य मात्र के हृदय मे है। जिस प्रकार भूखे आदमी कभी उचित और कभी अनुचित खाने से भी पेट भर लेते हैं इसी प्रकार कभी-कभी जातियां और व्यक्ति अपनी धर्म की भूख को उन चीजों से भी बुझाने का यत्न करते हैं जो वस्तुतः उनके लिये हानिकारक हैं। परन्तु जिस प्रकार बिना खाये मनुष्य रह नहीं सकता इसी प्रकार बिना धर्म के कोई जाति रह नहीं सकती। अकाल से पीड़ित मनुष्य रेत तक फांक जाते हैं। भूखी मातायें कभी कभी अपने बच्चो को भून कर भी खा जाती हैं। भूख के समय सभ्य जातियां भी इष्ट मित्रों को मारकर खा जाती हैं। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यदि उत्तम भोजन मिलता तो भी वह ऐसा ही करतीं या अनुचित भोजन उनको हानि नहीं पहुँचाता। इससे हानि तो होती ही है परन्तु पेट नहीं मानता। उस खाली स्थान की पूर्त्ति के लिये कुछ तो चाहिये ही। इसी प्रकार धर्म की भूख से पीड़ित मनुष्य सत्य-धर्म की अनुपस्थिति मे अनेक रोमांचकारी साधनो से

---

a Divine power, that some of the most essential elements of religion are fully developed—a belief in an invisible God, the creator of all things, residing in heaven, sending rain and hail and thunder, punishing the wicked and claiming his sacrifice from among the cattle on a thousand hills. This shows how careful we should be before we accept purely negative evidence of the religion or the absence of all religion among savage tribes." (The science of Religion p. 186.)

धर्म की प्यास को बुझाने का यत्न करता है और उनसे हानि भी उठाता है। परन्तु इसमे सन्देह नही कि वह बिना धर्म के किसी काल के लिये भी जीवित नही रह सकता।

यह मनोविज्ञान का एक अखण्डनीय सिद्धान्त है कि जिस प्रकार मछली पानी के बाहर नहीं रह सकती उसी प्रकार साधारण मनुष्य भी किसी प्रकार के धर्म के बाहर नहीं रह सकता। (मेडम ब्लेवेट्सका)†

आजकल धर्म से लोग क्यों घृणा करते हैं ? इसके दो मूल कारण हैं। एक तो धर्म के नाम पर अत्याचार दूसरा फैशन अथवा अन्धानुकरण। जब विचारशील मनुष्य देखते हैं कि धर्म के नाम पर आये दिन सहस्रों उपद्रव होते रहते हैं। लोग जीवित जला दिये जाते हैं, सैकड़ो पशुओं की हत्या होती है, जातियां एक दूसरे के रुधिर की प्यासी हो जाती है, मानवी जीवन की शांति भंग हो जाती है तो उनको धर्म से एक प्रकार की घृणा हो जाती है। परन्तु उनकी यह घृणा उसी प्रकार की है जैसे कोई भूखे को रेत फांकता देख कर भोजन से घृणा करने लगे और कहना आरम्भ करदे कि भोजन के कारण इतने उपद्रव होते हैं कि अब मनुष्य को भोजन करना ही त्याग देना चाहिये। वस्तुतः उसका कर्तव्य तो यह था कि रेत फांकने वाले से कहता कि रेत उपयुक्त भोजन नही है। इसके स्थान पर रोटी खाओ। वस्तुतः यदि हम विचार करके देखें तो धर्म के नाम पर जो सैकड़ों अत्याचार होते हैं उनका मूल कारण

---

† "It is one of the most undeniable facts of psychology that the average man can as little exist out of a religious element of some kind, as a fish out of the water." (M. Blavatsky's Isis Unvieled vol. 2. page 25.)

धर्म नहीं किन्तु अधर्म है जो धर्म का भेष बनाकर इतने अत्याचार करा रहा है। कल्पना कीजिये कि मै अपने किसी शत्रु को परास्त करना चाहता हूं। मुझे मेरे साथी सहायता नही देते। यदि मैं उनके अज्ञान का लाभ उठाकर उनको उत्तेजित कर दूं कि उसका मारना धर्म है तो वह शीघ्र मेरी सहायता करने के लिये तैयार हो जायँगे। इतिहास इसका साक्षी है। औरङ्गजेब अपने भाई दारा को मारना चाहता था। वह अपनी इच्छा की पूर्ति में उस समय तक सफल नही हुआ, जब तक उसने यह कहना आरम्भ नहीं किया कि दारा धर्म का शत्रु है। वस्तुतः यहाँ धर्म नही किन्तु स्वार्थ ही युद्ध का कारण था। स्पेन और पुर्तगाल वाले चाहते थे कि दक्षिणी अमेरिका की जंगली जातियो का नाश करके स्वयं वहां रहने लगें। इसके लिये कोई बहाना चाहिये था। जंगली जातियां इनका कुछ नहीं बिगाड़ती थीं। आरम्भ मे उन्होंने उनको पाहुना समझ कर उनकी शुश्रुषा भी की थी। ऐसे भले आदमियों के नाश के लिये कोई बहाना ढूढ़ना आवश्यक था। अतः एक बार यहां की इङ्का जाति के एक सर्दार के पास एक पादरी गया और अपनी इञ्जील उसके हाथ मे देकर कहने लगा "तुम को इसका कहना मानना चाहिये।" उस सर्दार ने किताब को अपने कान के पास रक्खा और यह कह कर फेंक दिया कि "यह तो कुछ नहीं कहती। मै इसकी क्या बात मानू ?" बस फिर क्या था? यार लोगो को बहाना हाथ लग गया, "तुमने हमारे धर्म ग्रन्थ का अपमान किया है। तुम को दण्ड मिलेगा।" सभ्य गोरी जाति उन पर टूट पड़ी और अपने अस्त्र शस्त्रो से उस जाति का बीज नाश कर दिया। अब मैं पूंछता हूं कि इस उपद्रव का मूल कारण धर्म था या स्वार्थ। आजकल भारतवर्ष में हिन्दू मुसल्मानों मे धर्म के नाम पर नित्य प्रति झगड़े होते रहते हैं। मुसल्मान कहते हैं कि

कि यदि तुमने मस्जिद के सामने बाजा बजाया तो हम तुम्हारा सिर फोड़ देंगे ? क्यों ? इसलिये कि बाजे से हमारी नमाज़ में विघ्न होता है। अब मै पूछता हूं कि क्या इस उपद्रव का कारण नमाज़ है ? कदापि नहीं। जो नमाज़ द्वारा ईश्वर का ध्यान करने बैठते हैं उन विचारो को यह भी पता नही लगता कि मस्जिद के सामने होकर मोटर निकली या बाजा बजा। हां जो नमाज़ आरम्भ करने से पहले इसी खोज मे लगे रहते हैं कि देखें कोई हिन्दू बाजा तो नही बजाता उनको नमाज़ पढ़ने या ईश्वर का ध्यान करने का अवसर भी नहीं मिल सकता। नमाज़ वस्तुतः बहाना है स्वार्थ या ज़िद का।

आये दिन मन्दिरों मस्जिद के हैं झगड़े रहते।
दिल में ईंटें हैं भरी, लब पै ख़ुदा होता है॥

दूसरी बात यह याद रखनी चाहिये कि न केवल धर्म के नाम पर ही उपद्रव होते हैं किन्तु राजनीति के नाम पर भी सैकड़ो उपद्रव होते हैं। रोटी के नाम पर सैकड़ो झगड़े चलते हैं। यदि न्यायालयों या कारागारो में जाकर देखो तो ९९ प्रति शतक उदाहरण ऐसे ही मिलेंगे जिनमे उपद्रवों का कारण न धर्म था, न धर्म का बहाना। सैकड़ों जातियो के युद्ध धर्म के लिये नहीं किन्तु राजनीति के लिये होते हैं।

१९१४ का यूरोप का महायुद्ध ऐसी जातियों के बीच मे था जो एक ही धर्म को मानती थीं। यदि धर्म का बहाना करके किसी मन्दिर आदि मे सैकड़ो बकरे या भेड़े चढ़ाये जाते हैं तो विज्ञान का बहाना करके बायलोजी की प्रयोग शाला में लाखो जीव जन्तुओं का नित्य-प्रति ही प्राणान्त किया जाता है। और भोजन का बहाना करके करोड़ो पशुओं की गर्दनों पर नित्य छुरी चलाई जाती है। परन्तु कोई नही कहता कि जिस राजनीति के कारण

इतने अत्याचार होते हैं उसको त्याग देना चाहिये। यदि तुम कहो कि सच्ची राजनीति ऐसा नहीं करती यह झूठी राजनीति है जो इतने उपद्रवों का कारण होती है, तो हम भी ऐसा कह सकते हैं कि सच्चा धर्म उपद्रवों का कारण नहीं किन्तु झूठा धर्म ही ऐसा है।

धर्म के लिये घृणा का दूसरा कारण फैशन है, "महाजनो येन गत: स पन्था !" जो बात बड़े लोग कहें उसी को सर्वसाधारण भी कहने लगते है। एक बड़े आदमी ने कहा "धर्म के ढकोसले को छोड़ो। इससे उपद्रव होता है।" तो अन्य साधारण लोग भी यह सोचकर कि बड़े बनने का यही उपाय है उसी बात को अधिक वेग से दुहराने लगते है। यद्यपि आजकल के मौलिक वैज्ञानिक धर्म सम्बन्धी बातों पर किसी प्रकार की आलोचना नहीं करते। वह समझते हैं कि धर्म सम्बन्धी बातें उनके कार्य्य क्षेत्र से बाहर हैं, तथापि पहले कुछ वैज्ञानिकों ने धर्म को तिरस्कृत दृष्टि से देखा था, इसलिये कालिजों, विश्वविद्यालयों और उच्च संस्थाओं के सचालक अब भी उसी लकीर को पीटते जाते हैं और विद्यार्थिवर्ग उनकी हां मे हां मिला कर वैसा ही कहने लगता है। जब किसी कालेज का प्रिन्सिपल या प्रोफेसर कहता है कि "ईश्वर प्रार्थना ढोंग है" तो लड़के भी बिना विचारे यही समझते हैं कि अवश्य यही बात ठीक है।

हमने अब तक यह दिखाने का यत्न किया है कि धर्म एक सर्वव्यापक वस्तु है। हमारे पाठकगण कहेंगे कि तुमने धर्म के लक्षण तो किये ही नहीं। वस्तुत: हमने जानबूझ कर अब तक ऐसा नहीं किया। लक्षण वह है जिसमे अति व्याप्ति और अव्याप्ति दोष न हों। अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति की जांच करने से पहले उस वस्तु से परिचय होना चाहिये। इसलिये हमने 'धर्म' के नाम

से परिचय करा दिया। थोड़ा बहुत धर्म के विषय में सभी को ज्ञान है चाहे वह धर्म के पक्षपाती हों या उसके विरुद्ध। कम से कम उतना तो अवश्य है जितना तीन चार वर्ष के बच्चे को गाय का होता है। वह जानता है कि गाय क्या वस्तु है। वह गाय के पहचानने में कभी त्रुटि नहीं करता। हां, वह गाय के विषय में अन्य आवश्यक बातें नहीं जानता। इसी प्रकार थोड़ा बहुत सभी जानते हैं कि अमुक बात धर्म सम्बन्धी है और अमुक नहीं। रही गूढ़ बातें सो किसी कवि ने ठीक ही कहा है कि

धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्।

अर्थात् धर्म का तत्व अत्यन्त है गूढ़। इसका विवेचन हम आगे करेंगे।

धर्म संस्कृत शब्द है। संस्कृत साहित्य में इसके अनेक अर्थ हैं जिनसे हमारा प्रयोजन नहीं है, जैसे उदाहरण के लिये योग दर्शन में पतञ्जलि मुनि धर्म के विषय में कहते हैं:—

योग्यतावच्छिन्ना धर्मिणः शक्तिरेवधर्मः।

अर्थात् धर्मी (जिसका धर्म हो) की योग्यतायुक्त शक्ति ही धर्म है। जैसे आग का धर्म जलाना है। वह नष्ट हो जाती है तो राख रह जाती है उसको कोई आग नहीं कहता। यहाँ धर्म का अर्थ है धारण करनेवाला (धरतीति धर्मः)। इसी अर्थ का आशय महाभारत में पाया जाता है:—

धारणाद्धर्मनित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।
यत् स्याद् धारणसयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥

धारण करने से इसका नाम 'धर्म' पड़ा। धर्म प्रजा को धारण करता है। जिससे धारण होता हो वह निश्चय करके 'धर्म' है। धर्म के विपक्षी कहेंगे कि यदि धर्म का इतना विस्तृत अर्थ लेते हो तो

हम तुम्हारे सिद्धान्तो को न मानते हुये भी धर्म के विरुद्ध नहीं हैं क्योंकि यहां मनुष्यत्व का पर्य्याय ही धर्म है। उनका यह आक्षेप ठीक है क्योंकि उनको मनुष्यत्व से तो विरोध नही है।

इसी प्रकार यदि मनु जी के कहे हुये धर्म के दस लक्षण बताये जायँ जैसे—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

तो इन लक्षणो की उपयोगिता को नास्तिक से नास्तिक भी स्वीकार कर लेगा। फिर भी झगड़ा वही का वही रहा।

यदि धर्म के यह लक्षण किये जायँ कि

वेदप्रतिष्ठितं कर्म धर्मस्तन्मङ्गलं परम्।
प्रतिषिद्ध क्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म उच्यते ॥

"अर्थात् वेद विहित परम मङ्गलकारी कर्म ही धर्म है और उसके विपरीत अधर्म" तो इस पर वेदो पर विश्वास न रखने वाले लड़ पड़ेंगे। वह कहेंगे कि न तो तुम्हारा इस लक्षण वाला धर्म व्यापक ही है और न इससे हमारी संतुष्टि ही होती है। इसी प्रकार मनुजी का कहा हुआ श्लोक है।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्‌ धर्मस्य लक्षणम् ॥

यहां भी श्रुति और स्मृति पर ही बल दिया गया है जो सर्व-मान्य नही है।

वैशेषिकाचार्य मुनि के कहे हुये

यतोऽभ्युदय निःश्रेयः सिद्धिः स धर्म्मः।

(अर्थात् जिससे लोक और परलोक की सिद्धि हो वह धर्म है) से कुछ काम चलता है परन्तु परलोक पर बहुत से लोग विश्वास नहीं करते।

फिर एक बात और है। धर्म शब्द के कई और अर्थ भी हैं जो हमारे विषय से कुछ सम्बन्ध नहीं रखते। जैसे 'मासिक धर्म' में धर्म का अर्थ ही 'नियम' है। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य में अनेक स्थानों में 'धर्माध्यक्ष' शब्द आता है। यहाँ धर्म का अर्थ केवल 'दान' या 'दान विभाग' है।

इसलिये हम 'धर्म' शब्द को प्रायः उसी अर्थ में प्रयुक्त करते हैं जिस में अङ्गरेजी का 'रिलीजन' (Religion) या फ़ारसी का मज़हब (مذہب) शब्द आता है। बहुत से लोगों की सम्मति है और कई अंशों में ठीक सम्मति है कि संस्कृत के धर्म शब्द का पर्य्याय रिलीजन या मज़हब नहीं है। और न रिलीजन या मजहब का उचित पर्य्याय संस्कृत या हिन्दी भाषा में मिलता ही है। तथापि आजकल धर्म और रिलीजन समानार्थ हो गए हैं। साधारण जनता ही नहीं अधिकन्तु विद्वान् लोग भी इनको पर्य्याय के समान समझने लगे हैं। अतः हम भी यहां 'धर्म' का यौगिक अर्थ न लेकर रूढि या योगरूढि अर्थ लेते हैं और ऊपर के पृष्ठों में हम ने जहां कहीं धर्म शब्द का प्रयोग किया है इसी अर्थ में किया है और इसी के अनुसार हम धर्म का लक्षण भी स्वयं अपना ही करेंगे।

मनुष्य का अपने से किसी उच्च अदृष्ट शक्ति पर विश्वास और उस विश्वास से प्रभावित व्यापार धर्म कहाता है। इस लक्षण के अनुसार धर्म एक सर्वव्यापक वस्तु है। यह सभ्य से सभ्य और असभ्य से असभ्य जाति में पाया जाता है। मानव-जाति की कभी कोई ऐसी अवस्था नहीं हुई जब मनुष्य ने अपने से उच्च किसी शक्ति पर विश्वास न किया हो या उस विश्वास ने उसके जीवन पर कोई भी प्रभाव न डाला हो। कभी कभी ऐसा तो हुआ है कि कुछ विद्वान् व्यक्तियों ने ऐसी सत्ता के मानने से विरोध

किया हो और अपने मत के पक्ष मे युक्तियां भी दी हो परन्तु उनके व्यवहार से यही झलकता रहा कि वह किसी ऐसी शक्ति को मानते हैं। और वस्तुतः यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो पता लगेगा कि उनकी जीवन-यात्रा भी उन नियमो के आधार पर चलती रही जो इस प्रकार के विश्वास के कारण संसार में व्यापक हो गये। उदाहरण के लिये जैनियों का लीजिये। जैनी लोग ईश्वर को नहीं मानते। परन्तु उनके मन्दिर, उनकी पूजा की विधि, उनके चाल-चलन, उनके रीति व्यवहार, उनके सदाचार सम्बन्धी नियम सभी यह सूचित करते हैं कि उनको किसी ऐसी शक्ति पर विश्वास है जो मनुष्य जाति से उच्च है। सम्भव है कि उसके गुण सर्वथा वही न हो जो ईश्वर के माने जाते हैं। बहुत से मनुष्य है जिनकी समझ मे पृथ्वी की आकर्षणशक्ति नहीं आती। परन्तु आकर्षणशक्ति इतनी व्यापक है कि वह उन लोगों के आचार व्यवहार पर भी प्रभाव डालती है। इसी प्रकार आस्तिकता अर्थात् किसी उच्च शक्ति पर विश्वास संसार मे इतना व्यापक हो गया है कि थोड़े से नास्तिकों के व्यापार पर भी वह प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। जो लोग यह मानते हैं कि पृथ्वी की आकर्षणशक्ति के बिना भी उनका काम चल सकता है और उनके चलने फिरने मे किसी प्रकार की बाधा नहीं आती उनको ऐसे स्थान पर जीवन व्यतीत करके दिखाना चाहिए जहाँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति काम न करती हो। इसी प्रकार जो लोग यह मानते हैं कि आस्तिकता अथवा धर्म के प्रभाव के बिना भी हम मानवी जीवन को सदाचारयुक्त, यथेष्ट और सुखपूर्वक बना सकते हैं उनको ऐसी मानवी जाति का निर्माण करना चाहिये जो सर्वथा धार्मिक अथवा आस्तिकता के प्रभावों से वंचित हो। परन्तु जैसे वह स्थान ढूंढ़ना असम्भव है जहां पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति बिलकुल न हो इसी प्रकार ऐसी सोसाइटी बनाना भी असम्भव

है जो धार्मिक प्रभावो से सर्वथा मुक्त हो। बहुत से लोग डींगें मारा करते है कि धर्म के विना भी हम सत्य, अस्तेय, आदि सदाचार सम्बन्धी नियम पाल सकते हैं। परन्तु यह उनकी डींग व्यर्थ हो जाती है जब हम यह सोचते हैं कि जिस समाज में वह रहते है उसमे धर्म सम्बन्धी नियम पहले से ही व्यापक हो रहे है। जिस प्रकार किसी सुप्रबन्धयुक्त राज्य मे रह कर कोई यह डींगें मारे कि मै विना पुलिस की सहायता के भी रह सकता हूं तो उसकी यह डींग व्यर्थ होगी क्योंकि पुलिस का लोगो पर इतना प्रभाव पड़ा हुआ है कि लोग चोरी करते हुये डरते हैं। उसी प्रकार उन लोगो का हाल है कि आस्तिकता या धर्म के प्रभाव के बीच मे रहते हुये अपने को उस प्रभाव से मुक्त बताने का साहस करते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि धर्म एक व्यापक विषय है। धर्म का मुख्य अङ्ग 'आस्तिकता' अर्थात् किसी "मनुष्य से अधिक उच्च शक्ति पर विश्वास" है। यह विश्वास चाहे भूतो पर हो चाहे प्रेतो पर। चाहे निराकार पर हो चाहे साकार पर। चाहे सर्व-व्यापक पर हो चाहे एक देशीय पर। चाहे दयालु शक्ति पर हो चाहे क्रूर शक्ति पर। परन्तु है अवश्य। इसलिये यह कहना पड़ता है कि 'आस्तिकता' भी एक सर्व-व्यापक वस्तु है। यह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के मनुष्यो मे पाई जाती है। हम आगे के पृष्ठो मे यह दिखलाने का यत्न करेंगे कि आस्तिकता का भाव भ्रम है या सत्य। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि कोई इस भाव के अस्तित्व से इनकार नहीं कर सकता।

यहाँ दो आक्षेप शेष रहते हैं उनका निराकरण भी इसी स्थान पर होना उचित है। प्रथम तो यह है कि यदि आस्तिकता सर्व-व्यापक है तो आस्तिकों का एक भाग दूसरो को नास्तिक क्यो कहता है। दूसरा आक्षेप यह है कि यदि आस्तिकता सर्वव्यापक है तो आस्तिक लोग उसके प्रचार का क्यों प्रयत्न करते हैं।

पहला आक्षेप करने वालो का तात्पर्य यह है कि आस्तिकों का एक समूह दूसरो की न केवल निन्दा ही करता है किन्तु उनको नास्तिक भी मानता है। मुसलमान लोग ईश्वर को मानते है परन्तु सभी इतर लोगो को काफ़िर कहते हैं। यही ईसाइयों का हाल है। हिन्दू लोग भी केवल हिन्दुओं को ही आस्तिक मानते हैं। मनुजी महाराज तो कहते हैं।

नास्तिको वेद निन्दकः

फिर यही नहीं। मुसलमानों का एक फ़िर्का दूसरे मुसलमान फ़िर्कों का नास्तिक बताता है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी सत्यार्थ प्रकाश मे नवीन वेदान्तियो को नास्तिक कोटि मे रखते हैं। इस प्रकार यदि एक निष्पक्ष नास्तिक आस्तिको के विषय में खोज करने लगे तो प्रत्येक आस्तिक को नास्तिक सिद्ध करने में ९९ आस्तिको की साक्षी होगी। इस प्रकार जो लोग कहते हैं कि आस्तिकता मानव-जाति के साथ समान व्यापी है उनकी प्रतिज्ञा असत्य ठहरेगी।

यह आक्षेप इतना बलिष्ठ नहीं है जितना देखने में प्रतीत होता है। हमने आस्तिकता के लक्षण ऊपर दिये हैं जिनमे अति व्याप्ति अव्याप्ति आदि दोष नहीं हैं अर्थात् "मनुष्य का अपने से उच्च किसी, अदृष्ट शक्ति पर विश्वास करना और उस शक्ति से अपने कार्य्यों को प्रभावित होने देना ही धर्म है"। और इस लक्षण का पूर्व भाग अर्थात् 'ऐसी शक्ति पर विश्वास' आस्तिकता है। यदि इस लक्षण पर ध्यान-पूर्वक दृष्टि रक्खी जाय तो सभी जातियाँ 'आस्तिक' की कोटि मे आ जायगी। जब एक धर्म वाले दूसरे धर्म वालो को नास्तिक कहते है तो उनका तात्पर्य कुछ और होता है। वहां वह 'आस्तिकता' शब्द के भीतर उन छोटी से छोटी बातो को भी सम्मि-लित कर लेते हैं जिनको वह करते या मानते है। प्रत्येक पुरुष को

अधिकार है कि वह विशेष शब्द का अपने लेखो मे क्या अर्थ ले। उदाहरण के लिए 'मनुष्य' शब्द पर विचार कीजिये। असभ्य से असभ्य जातियाँ भी सामान्य अर्थ मे 'मनुष्य' कहलाती हैं। परन्तु यदि 'मनुष्य' का अर्थ 'विचारशील' का किया जाय और 'विचारशील' शब्द का भी एक विशेष अर्थ लिया जाय तो ससार मे दो चार मनुष्य ही मिलेंगे। शेष को किस नाम से पुकारा जाय यह जानना कठिन होगा।

दूसरा आक्षेप यह है कि यदि आस्तिकता इतनी ही सर्व व्यापक वस्तु है तो आस्तिक लोग पैर फैला कर सोवें। उनको क्या ज़रूरत है कि नास्तिकों का खण्डन किया करें। इसका उत्तर एक प्रकार से हमारे पहले पृष्ठो मे आ गया है। हम यह मानते हैं और इतिहास भी यही सिद्ध करता है कि मानव-जाति मे आस्तिकता का बीज रूप है। परन्तु उसका प्रादुर्भाव भिन्न भिन्न स्थानो और देशो मे भिन्न भिन्न दिखाई पड़ता है। अग्नि सर्वव्यापक है परन्तु उससे काम लेने के लिए उसके विशेष प्रादुर्भाव की आवश्यकता होती है। जिस कागज़ पर लिखता हूँ उसमे भी अग्नि उपस्थित है परन्तु उस अग्नि से मेरा खाना नहीं पक सकता। इसी प्रकार यह भाव तो प्रत्येक मनुष्य के हृदय मे पाया जाता है कि मुझ से उच्च कोई शक्ति संसार मे उपस्थित है। परन्तु यही भाव भिन्न भिन्न मनुष्यो के हृदयो मे भिन्न भिन्न स्थितियाँ उत्पन्न करता है। वह शक्ति क्या है? उसमे क्या गुण है? उसका स्वाभाव कैसा है? उस शक्ति का हमारे कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ता है? उस शक्ति का हमारे साथ क्या सम्बन्ध है? हमे उसको सन्तुष्ट करने की आवश्यकता है या नहीं? इन प्रश्नो पर भिन्न भिन्न मत है और इस भिन्नता का परिणाम यह है कि जो आस्तिक एक दूसरे के मित्र होने चाहिये थे परस्पर शत्रु हो रहे है। एक आस्तिक कहता है कि उस शक्ति को सन्तुष्ट करने के लिये गाय की कुर्बानी करनी चाहिये। दूसरा कहता

है कि मनुष्य की भी कुर्बानी करनी चाहिये। तीसरा कहता है कि यदि तुमने जान बूझ कर एक चींटी की भी हत्या की तो वह शक्ति तुम से महारुष्ट हो जायगी। एक कहता है कि यह शक्ति अदृष्ट है अतः हम उसकी काल्पनिक मूर्त्तियाँ बना कर पूजेंगे और अपने तन मन और धन को उसी के अर्पण कर देंगे। दूसरा कहता है कि उस अदृष्ट शक्ति की मूर्त्ति बनाना और उसके आगे सिर झुकाना महान् पातकों में से एक है। इतने भिन्न भिन्न मत क्यों है ? केवल इस लिये कि उस अदृष्ट शक्ति के विषय में भिन्न भिन्न प्राणी भिन्न भिन्न विचार रखते है। वह उस शक्ति से छुटकारा तो पा नहीं सकते। क्योंकि उसका भाव बीज मात्र प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। केवल आगे के लिये विचार नहीं करते या भिन्न भिन्न प्रकार से विचार करते है।

फिर यह सोचिये कि नास्तिक लोग क्या करते है। वह एक आस्तिक के मत के द्वारा दूसरे आस्तिक के मत का खण्डन करते है और इस प्रकार चाहते है कि आस्तिकता से छुटकारा पा जायँ। परन्तु आस्तिकता मृत्यु पर्य्यन्त उनका पीछा नही छोड़ती, वह डींग मारा करें कि हम अपने से उच्च किसी शक्ति पर विश्वास नहीं करते। परन्तु जब मरने का समय आता है और वह अपनी इच्छा के विरुद्ध अपने प्रिय परिवार, प्रिय धन और प्रिय शरीर से निकलने पर मजबूर हो जाते हैं तो उनको अनुभव हुये बिना नहीं रहता कि हमसे भी ऊपर एक शक्ति है जिसके सामने हमारी कुछ नहीं चलती। कहते है कि ब्रैडला (Bradlaugh) महाशय जो इङ्गलैण्ड के बहुत बड़े नास्तिक थे और जिन्होंने एक समय मिसिस बीसेण्ट की सहकारिता में एक "नास्तिकता प्रचारिणी सभा" खोली थी जब मृत्यु शय्या पर पड़े तो उनको यह अनुभव होने लगा कि मैं एक अदृष्ट शक्ति की ओर खिंचा जा रहा हूं। यदि

जीवन में उनको इसका अनुभव हो जाता तो वह शक्ति के विषय में अधिक सोच सकते। परन्तु उनको इसका अनुभव ऐसे समय हुआ जब कुछ बन न पड़ता था।

अब पछताये का होत जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।

आस्तिकों के परस्पर झगड़ो ने भी नास्तिकता का कुछ प्रचार किया है। पर बुद्धिमानों का यह काम नहीं है कि बिना सोचे विचारे जिस वस्तु का दोष है उसको दूषित न कह कर अन्य वस्तुओं को भी दूषित कहने लगे। कल्पना कीजिये कि मैं जिस होल्डर से लिख रहा हूं उससे बुरा लिखा जाता है। क्योंकि उसका निब बुरा है। मुझे चाहिये कि केवल निब को बदल डालूं। यदि ऐसा न करके मैं समस्त होल्डर को तोड़ डालूं तो मेरी मूर्खता होगी। इसी प्रकार यह देखना चाहिये कि आस्तिकों के परस्पर झगड़ों का मुख्य कारण क्या है और उसी कारण को दूर करने का यत्न करना चाहिये। जो वैद्य रोग के निवारण का उपाय यही समझता है कि रोगी को भी समाप्त कर दिया जाय उससे अधिक मूर्ख कौन होगा ?

अब तक हमने केवल यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि धर्म भाव या आस्तिक भाव सभी मनुष्यों में बीज रूप से विद्यमान है। आगे के पृष्ठों में हम प्रमाण देंगे कि वस्तुतः आस्तिकता का भाव ठीक है। यह भ्रम नहीं है।

दूसरा अध्याय

मनुष्य अल्प है

काउण्ट टौल्स्टाय ने अपनी "धर्म क्या है" (What is Religion) नामक पुस्तक में लिखा है कि 'Every religion regards men as equally insignificant compared to Infinity' अर्थात् प्रत्येक धर्म मे यह माना गया है कि अनन्त शक्ति की अपेक्षा मनुष्य तुच्छ है। वहुत से नास्तिकों को यह वात बुरी लगती है, और है भी यह कुछ अंश मे ठीक। आत्म-गौरव रखने वाला मनुष्य अपने को किसी से तुच्छ क्यो समझे? वहुत से लोगों का यह आक्षेप है कि धर्म ने मनुष्य को नपुंसक वना दिया है। धर्म की पहली शिक्षा यही है कि मनुष्य तुच्छ है और इसको ईश्वर की शक्ति पर विश्वास करना चाहिये। इस शिक्षा का प्रभाव यह होता है कि अपनी तुच्छता को सोचते २ मनुष्य तुच्छ ही हो जाता है और ससार मे कोई महान् कार्य नहीं कर सकता। जो लोग सोचते है कि हम सव कुछ कर सकते हैं वह सव कुछ कर भी डालते हैं।

हम इस मत से सर्वांश मे सहमत नहीं हैं। जहाँ मनुष्य अपनी वास्तविक शक्तियो को न समझ कर नीच श्रेणी को प्राप्त हो जाता है वहां वहुत से मनुष्य अपनी शक्ति को कई गुना समझ कर हानि उठा वैठते हैं। जो मनुष्य चार रुपयों का स्वामी होकर अपने को लखपति समझता है वह अवश्य हानि उठावेगा।

इसलिये बिना झूठे आत्मगौरव या झूठी तुच्छता का सोच किये हुये हमको मनुष्य की वास्तविक शक्तियों का पता लगाना चाहिये। शक्ति से कम काम करने से शक्ति व्यर्थ जाती है और शक्ति से अधिक कार्य उठा लेने से विफलता होती है। अच्छा यह है कि मनुष्य को अपनी यथार्थ शक्ति का ज्ञान हो जाय।

संसार के क्रम पर दृष्टिपात करने से दो वस्तुयें मिलती हैं। एक चेतन और दूसरी जड़। चेतन से जड़ निर्बल है, चींटी बड़े बड़े मिट्टी के तूदो को काट डालती है। छोटे छोटे कीड़े पहाड़ो को तोड़ डालते हैं। छोटे छोटे पक्षी बड़े से बड़े वृक्षों को हिला देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ चेतनता है वहाँ बल है, वस्तुतः जड़ वस्तुओ मे कुछ भी बल नही। उनमें भी बल चेतन से ही आता है। घोड़ा गाड़ी को खीचता है। इसलिये गाड़ी मे बल नही किन्तु घोड़े मे है। जड़ शरीर भी चेतन के सहारे ही चलता है। मरे हुये हाथी से जीवित चींटी बलवान् है।

चेतन शक्तियों मे मनुष्य की शक्ति सब से अधिक बलवती है। इसने सभी अन्य चेतन शक्तियो को अपने वश मे कर रक्खा है। एक छोटा बच्चा हाथी की पीठ पर बैठकर उसको चला सकता है। सिह जैसे क्रूर जन्तु भी मनुष्य के कहने पर चलते हैं। छोटे छोटे पशुओ का तो कुछ कहना ही नहीं, फिर जड़ शक्तियों पर भी मनुष्य का बहुत कुछ अधिकार है। जल मनुष्य का एक तुच्छ सेवक है। इससे वह न केवल अपनी प्यास ही बुझाता या नौका ही चलाता है किन्तु बिजली आदि निकाल कर अनेक काम ले सकता है। वायु मनुष्य के कहने पर चलता है। आग इसकी सेवा के लिये सर्वदा उद्यत रहती है। रेल, तार, वायुयान, जलयान यह सब मनुष्य की शक्ति के सूचक हैं। यद्यपि अन्य पशु पक्षी आदि जीवित शक्तियाँ भी सृष्टि मे बहुत कुछ परिवर्तन करती हैं तथापि जो परिवर्तन

मनुष्य द्वारा होता है यह विचित्र ही है। सिंह जंगल का राजा है, परन्तु वह जंगल को उसी प्रकार छोड़कर मरता है जैसा उसने उसे अपने जन्म के समय पाया था। इसके विपरीत मनुष्य ने सृष्टि के रूप को ही बदल दिया है। समुद्र पाट दिये, पहाड़ काट डाले, नदियो पर पुल वांध दिये और उनके वहाव को बदल दिया। जंगल काट कर वड़े वड़े नगर वसा दिये। थल के स्थान पर जल कर दिया, और जलाशयो को थल के रूप मे परिवर्तित कर दिया। सारांश यह है कि मनुष्य की शक्ति का व्यापार संसार के प्रत्येक कोने मे दृष्टिगोचर होता है। इसके समान संसार की कोई वस्तु भी वलवान नहीं। यह सव से अधिक वलवान है। अपने इस वल की ओर दृष्टिपात करने से मनुष्य के हृदय मे वड़ा भारी अभिमान उत्पन्न होता है। वह समझता है कि मेरी वरावर संसार मे कोई नहीं, मे सृष्टि का स्वामी हूं, मै सव कुछ कर सकता हूं, मेरे अधिकार मे सभी कुछ है।

परन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मनुष्य का ऐसा समझना उसकी वड़ी भारी भूल है। यद्यपि अन्य प्राणियो की अपेक्षा मनुष्य मे अधिक ज्ञान और इसलिये अधिक शक्ति है तथापि प्रत्येक वात मे संसार की समस्त शक्तियों को देखते हुये उसकी शक्तियां अल्प है। उसका प्रभुत्व भी अपरिमित नही है, उसके ज्ञान की भी सीमा है। उसके पराक्रम भी एक मर्य्यादा से वाहर नही जा सकते।

सवसे प्रथम शारीरिक दशा पर विचार कीजिये। मनुष्य संसार के सव से वलिष्ट प्राणियो में नहीं है। सैकड़ों जन्तु उससे अधिक वलवान हैं। उसकी इन्द्रियो की शक्ति भी अल्प ही है। न तो वह आंख से ही वहुत दूर तक देख सकता है न पैरो से ही हिरन के समान भाग सकता है। न हाथी के वरावर वोझ ही ढो

सकता है। फिर उसकी आंख जो कुछ देखती है उससे भी अति अल्प ज्ञान होता है। पचासों प्रकार की आकृतियां तथा रंग उसे दिखाई नहीं पड़ते। सैकड़ों प्रकार के शब्दों को वह सुन नहीं सकता। जिस ज्ञान पर उसे इतना अभिमान है कि मैं वलिष्ठ से वलिष्ठ प्राणियों का दास बना सकता हूं और दूर से दूर अपनी शक्ति का प्रभाव पहुँचा सकता हूं, वह ज्ञान भी उसका इतना अल्प है कि उसे न सर्वज्ञ ही कह सकते हैं न बहुज्ञ। जो बात वह जानना चाहता है उससे अधिक जानने के लिये शेष रह जाती है। किसी निम्न स्थान में खड़ा हुआ मनुष्य चारों ओर देखकर छोटी सी क्षितिज को ही संसार की सीमा समझता है। परन्तु जितना जितना वह ऊंचे स्थान पर चढ़ता जाता है उतना उतना ही वह समझता है कि क्षितिज बड़ा है। इसी प्रकार जितना जितना मनुष्य का ज्ञान बढ़ जाता है उतना उतना वह यह अनुभव करता है कि मुझे अभी बहुत ज्ञान प्राप्त करना है। छोटी कक्षा का विद्यार्थी वर्णमाला को ही विद्या की इति श्री समझता है। उसका विचार यही होता है कि ज्यों ही मैंने इस पुस्तक को समाप्त कर लिया मैं विद्वान् हो जाऊंगा। परन्तु विद्यालय की उच्चतम कक्षा के विद्यार्थी को इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि मैंने अभी कुछ नहीं सीखा। कहते हैं कि न्यूटन (Newton) विद्वान् यही कहा करता था कि ज्ञान का अपार सागर मेरे सामने बह रहा है और मैं उसके तट पर केवल कंकड़ियां ही चुन रहा हूं। भारतवर्ष के उपनिषद्कार सत्य ही कहते थे कि।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्।

बुद्धिमानों के लिये अज्ञात है और मूर्खों के लिए ज्ञात। यों तो संसार का प्रत्येक मूर्ख समझता है कि संसार की बुद्धि-राशि का आधा उसके पास है और आधा शेष संसार में बंटा हुआ है परन्तु

उन विद्वानों में जो भिन्न भिन्न शास्त्रों के वेत्ता कहे जाते हैं पूछो तो सही कि वह क्या कहते हैं। क्या सभी यही नहीं कहते कि हमको अपने शास्त्रों के विषय में बहुत कम ज्ञान है। मनोविज्ञान (Psychology) के धुरन्धर विद्वान् से पूछो और वह कहेगा कि यद्यपि मैंने और मेरे पूर्वजों ने सहस्रों वर्ष के प्रयत्न से मानवी मन के विषय में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया है तथापि जितना हम को मालूम है उसकी अपेक्षा कई गुना मालूम नहीं है। बड़े बड़े चिकित्सक पुराने अनुभव का लाभ उठा कर और अपनी समस्त आयु खर्च करके भी इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि हमको शरीर का बहुत कम ज्ञान है। कोई न कोई रोग ऐसा आ जाता है जो उनके समस्त ज्ञान को अज्ञान में परिवर्तित कर देता है और वह समझने लगते हैं कि जो कुछ अब तक जाना था वह ठीक न था। शरीर के सहस्रों अङ्ग ऐसे हैं जिनका शरीर-विज्ञान-वेत्ताओं को पता तक नहीं। इसी प्रकार अन्य शास्त्रज्ञों का हाल है। परन्तु मनुष्य के अज्ञान की सीमा यहीं समाप्त नहीं हो जाती। जब हम यह विचार करते हैं कि एक शास्त्र का वेत्ता दूसरे शास्त्र के विषय में या तो कुछ नहीं जानता या बहुत कम जानता है तो हमारे आश्चर्य की सीमा ही नहीं रहती। वनस्पति शास्त्र-वेत्ता को मनुष्य की आंख का कुछ भी ज्ञान नहीं और एक गणितज्ञ वनस्पति शास्त्र से सर्वथा अनभिज्ञ है। एक कवि जो मानव-जाति के समस्त विभागों की आलोचना करने में दक्ष है एक बाँस की टोकरी नहीं बना सकता। और एक खगोल विद्या का पण्डित अपनी पैर की उङ्गली की छोटी फुन्सी की औषधि नहीं जानता। फिर कैसे कह सकते हैं कि मनुष्य का ज्ञान बहुत है। हमने जो उदाहरण दिये हैं वह उन लोगों के हैं जो अपनी समस्त आयु को ज्ञान-वृद्धि के लिये अर्पण कर चुके हैं कहते हैं कि हर्बर्ट स्पेंसर को अरस्तू से

लेकर आधुनिक वैज्ञानिकों तक ने जितना ज्ञान प्राप्त किया वह सब मालूम था। परन्तु फिर भी हर्बर्ट स्पेन्सर स्वयं कितना अल्पज्ञ था यह उसी की साक्षी से ज्ञात हो सकता है। जिस मानव-जाति के उच्च से उच्च व्यक्ति जिनकी संख्या करोड़ो मे एक से अधिक नहीं अपनी समस्त मस्तिष्क शक्ति व्यय करके भी समस्त आयु भर मे सृष्टि के ज्ञान का एक अल्पांश ही प्राप्त कर सकते हैं उसका क्या अधिकार है कि वह अपने ज्ञान पर अभिमान कर सके। फिर मनुष्य से अधिक बुद्धिमती तो अन्य जाति है भी नही। जब सर्व प्राणिवर्ग की शिरोमणि जाति के शिरोमणि व्यक्तियो का यह हाल है तो मनुष्य की अल्पता मे कोई सन्देह ही शेष नही रहता। फिर यदि देश और काल की सीमाओ पर विचार किया जाय तो और भी आश्चर्य होता है। बड़े से बड़ा विज्ञान-वेत्ता यह नही जानता कि एक मिनिट के पश्चात् क्या होगा। या उसी समय उसकी पीठ के पीछे क्या हो रहा है। या उसी समय उसके पेट के भीतर क्या हो रहा है। बड़ से बड़ा वैद्य जो चिकित्सालय मे सहस्रों रोगियो के महारोगो को अच्छा करने का दम भरता है यह नही जानता कि उसी के हृदय की गति किस प्रकार चल रही है या उसी के फेफड़ों मे कौन सा रोग शनैः शनैः प्रवेश कर रहा है।

जैसा मनुष्य का ज्ञान है वैसा ही इसका पराक्रम है। इस मे सन्देह नहीं कि मनुष्य ने पृथ्वी के धरातल को बदल दिया परन्तु किसके बल से। केवल यही न कि संसार की वस्तुओं को देखा और उनकी नक़ल की। नकल भी सब नही कर सकते। बड़े २ बुद्धिमान ही कर सकते हैं। फिर भी वह बड़ प्रशंनीय समझे जाते हैं। मनुष्य ने कौन सी ऐसी वस्तु बना दी या कौन सा ऐसा काम कर दिया जो सृष्टि के किसी न किसी काम की नकल न था। यदि मनुष्य ने अच्छे अच्छे महल बनाये तो उसको शिक्षा देने के लिये बया नामी

छोटा सा जानवर उपस्थित था। एक भिड़ के छत्ते को ही लीजिये या शहद की मक्खी के छत्ते पर दृष्टि-पात कीजिये और मनुष्य को अपने पराक्रम पर लज्जित ही होना पड़ेगा। यदि कोई मनुष्य कागज़ या मिट्टी का ऐसा आम बनाता है जिसको देख कर लोगों को धोखा हो जाय तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है। उसे पारितोषिक दिए जाते हैं। उसकी योग्यता के गीत गाये जाते हैं। यह केवल इसीलिये न कि उसने सृष्टि की एक वस्तु अर्थात् आम की केवल एक बात अर्थात् आकृति मे नकल उतारी है। गन्ध, स्वाद तथा अन्य गुणों की तो बात ही अलग रही। संसार मे बुद्धिमान लोग नित्य प्रति आविष्कार करते रहते हैं और उनके लिये उनकी प्रशंसा भी होती है परन्तु सोचो तो सही कि आविष्कार क्या वस्तु है। यही न कि अमुक मनुष्य ने सृष्टि को अमुक वस्तु के समान या एक दो अंश मे समान वस्तु तैयार कर ली। हमारा यह तात्पर्य्य नहीं है कि मनुष्य को इन पर अभिमान नही करना चाहिये। वस्तुतः वैज्ञानिक अथवा आविष्कारक सभी पुरुप अन्य पुरुषो के पूजनीय हैं, क्योंकि वह मनुष्य जाति की सुख-वृद्धि और ज्ञान-वृद्धि का कारण होते हैं परन्तु उनका इतना अभिमान करना हो उनकी अल्प-शक्ति को प्रकट करता है। कल्पना कीजिये कि एक छोटा बच्चा शाला में पढ़ने जाता है। गुरु जी उसको पट्टी पर कुछ लिख देते हैं। वह उन अक्षरों को देखकर उन्हीं के समान बनाने का यत्न करता है, जो अक्षर वह बनाता है वह गुरु के अक्षरों से अत्यन्त निचली श्रेणी के होते हैं, परन्तु उसको प्रत्येक अक्षर पर अभिमान होता है क्योकि वह समझता है कि मैंने गुरु जी के अक्षरों के तुल्य अक्षर बनाये हैं। यदि वह गुरु जी के अक्षरों से उत्तम अक्षर भी बना सकता तो भी वह अपने को गुरु जी से बड़ा मानने का अधिकारी नहीं था क्योंकि उसने केवल गुरु जी के अनुकरण से ही ऐसा किया था। उसको गुरु जी के अक्षरों

के तुल्य अक्षर बनाना ही पर्य्याप्त अभिमान की बात थी। इसी प्रकार यद्यपि संसार के बड़े बड़े आविष्कार करने वाले अनेक अंशो से पूज्य और प्रशंसनीय हैं तथापि उनको यह अभिमान करने का अधिकार नहीं कि वह बहुज्ञ या सर्वज्ञ हो गये। और न कोई आविष्कारक या वैज्ञानिक ऐसा निर्बुद्ध है कि इस बात की प्रतिज्ञा करता हो।

मनुष्य के इतिहास पर दृष्टिपात करने से एक विचित्र बात यह ज्ञात होता है कि वह सृष्टि को शक्तियो को वश मे करने का सदैव प्रयत्न करता रहा और सदैव यह शक्तियाँ उसको परास्त करती रहीं। संसार एक अखाड़ा है जहाँ सृष्टि की अन्यान्य शक्तियाँ मनुष्य को कुश्ती सिखाया करती हैं। बड़ा पहलवान छोटे पहलवानों को दांव पेच सिखाता है। कभी कभी गिर भी पड़ता है। कभी कभी उनका दिल बढ़ाने के लिये अपनी शक्ति के एक अंश से ही काम लेता है। यदि ऐसा न करे तो उसके शिष्य पहलवानी ही न सीख सकें। परन्तु यदि कोई शिष्य पहलवान अपने को गुरुजी से बड़ा समझने लगता है तो झट पछाड़ दिया जाता है। यही दशा मनुष्य की है। इसने सर्वदा सृष्टि की शक्तियों और पराक्रमो का अनुकरण किया और उन पर विजय भी प्राप्त करनी चाही। सृष्टि ने उसको ढारस दिया और उसकी हिम्मत बढ़ाई। उसने चाहा कि जिधर एक नदी बह रही है उसको काट कर उसका बहाव दूसरी ओर कर दूं। नदी ने कहा "मै तैय्यार हूं। मुझे जिधर चाहो ले चलो।" उसने पहाड़ से कहा "तू मेरे मार्ग मे खड़ा है। मै तुझे काट डालूंगा।" पहाड़ ने कहा, "कुछ संकोच नहीं। मुझे काट और अपना काम चला"। वायु से कहा "मैं तुझ से अपनी कलों का काम लूंगा"। वायु ने उत्तर दिया "मैं तेरे साथ हूं"। परन्तु जब मनुष्य के हृदय मे यह अभिमान हुआ कि अब समस्त

शक्तियाँ मेरी दास हो गईं तो उन शक्तियों ने ऐसा तमाचा मुंह पर मारा कि इसकी आंखें निकल पड़ीं।

बड़े २ बुद्धिमान् वैद्यों ने चाहा कि शारीरिक अवयवों की परीक्षा करके इस प्रकार की वनस्पतियों या औषधियों की खोज कर ले जिनसे मनुष्य के रोग दूर हो सकें और वह चिरायु हो सकें। उन्होंने बहुत सी दशाओं में रोगों को अच्छा भी किया। परन्तु वह किसी को अमर बनाने में सशक्त न हो सके। जब मृत्यु आई अच्छे से अच्छे डाक्टर और वैद्य मुंह बाये रह गये और बड़े २ धनपतियों और सम्पत्ति-शालियों का धन उनको एक मिनिट के लिये जीवित न रख सका। यह क्या बात थी? वही तमांचा जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। एक पत्र में एक बार एक प्रश्न था कि।

"When does the Lord smile ?"

"अर्थात् ईश्वर कब हँसता है?" और उसका उत्तर यह था "कि जब कोई वैद्य किसी रोगी को देखने आता है और कहता है, 'घबराओ मत, मैं तुम्हें अच्छा कर दूंगा' तो ईश्वर हंसता है"। वस्तुतः है भी हँसी की सी बात। जिस वैद्य को अपने रोग निवारण की भी शक्ति नहीं है वह दूसरे की रोग निवृत्ति की निश्चित प्रतिज्ञा कैसे कर सकता है? वह यह तो कह सकता है कि "मैं यथा-शक्ति तुम्हारे रोग निवारण का यत्न करूंगा"। परन्तु यत्न से अधिक मनुष्य के अधिकार में है भी क्या जिसका वह दावा करे? बहुत से डाक्टरों को हमने देखा है कि वह रोगी के मर जाने पर कोई न कोई बहाना ढूँढते हैं जिससे उनकी डींग वैसी ही बनी रहे। परन्तु यह उनकी विडम्बना ही होती है। वह कभी कभी अपने निज पुत्र को भी नहीं बचा सकते। जब हम सोचते हैं कि संसार के चिकित्सकों ने लाखों वर्ष पूर्व से लेकर आज तक मृत्यु से लड़ाई करने

की कितनी कोशिश की है और वह अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति में कहाँ तक विफल हुये हैं तो हमको मनुष्य की अल्पता में कुछ भी संशय नही रह जाता ।

फिर आप संसार के विजेताओं पर दृष्टि डालिये । वे आरम्भ में कितने अल्प-शक्ति होते हैं । सिकन्दर आरम्भ मे छोटा सा बचा था । उसकी इच्छा हुई कि संसार को जीतूं । बहुत से शत्रुओ को परास्त किया । अभी युवा ही था कि संसार भर के राज्य की उत्कण्ठा उसके हृदय मे उठ खड़ी हुई और उसे यह अनुभव होने लगा कि मुझे इस उद्देश्य की प्राप्ति मे कुछ भी समय नही लगेगा । परन्तु शीघ्र ही उसको अपनी अल्प-शक्ति की तुच्छता का पता चल गया, और वह विना उद्देश्य की पूर्त्ति के ही यहाँ से चल वसा ।

कार्थेज के प्रसिद्ध विजेता हानिवल (Hannibal) का भी यही हाल था । थोड़ी सी आयु में रोमन साम्राज्य के दांत खट्टे कर देना उसी का काम था । परन्तु संसार की शक्तियाँ उसको भी तमांचा लगाने के लिये तैय्यार थीं । जो नेपोलियन कहा करता था कि शब्द 'असम्भव' मूर्खों के ही कोष में मिलता है उसी नैपोलियन को न केवल राज्य करना ही किन्तु पेट भर कर रोटी खाना भी असम्भव हो गया । कैसी अद्भुत सृष्टि है और इसकी शक्तियाँ कैसी अपार हैं ? मनुष्य एक शक्ति को वश मे करने की कोशिश करता है और सहस्रो शक्तियाँ न जाने किस ओर से निकल कर उसको वश में करने के लिये उद्यत हो जाती हैं और वह अवाक् रह जाता है । अभी कल की बात है कि १९१४ ई० में जर्मनी के सम्राट् कैसर ने दिग्विजय की ठानी । और इसके लिये हर प्रकार की तैय्यारियां की । यहाँ तक कि उसने शत्रुओ के नगरो में पहुँचने की तिथियाँ तक भी नियत कर दी थी, मानो सारे संसार के

प्रोग्राम का ठेका कैसर के ही हाथ मे था। संसार के बड़े से बड़े वैज्ञानिक उसके साथ थे जिन्होंने अपने रोमांचकारी अन्वेषणों और आविष्कारों के द्वारा सहस्रों मनुष्यों को आन की आन में मक्खियों के समान भून दिया। यह प्रतीत होता था कि संसार में या तो कैसर ही रहेगा या वह लोग जिनको रहने की आज्ञा उसके दरबार से मिलेगी। परन्तु संसार की शक्तियाँ कुछ और ही सोच रही थों। समय आया कि उसको अपना अल्प शक्ति का पता लग गया और उसे अपने अभिमान के लिये पछताना पड़ा।

वैज्ञानिकों के आविष्कारों का भी यही हाल है। जिन्होंने टाइटनिक जहाज (The Titanic) की कहानी सुनी है वह इससे शिक्षा लिये बिना नहीं रह सकते। यह जहाज १९१२ ई० मे इङ्गलैण्ड के सौथम्पटन बन्दर (Southampton Harbour) मे बनाया गया। इससे पहले कोई जहाज इतना बड़ा नहीं बना था। इसके बनाने में तीन वर्ष व्यय हुये और कप्तान स्मिथ (Captain Smith) जिसकी अध्यक्षता मे इसका निर्माण हुआ उस समय के सब से प्रसिद्ध और विलक्षण मल्लाहों मे से था। इसकी लम्बाई १००० फुट था और यह समुद्र से १६४ फुट ऊँचा था। इसके निर्माताओं का यह दावा था कि यह कभी समुद्र में डूब नहीं सकता। १० अप्रेल १९१२ को जब वह जहाज सौथम्पटन पोतस्थल से न्यूयार्क को रवाना हुआ उस समय उसमें २३५८ पथिक उपस्थित थे। उनका हृदय गद्गद हो रहा था कि हम आज उस जहाज मे बैठे हैं जो कभी डूब ही नहीं सकता। विज्ञान के वश में जो जो बातें थीं उन सब का प्रयोग किया जा चुका था। मनुष्य के अधिकार में जो कुछ साधन हो सकते थे उन सब के द्वारा परीक्षा की जा चुकी थी कि समुद्र में जहाजों को जो विघ्न घेर सकते हैं, टाइटनिक उन सब का सामना करेगा।

तीन दिन चलते हो गये। न्यूयार्क पहुँचने में केवल २४ घण्टे की देर थी। जहाज रेल की गति से दौड़ रहा था। मुसाफिर शान्ति और निश्चय की नींद सो रहे थे। कप्तान और अधिकारियों के हृदय अभिमान से पूरित थे कि अमेरिका वाले भी जहाज़ की विशालता और दृढ़ता की प्रशंसा किये बिना नहीं रहेंगे। परन्तु वही लोकोक्ति ठीक हुई कि मनुष्य कुछ सोचता है और ईश्वर कुछ करता है। क्या जाने सृष्टि को यही दिखाना था कि मनुष्य का अभिमान टूट जाय। यकायक रात के समय एक ठेस सी लगी। वह ठेस इतनी छोटी थी कि किसी मुसाफिर को मालूम न हुई परन्तु कप्तान स्मिथ का माथा ठनका। उसे झट मालूम हो गया कि अब जहाज की ख़ैर नहीं है। वस्तुतः ऐसा ही हुआ। हर प्रकार की कोशिश की गई परन्तु पानी जहाज़ में बढ़ता ही आया। बात यह थी कि एक बर्फ का पहाड़ चुपके से समुद्र में इधर से उधर निकल गया। वह इतना बड़ा था कि टाइटनिक जैसे विशाल जहाज़ में भी उसके छूने से ही एक बड़ा छेद हो गया; कप्तान स्मिथ और अन्य अधिकारियों ने निकट में चलने वाले जहाजों को बेतार के साधनों द्वारा सूचना दी कि टाइटनिक डूब रहा है। शीघ्र आकर रक्षा करो। परन्तु कई घण्टे में केवल कारपेथिया (Carpathia) नामक जहाज़ आ सका। और केवल ७०३ मुसाफिरों की जानें बचा सका। कप्तान आदि ने बड़ी वीरता से स्त्री और बच्चों को बचाने का प्रयत्न किया और स्वयं डूब कर मर गये।

यह है टाइटनिक जहाज़ की कथा। जिस समय अमेरिका और इङ्गलैण्ड में यह सूचना छपी उस समय किसी को विश्वास नहीं हुआ। उनको कभी यह आशा न थी कि टाइटनिक जैसा जहाज़ पहली ही यात्रा में चकनाचूर हो जायगा। जब कि छोटे छोटे जहाज़ वर्षों चलते रहते हैं। परन्तु टाइटनिक केवल मनुष्य की

परिमित शक्ति का फल था जो सृष्टि की अपार शक्ति के सन्मुख तुच्छ थी। टाइटनिक जहाज़ की बड़ी कहानी है। इसी प्रकार की छोटी छोटी घटनायें प्रति दिन और प्रति घड़ी आया करती हैं और मूर्ख से मूर्ख से लेकर बुद्धिमान् से बुद्धिमान् तक को उनका अनुभव है। हम मानवजाति के समस्त इतिहास को अङ्गरेज़ी की इस कहावत का कि "Man proposes and God disposes" (मनुष्य कुछ चाहता है और ईश्वर कुछ करता है) बृहद् रूप पाते हैं। हर घड़ी हम को यह अनुभव होता है कि हम जो बात करना चाहते थे उसमें कोई विघ्न पड गया। मानो किसी ऐसी शक्ति ने जो हम से कई गुणी बड़ी है आकर हमारे हाथ को रोक दिया। हम फिर उठ खड़े हुये और दूसरी ओर चलने लगे। उधर भी फिर किसी ने रोका। इस प्रकार पग पग पर जो रुकावटें हमारे मार्ग में आती हैं वह उच्च स्वर से हमारी अल्पता की साक्षी दे रही हैं। तभी तो गीता में कहा है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मनुष्य का केवल इतना ही अधिकार है कि प्रयत्न करता जाय। फल क्या होगा? उद्देश्य की पूर्त्ति होगी या नहीं? जिस मार्ग का उसने अवलम्बन किया है उस में बाधा पड़ेगी या नहीं? इनका अधिकार मनुष्य को है ही नहीं। वह भरसक इन बातों पर विचार कर सकता है और भावी आपत्तियों से बचने के लिये भी प्रयत्न ही कर सकता है परन्तु वह निश्चय रूप में यह नहीं कह सकता कि अवश्य ऐसा ही हो जायगा।

यहां कुछ लोग आक्षेप करेंगे कि मनुष्य की अल्पता का यह चित्र खींच कर तुम मनुष्य से उस साधन को ले लेते हो जिसके द्वारा वह काम कर सकता है। जब संचालन-शक्ति ही उसमें न रहेगी तो वह काम किसके आश्रय से करेगा और गीता के ऊपर

दिये हुये आधे श्लोक का पहला भाग भी गलत हो जायगा। गीता में यह भी तो कहा है कि :—

संशयात्मा विनश्यति

तुम ने उसकी शक्ति को अल्प बता कर उसे संशय आत्मक बना दिया। जिस पुरुष को यह निश्चय नहीं कि जौ बोने से जौ उत्पन्न होंगे वह जौ क्यों बोने लगा? यदि मनुष्य जाति से ज्ञान की निश्चितता छीन ली गई तो उसके पास कोई ऐसी वस्तु नही रह जायगी जिसके सहारे वह कार्य्य कर सके। गाय खेत मे चरकर सायंकाल को घर में चली आती हैं इसीलिये कि उसे निश्चय है कि मेरे स्वामी के घर मे मेरा बछड़ा बँधा हुआ है। हमारे समस्त कार्य्य आशा के सहारे चलते हैं। आशा निश्चितता की लड़की है। इसलिये यह कहना कि मनुष्य इतना अल्प है उसको निकम्मा बनाना है।

साधारणतया तो यह आक्षेप ठीक मालूम होता है परन्तु वस्तुतः इसका कोई आधार नहीं। प्रथम तो हमने मनुष्य की अल्पता के जो दृष्टान्त दिये हैं वह ठीक ही है। वास्तविक बात का निषेध करना मूर्खता है। दूसरे आशा का होना ही बताता है कि मनुष्य को अपनी सफलता का निश्चय नहीं है। जब हम कहते हैं कि मनुष्य का ज्ञान और पराक्रम अल्प है तो इससे हमारा कभी यह तात्पर्य नही होता कि मनुष्य को आशा भी नही करनी चाहिये। मनुष्य मे आशा का होना उसकी अल्पता का विरोधी नही किन्तु पुष्टि करने वाला है। मनुष्य किसी काम के करने की या किसी कार्य्य में सफल होने की आशा क्यों करता है? इसलिये नही कि वह अल्प नही है किन्तु इसलिए कि उसे अपने से बड़ी एक ऐसी शक्ति पर विश्वास है जिसको वह अटल समझता है। एक छोटे बच्चे को विश्वास है कि मेरे पिता आज बाजार से अवश्य मेरे

लिये मिठाई लायेंगे क्योंकि प्रति दिन लाया करते हैं। इस विश्वास और आशा से बच्चे की अल्पता का विरोध नहीं होता किन्तु बच्चे की शक्ति से बड़ी एक ऐसी शक्ति का परिचय होता है जिसके अटल होने में बच्चे को विश्वास है, आशा और निश्चितता मे विरोध है। गीता मे जहां 'सशयात्मा' शब्द आया है। वहां भी उसका तात्पर्य अधिकतर दृढ़ता के अभाव से है। दृढ़ता का अभ.व अविश्वास से उत्पन्न होता है। जब हम कहते हैं कि हम को पूर्ण आशा है कि हम अमुक कार्य्य में सफल हो जायेंगे तो इससे दो बातें प्रकट होती हैं। प्रथम तो यह कि भरसक यत्न करके हमने वह सामग्री एकत्रित कर ली है जो अमुक कार्य्य के सम्पादन के लिये आवश्यक है, दूसरे यह कि हमको अपने से उच्च उस शक्ति पर विश्वास है जो अपने नियमो का भङ्ग नहीं करती; और उस शक्ति के सहारे पर हम कह सकते है कि अवश्य सफल होंगे। इन दोनो बातो से मनुष्य की अल्पता की सूचना होती है। जब हम कहते हैं कि 'अवश्य सफल होंगे' तो शब्द 'अवश्य' यहां 'पूर्ण निश्चय' का बोधक नहीं होता। प्रत्येक बड़े से बड़ा पराक्रमी और बुद्धिमान् पुरुष जानता है कि भविष्य की उसको सूचना नहीं। जिस प्रकार कुहरा पड़ते समय हम अपनी आखें फाड़ फाड़ कर आगे देखना चाहते हैं परन्तु धुन्धले कुहरे के सिवाय कुछ दिखाई नहीं देते, इसी प्रकार भविष्य एक कुहरे के भीतर छिपा हुआ है। हम अपनी बुद्धि रूपी आखें फाड़ फाड़ कर आगे को देखते है और कुछ कुछ धुन्धला ही दृष्टिगोचर होता है। हम कभी निश्चय पूर्वक ऐसा नहीं कह सकते कि 'अमुक कार्य्य हुये बिना नहीं रहेगा। जिन डाक्टरों या वैद्यों ने रोगियो को 'असाध्य' कह कर छोड़ दिया वह कभी कभी चङ्गे हो गये और जिनके अच्छा करने का वह बलपूर्वक दावा करते रहे उनमें कोई न कोई ऐसी घटना उत्पन्न हो गई कि वह

जीवित न रह सके। इसमें सन्देह नहीं कि जिस खेत मे हमने गेहूँ बोया है उसमें जौ उत्पन्न न होगा परन्तु गेहूं उत्पन्न होने के लिए भी कितनी अन्य बातें चाहिये जिन पर मनुष्य का वश नहीं है। सम्भव है खेत में खाद कम हो। सम्भव है, इतना अधिक हो कि पौधो को कुपच हो जाय। सम्भव है अति वृष्टि हो. सम्भव है अनावृष्टि हो, सम्भव है चूहे, टीड़ियाँ या अन्य विघ्न लग जायँ। इस लिये मनुष्य आने वालो आपत्तियों के लिये सदा कमर कसे खड़ा रहता है। वह निकटस्थ भविष्य को ही देख सकता है। इससे अधिक उसकी दृष्टि जाती ही नही। यद्यपि सृष्टि का समस्त ज्ञान और समस्त कार्य्य मनुष्य के लिये खुले हुये हैं, सृष्टि देवी पर्दा नही करती, सृष्टि की आज्ञा है कि मेरे ज्ञान और कार्य्यों को देख कर अपने कार्य्यों को सुधारो, परन्तु मनुष्य की अल्पता उसको इस ज्ञान अथवा पराक्रम का एक अंश ही देखने देती है। एक छोटा पुष्प बाग मे खड़े हुए मनुष्य को पुकार पुकार कर कह रहा है कि मुझमें से ज्ञान प्राप्त कर। न जाने कितने विद्वान् आये और चले गये और इस पुष्प की पङ्खड़ी का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर सके। किसी ने कहा "मै क़ेवल इसके रङ्ग की ही परीक्षा करूंगा' और उसने रङ्ग सम्बन्धी समस्त भौतिकी (Physics)और रसायन शास्त्र (chemisty) को ख़र्च कर दिया परन्तु उसको पूर्ण सन्तोष नहीं हुआ। किसी ने कहा 'मै केवल इस बात का अन्वेषण करूँगा कि इस फूल का मनुष्यो के रोगों पर क्या प्रभाव पड़ता है।" उसने और उसके पूर्वजो तथा उत्तराधिकारियों ने अपनी आयु व्यतीत करके भी उसके समस्त गुण जान न पाये। किसी ने कहा कि "हम यह जानने का यत्न करेंगे कि फूल किस प्रकार बढ़ता है, किस प्रकार फूलता है और किन कारणो से नष्ट हो जाता है"। इसके लिए बनस्पति शास्त्र का निर्माण हुआ और संसार के बड़े २

धुरन्धर मस्तिष्क लगे रहे। परन्तु उनको भी पूर्णता प्राप्त नहीं हुई। जिसने फूल को देखना चाहा, फूल ने उसके सामने अपने समस्त चमत्कार रख दिये। जिसने उसे तोड़ना चाहा उससे उसने विरोध नहीं किया। जिसने उसको सूंघना चाहा उससे उसने अपनी गन्ध नहीं छिपाई। जिसने उसको छूना चाहा उससे उसने मुख नहीं मोड़ा। फिर भी वह फूल, वह नन्हा सा फूल संसार भर के लिये एक अज्ञेय वस्तु ही रहा। सृष्टि की विचित्र गति है। किसी उर्दू के कवि ने कहा है :—

क्या तमाशा है कि चिलमन से लगे बैठे हो !
साफ़ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं।

सृष्टि देवी किसी से परदा नहीं करती परन्तु उसके तेज को देखने के लिए आंखें भी तो चाहिये। अङ्गरेज़ी के महाकवि टैनिसन (Tennyson) ने इस सम्बन्ध में क्या अच्छा कहा है :—

"Flower in the crannied wall,
I pluck you out of the crannies ;
Hold you here, root and all, in my hand
Little flower—but if I could understand
What you are, root and all and all in all,
I should know what God and man is "

"ऐ दीवार के छिद्रों में उगे हुये फूल, मैं तुझे इन छिद्रों से तोड़ता हूं। और तुझे जड़ तथा अन्य अवयवों समेत अपने हाथ में लेता हूं। छोटे फूल ! परन्तु यदि मैं यह समझ सकूं कि तू क्या है जड़ तथा अङ्गों समेत, तो मैं यह समझ लूं कि ईश्वर क्या है और मनुष्य क्या है।"

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य अल्प है उसकी शक्तियां परिमित हैं। परन्तु अपनी अल्पता के भाव से उसमें किसी प्रकार की त्रुटि

उत्पन्न नहीं होती। यह अल्पता का भाव उसे निकम्मा नहीं करता किन्तु चतुर बनाता है और झूठे अभिमान से बचाता है। झूठा अभिमान न कभी किसी के लिये लाभदायक हुआ न हो सकता है। यदि मैं आज यह समझ लूं कि समस्त सूर्य्यमण्डल का स्वामी मैं हूँ तो क्या सूर्य्यमण्डल अपने कार्य्य को मेरे वश में कर देगा ? क्या मैं इतने समझने से ही ऐसा शक्तिशाली हो जाऊँगा कि जब मैं चाहूं तभी सूर्य्य निकले और जब मैं चाहूं तभी छिप जाय। मनुष्य यदि अपने में यह भाव उत्पन्न कर ले कि मैं अल्प हूं परन्तु एक महती शक्ति संसार भर में प्रसरित है जो मुझे सहायता देने के लिये उपस्थित है, उसमें अनन्त ज्ञान और अनन्त पराक्रम है, यदि मैं अपनी अल्प शक्ति को उस महती शक्ति के अनुकूल लगा दूं तो वह अनन्त शक्ति मेरे उपयोगी हो सकती है, तो इसमें संशय नहीं कि उसको कभी विफलता प्राप्त नहीं होगी। प्रश्न यह नहीं है कि हम अल्प हैं या अनन्त। हम तो अल्प हैं ही। वह भी अल्प थे जिन्होंने अपने को अल्प माना और वह भी अल्प सिद्ध हुये जिन्होंने अपने को समस्त रूपेण परिपूर्ण माना। परन्तु प्रश्न यह है कि सृष्टि की उन अनन्त शक्तियों में से जो संसार में दृष्ट या अदृष्ट रूप से उपस्थित हैं हम किन किन से लाभ उठा सकते हैं। जिस भाप के द्वारा रेलवे ड्राइवर रेल चलाता है वही भाप उसको मार भी सकती है और बहुधा मार डालती है। भाप की शक्ति उस ड्राइवर की शक्ति नहीं है, वह केवल उससे लाभ उठा रहा है। भाप उसी समय तक उसके साथ है जब तक वह भाप का अनुयायी है। वस्तुतः हम वैभवरूपी सम्पत्ति के स्वामी नहीं किन्तु कोषाध्यक्ष हैं। जिस प्रकार एक सम्राट के महाकोष का कोषाध्यक्ष करोड़ों रुपयों को नित्य प्रति इधर उधर भेजता है परन्तु एक पाई भी बिना नियम के व्यय नहीं कर सकता

इसी प्रकार हम इस अनन्त धन को जो सृष्टि ने हमारे लिये फला रक्खा है उसी सीमा तक व्यय कर सकते हैं जो उसने हमारे लिये बांध रक्खी है। एक पाई इधर उधर हुई और कोषाध्यक्ष महाशय को जेल की हवा खानी पड़ी। यहां हम थोड़ा भी विचलित हुये कि मारे गये। जो लोग कहते हैं कि अल्पता का अनुभव करके मनुष्य निकम्मा और दुर्बल हो जाता है वह मानवी इतिहास का यथोचित दृष्टिकोण से नहीं देखते। जितने पुरुष या जो जो जातियां संसार में बढ़ीं उन्होंने अपने को आरम्भ में कोषाध्यक्ष के समान ही समझा। और जिस दिन से उनमें यह भाव उत्पन्न होने लगे कि "हमारे समान कोई नहीं, हम ही इस कोष के स्वामी हैं और जिस प्रकार चाहें इसको व्यय कर सकते हैं", उसी दिन से उनके पतन का सूत्रपात हुआ। जातियों और व्यक्तियों के विकास और क्षय के बीच में ऐसी भेदकभित्ति नहीं है जो हर एक मनुष्य को दिखाई पड़ सके। केवल विलक्षण चक्षुयें ही उससे अभिज्ञ हो सकती हैं और इसी स्थान पर विशेष धोखा हो जाता है। जब हम किसी जाति को बढ़ता हुआ देखते हैं तो हम प्राय. उसकी सभी बातों को प्रशंसनीय समझने लगते हैं, और उसकी त्रुटियों को उसके गुणों से अलग नहीं करते। यही बात वस्तुतः हमारे क्षय का भी कारण हो जाती है। कभी कभी वह जातियां भी अपनी त्रुटियों को अपनी महत्ता समझ बैठती हैं और उस समय पता लगता है जब कुछ बनाये नहीं बनती। प्राचीन आर्य्य जाति का पतन इसी कारण से हुआ। आज कल भी कई जातियों के पतन के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। सहस्त्रों व्यक्तियों के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं। केवल देर इस बात की है कि हम अपनी आंखें खोलें और इनसे शिक्षा ग्रहण करें।

मनुष्य की अल्पता ही उसको इस बात की प्रेरणा करती है कि वह अपने से उच्च शक्ति पर विश्वास करे चाहे वह इसको किसी नाम से क्यों न पुकारे।

तीसरा अध्याय

सृष्टि रचना

शब्दों की व्युत्पत्ति अधिकतर पाठकों को रुचिकर नही होती। परन्तु बहुत सी बातें हैं जिनका ठीक २ पता शब्दों की व्युत्पत्ति से लग सकता है। संस्कृत के कई शब्द हमको सृष्टि रचना की अनेक मौलिक बातों का बोध कराते हैं। शब्द 'सृष्टि' को ही लीजिये। यह संस्कृत के 'सृज्' धातु से निकलता है जिसका अर्थ है बनाना। 'सृज्' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय लगकर सृष्टि शब्द बना जिसका अर्थ हुआ का 'बनी हुई चीज'। दूसरा शब्द है 'संसार' यह 'सृ' धातु से निकलता है जिस का अर्थ है 'बहना' या 'निकलना' अत. दूसरी बात यह मालूम होती है कि 'सृष्टि' 'निकली हुई' चीज है। तीसरा शब्द है 'जगत्'। जो संस्कृत के 'गम्' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'चलना' इससे ज्ञात हुआ कि 'सृष्टि' चलती हुई वस्तु है संस्कृत संसार की प्राचीनतम भाषा है इसलिये यह तो सिद्ध ही है कि अति प्राचीन काल से विद्वान् लोग 'सृष्टि' को रची हुई, निकली हुई या चलती हुई वस्तु मानते रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि प्राचीन पुरुषों के कथन को बिना परीक्षा के क्यों माना जाय? इसलिए यह भी देखना होगा कि आधुनिक विद्वानों के इस विषय में क्या विचार हैं?

यह तो शायद सभी मानतें हैं कि जिन वस्तुओ या घटनाओं को हम संसार मे देखते हैं उन सबका आरम्भ होता है, अर्थात् वह अनित्य हैं। कोई वस्तु ऐसी नही है जिस पर काल का प्रभाव न हो। पुराने से पुराने वृक्ष को लो। यह मानना पड़ेगा कि वह कभी उत्पन्न हुआ था। पुराने से पुराने पहाड़ को देखो। उसके आदि का भी पता लग ही जायगा। आज कल के विज्ञानवेत्ता अपने परीक्षालयो मे इसी बात का अन्वेषण करते रहते हैं कि अमुक पदार्थ कैसे बना। ज्यालोजी (Geology) अर्थात् भूगर्भ विद्या ने पता लगाया है कि अमुक पर्वत या अमुक चट्टानें किस प्रकार और कब बनीं। जिस हिमालय पर्वत को हम समस्त पृथ्वीस्थ पदार्थों का पितामह कह सकते है वह भी कभी तो उत्पन्न हुआ ही होगा। भिन्न भिन्न स्थानों की मिट्टी सृष्टि रचना की भिन्न भिन्न अवस्थाओ का इतिहास मात्र है। एक वस्तु दूसरी की अपेक्षा नई है क्योंकि उसके बनने का एक काल नियत है। वृक्ष का फूल पत्ते से नया है। पत्ता जड़ से नया है। वृक्ष की जड़ उस मिट्टी से नई है जिसमे वह उत्पन्न हुआ है। मिट्टी उस चट्टान की अपेक्षा नई है जिस पर वह जमी हुई है। चट्टान पृथ्वी के तल की अपेक्षा नई है। पृथ्वी की भी कई अवस्थायें बताई जाती हैं। कहते हैं कि पहले यह एक आग का गोला था जो ठण्डा होते होते इस अवस्था मे पहुँचा है। जिस प्रकार अङ्गारे पर ठण्डा होने के समय सिकुड़न पड़ जाती है उसी प्रकार पृथ्वी का गोला जब ठण्डा होने लगा तो उसमे सिकुड़न पड़ गई। ऊंचे स्थान पहाड़ हो गए और नीचे समुद्र बन गये। इसी प्रकार भौतिकी (Physics) और रसायन शास्त्र (Chemistry) के पण्डितों ने जल वायु आदि का भी विश्लेषण (Analysis) किया और उनके उन तत्वो को अलग २ करके दिखा दिया जिनके

कुछ चीज़ों को तोड़ डालते हैं और उनके टुकड़ों को फिर जोड़ कर एक नई चीज़ बना देते हैं जैसे मकान का दरवाज़ा।

यहाँ एक बात कही जा सकती है। सायसवेत्ता यह कह सकते हैं कि ससार की सभी वस्तुएँ तत्वों से बनी हैं परन्तु वह तत्व किसी से नही बनें, अर्थात् विश्लेषण करते करते हम परमाणुओं की एक ऐसी अवस्था पर पहुँच सकते हैं जिसके आगे विश्लेषण हो ही नही सकता। इसलिये उन परमाणुओं का बनना सिद्ध नही हो सकता। यह तो हो सकता है कि उन परमाणुओं के मिलने से दूसरी चीज़ें बन गई। परन्तु यह कैसे माना जाय कि वह परमाणु भी किसी अन्य पदार्थ से बने हैं। यदि कभी यह सिद्ध भी हो गया कि जिनको हम परमाणु (परम + अणु) कहते हैं वह भी किन्हीं अन्य चीज़ों के मिलने से बने हैं तो हम इन बनी हुई वस्तुओं को परमाणु न कह कर दूसरों को परमाणु कहने लगेंगे। इस प्रकार अन्त को एक ऐसे स्थान पर अवश्य पहुँचना पड़ेगा जहाँ से आगे नहीं चल सकते। इसी आक्षेप को महाशय जे. एस. मिल (J. S Mill) ने अपने "धर्म सम्बन्धी तीन व्याख्यान" (Three Essays in Religion) में इस प्रकार वर्णन किया है:—

"सृष्टि मे एक स्थायी तत्व है और एक अस्थायी। परिणाम सदा पहले परिणामों के कार्य रूप होते हैं। जहां तक हमको ज्ञात है स्थायी सत्तायें कार्य्य रूप है ही नही। यह सत्य है कि हम घटनाओं तथा पदार्थों दोनों को ही कारणों से बना हुआ कहा करते हैं जैसे पानी आक्सीजन और हाईड्रोजन से मिल कर बना है। परन्तु ऐसा कहने से हमारा केवल इतना तात्पर्य होता है कि जब उनका अस्तित्व आरम्भ होता है तो यह आरम्भ किसी कारण का कार्य्य रूप होता है परन्तु उनके अस्तित्व का आरम्भ पदार्थ नहीं है किन्तु घटना मात्र है। यदि कोई यह आक्षेप करे कि किसी

वस्तु के अस्तित्व के आरम्भ का कारण ही उस वस्तु का भी कारण है तो मैं इस शब्द-प्रयोग के लिये इससे झगड़ा नहीं करता। परन्तु उस पदार्थ में वह भाग जिसके अस्तित्व का आरम्भ होता है सृष्टि के अस्थायी तत्व से सम्बन्ध रखता है। अर्थात् बाहिरी रूप तथा वह गुण जो अवयवों के संयोग अथवा संश्लेषण से उत्पन्न हो जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में इससे भिन्न एक स्थायी तत्व भी है अर्थात् एक या अनेक विशेष मौलिक सत्तायें जिनसे वह पदार्थ बना है और उन सत्ताओं के अपने धर्म। हम इनके अस्तित्व के आरम्भ को नहीं मानते। जहां तक मनुष्य के ज्ञान की सीमा है वहां तक यही सिद्ध होता है कि उनका आदि नहीं और इसलिये उनका कारण भी नहीं। हां वह स्वयं प्रत्येक होनेवाली घटना के कारण या सहायक कारण अवश्य हैं।"*

हमको मिल महोदय की यह बात मानने मे कुछ भी संकोच नहीं है। हमारा भी वस्तुतः यही मत है कि ससार स्थायी तथा अस्थायी इन दो वस्तुओं के मेल से बना है। अस्थायी को संस्कृत की पुस्तको मे 'नाम और रूप' के नाम से पुकारा है और स्थायी को मूलतत्व। परन्तु इसमे सन्देह नही कि मूल तत्व और नाम रूप से मिलकर ही जगत् वनता है। इसलिये जगत् का बनना अर्थात कार्य्य होना सिद्ध है।

परमाणुओ के विषय मे मौलिक विज्ञान वेत्ताओं मे मत भेद है। सायस सम्बन्धी अन्वेषण हो रहे है। कुछ लोग कहते हैं कि वस्तुतः परमाणु कोई चीज नही। और वह 'मूलतत्व जिससे संसार बना है केवल शक्ति के केन्द्र है। परन्तु हमे इस मत के अनुसार भी यह मानना पड़ेगा कि कोई न कोई समय ऐसा अवश्य होगा जब शक्ति के यह केन्द्र अपनी मौलिक अवस्था से चल कर जगत् की वर्तमान अवस्था तक पहुँचे होगे। अर्थात् यह सृष्टि रची गई होगी। यदि सृष्टि रची गई तो अवश्य इसको कार्य्य कहना पड़ेगा।

कुछ लोगों का यह भी कहना है कि सृष्टि के रचने के लिये परमाणुओ के परस्पर मिलने की आवश्यकता नहीं है। सृष्टि में एक मूल तत्व है जिसको प्रकृति कहते हैं यही मूल तत्व परिणाम

---

inherent properties. These are not known to us as beginning to exist: within the range of human knowledge they had no beginning, and consequently no cause. Though they themselves are cause or con-causes of everything that takes place Experience, therefore, affords no evidence, not even analogies, to justify our extending to the apparently immutable, a generalisation grounded only on our observation of the changeable."

से सृष्टि के रूप में हो जाता है जिस प्रकार पानी बर्फ हो जाता है। हम इन भिन्न मतो की मीमांसा नही करते। इस स्थान पर हमारा प्रयोजन यह नही है कि हम मूल तत्व के विषय मे कोई आलोचना करें। हम तो केवल एक बात दर्शाना चाहते हैं वह यह कि सृष्टि का आरम्भ है। कोई समय है जब यह सृष्टि बनती है। परिणामवादियो के मत मे भी परिणाम का समय होता है। परिणाम भी एक प्रकार का कार्य्य ही है। माना कि बर्फ का मूलतत्व वही है जो पानी का है परन्तु पानी और बर्फ एक ही वस्तु नही है, न कोई इन दोनो से एक ही आशय समझता है। पानी से बर्फ बनने के लिये एक समय लगता है। बर्फ को हम कार्य्य और पानी को 'कारण' कह सकते हैं।

हां दार्शनिको का एक मत है जो सृष्टि के कार्य्यत्व पर किसी अश मे आक्षेप करता है। यह हैं विवर्त्तवादी।

अतात्त्विको अन्यथा भावः विवर्त्त इति उदीरितः।

जो वस्तु न हो और मालूम पड़े उसका नाम विवर्त्त है जैसे, सांप नही है और मालूम पड़ता है। या जल नही है और प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिको का मत है कि संसार वस्तुतः एक भ्रमात्मक कल्पित वस्तु है या यो कहना चाहिये कि कल्पना मात्र है। स्वप्न मे मनुष्य को हाथी, घोड़े, वृक्ष आदि सभी दिखाई देते है। आंख खुलने पर कुछ नही रहता। इसी प्रकार इस संसार को भी हम स्वप्न के समान देख रहे है। जब हमारी ज्ञान की आंख खुलती है तो यह स्वप्न झट हमारी आंख से लुप्त हो जाता है। इस मत के अनुयायियो की दृष्टि से संसार कोई वस्तु ही नही फिर इसको कार्य कैसे माना जाय ? यहाँ स्थायी का प्रश्न ही नही। इनका तो केवल यह कहना है कि जिसको हम व्यवहारिक बोल चाल मे 'संसार' कहते हैं वह तात्त्विक दृष्टि से स्वप्न मात्र है। वस्तुतः संसार की यह भिन्न

भिन्न वस्तुयें जिनकी भिन्नता ही एक विचित्रता उत्पन्न कर रही है स्वप्न से अधिक और कुछ नही है, मूल तत्व एक है जिसको ब्रह्म कहते हैं।

हम यहाँ 'स्वप्नवाद' या 'एक ब्रह्मवाद' पर कुछ नहीं कहना चाहते। यह ठीक हो या ठीक न हो। परन्तु जो लोग संसार को स्वप्नमात्र मानते हैं उनको भी यह तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि यह स्वप्न किसी समय विशेष पर आरम्भ होता है। स्वप्न की साधारण घटना पर विचार कीजिये। स्वप्न स्वयं ही तो उत्पन्न नही हो जाते। स्वप्न भी तो किसी विशेष कारण के कार्य्य मात्र होते हैं। जो लोग कहते हैं कि ज्ञान की आँख खुलने पर स्वप्न नही रहता वह यह भी मानते हैं कि ज्ञान की आंख मुंदने पर स्वप्न आरम्भ हो जाता है। यह स्वप्न कैसे आरम्भ होता है यह प्रश्न नही है प्रश्न तो केवल इतना है कि स्वप्न कार्य्य है। इसके कारण का पता लगाने की आवश्यकता है।

हमने इन पृष्ठो मे यह दिखलाने का यत्न किया है कि संसार का आदि है। यह संसार कार्य्य रूप है। अर्थात् यह कभी न कभी बना है। इतना मानने मे किसी बुद्धिमान् पुरुष को कुछ आपत्ति नही हो सकती। वस्तुतः यह तो प्रत्यक्ष ही है।

अब यह देखना चाहिये कि इस कार्य्य रूप ससार मे और क्या क्या बातें पाई जाती है।

पहली सब से विचित्र बात **नियम** (Order) है। हम संसार की प्रत्येक घटना मे एक विशेष नियम देखते हैं। वस्तुतः इसी नियम के आधार पर मनुष्य अपने काम का निश्चय करता है। हम देखते हैं कि पृथ्वी मे बीज पड़ता है, अंकुर निकलता है, वृक्ष बढ़ता है, पहले फूल आते है फिर उस पर फल लगते हैं। वनस्पति शास्त्र का यह क्रम है जो समस्त वनस्पति जगत् पर शासन कर रहा है, इस क्रम का उल्लङ्घन कोई नही कर सकता। किसी स्थान पर

हम ऐसा नहीं पाते कि पहले फल निकले, फिर फूल। किसान या माली को यह नियम भली भाँति ज्ञात है और वह इसी के अनुसार अपना कार्य्य करता है। फिर दूसरी बात यह है कि विशेष बीज बोने से ही विशेष वृक्ष उगता है। नीम के वृक्ष का बीज बो देने से कभी यह आशा नही हो सकती कि आम उपज सकेगा। गेहूँ बोने से कोई यह नही समझ सकता कि चना उगेगा। यह वनस्पति शास्त्र के नियम की बात है।

मनुष्य तथा अन्य प्राणियों की वृद्धि का भी नियम है। बच्चा उत्पन्न होकर पहले युवा होगा फिर वृद्ध। यह नही हो सकता कि पहले वृद्ध हो जाय फिर युवा। मूर्ख से मूर्ख माता भी यह जानती है कि बच्चे की सवृद्धि मे कौन सी अवस्थायें आयेंगी। यह केवल इसीलिये होता है कि संसार मे एक नियम है जिसका उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता। वैद्यक तथा शरीर विज्ञान का आधार इन्हीं नियमों पर है। चिकित्सालयो मे इन्ही नियमो के आश्रय पर चिकित्सा की जाती है।

भौगोलिक संसार का भी यही हाल है। पहाड़ किस प्रकार उत्पन्न हो गये, पहाड़ो से नदियाँ कैसे निकली? यह नदियाँ एक विशेष दिशा मे ही क्यो बहती हैं। गंगा हिमालय पहाड़ से निकल कर भारतवर्ष मे क्यो आती है? तिब्बत के उत्तर की ओर क्यो नही चली जाती? फिर भारतवर्ष मे भी वह पूर्व की ओर ही क्यो बहती है, पश्चिम की ओर क्यो नही बहने लगती? भारतवर्ष के तीन ओर समुद्र क्यो है चौथी ओर क्यो नही हो जाता। ब्रिटिश टापू, टापू क्यो है? प्राय.द्वीप क्यो नही? समुद्र से जो हवायें उठती हैं वह एक ही ओर क्यो बहती हैं दूसरी ओर क्यों नहीं? इन सबके लिये नियम हैं। और भूगोल सम्बन्धी सभी घटनाओ को इन नियमों का पालन करना पड़ता है।

भूगर्भ विद्या के विद्वानों का भी यही निश्चय है। अमुक पर्वत की भिन्न २ तहें किस प्रकार बन गईं। अमुक टापू की मिट्टी किस किस समय में किस प्रकार बन गई। अमुक स्थान पर किस समय पानी बह रहा था और किस समय पानी हट कर भूमि निकल आई। अमुक २ स्थानों की भूमि के भीतर क्या क्या वस्तुयें उपस्थित हैं इत्यादि इत्यादि प्रश्न भी उसी नियम बद्धता को प्रकट करते हैं जिसका हमने ऊपर वर्णन किया है।

खगोल विद्या क्या कह रही है? पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य्य आदि तारागण, चन्द्र आदि उपग्रह—क्या यह सब बिना नियम के चल रहे हैं? सूर्य्य नित्य ही प्रातःकाल निकलता और सायंकाल को डूब जाता है। यही निकलना और डूबना खगोल सम्बन्धी एक घटना है जो नियम-पूर्वक हो रही है। यह नियम इतना अटल है कि तुम महीनों पूर्व बता सकते हो कि अमुक मास और अमुक तिथि को सूर्य्य अमुक समय पर निकलेगा। तुम्हारी घड़ी में भेद पड़ सकता है परन्तु सूर्य्य के उदय तथा अस्त होने में भेद नहीं पड़ सकता। वस्तुतः घड़ियों का क्रम भी सूर्योदय पर ही निर्भर है। इसी प्रकार चन्द्र भी एक ऐसे कठिन नियम सूत्र से बँधा हुआ है कि उसके निकलने, छिपने, बढ़ने और घटने में कुछ भी भेद नहीं पड़ता। अमुक दिवस इतनी घड़ी चन्द्र रहेगा, अमुक दिवस इतनी घड़ी, अमुक दिन चन्द्र दर्शन न होगा, अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा। यह सब बातें ज्योतिर्विद् कभी न बता सकते यदि कोई विशेष नियम न होता और ज्योतिषियों को उसका पता न होता।

सबसे विलक्षण और दुर्ज्ञेय शास्त्र मनोविज्ञान है। संसार की सभी वस्तुओं के विषय में कुछ न कुछ ज्ञात हो जाता है, परन्तु मनुष्य का मस्तिष्क इतनी भिन्न २ रीतियों से कार्य्य करता है कि कभी २ यह सन्देह हो जाता है कि इसके लिये भी कोई नियम है

या नहीं। मैं स्वयं नहीं जान सकता कि क्षण भर पीछे मेरे मन की क्या गति होगी। फिर दूसरों के मन की गति जानना तो और भी दुस्तर बात है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि मनोविज्ञान के लिये कोई नियम ही नहीं है। मनुष्य का मन कितना ही विलक्षण क्यो न हो इसकी गति के लिये भी अन्य वस्तुओं के समान नियम निर्धारित हैं जिनका पता प्राचीन तथा नवीन मनोविज्ञान-वेत्ताओ ने लगाया हुआ है। आजकल भी अनेको विद्वान् इस शास्त्र के अन्वेषण मे दत्तचित्त हो रहे हैं। मनोविज्ञान के नियमो पर ही वस्तुतः उन सब शास्त्रो का आधार है जो मनुष्य जीवन से सम्बन्ध रखते-हैं, जैसे इतिहास-शास्त्र, कला-शास्त्र, नाट्य-शास्त्र, काव्य, व्याकरण, अर्थ-शास्त्र, समाज-शास्त्र इत्यादि इत्यादि। साधारणतया मनुष्य समझता है कि इतिहास की भिन्न २ घटनायें एक दूसरे से सम्बन्ध नहीं रखती, अकबर का उत्पन्न होना, उसके पिता हुमायूँ का पठानो के पञ्जो से भाग निकलना, पठानों का पुनरुत्थान, फिर उनका पराभव; हुमायूँ तथा अकबर की विजय; यह सब ऐसी बातें नहीं हैं जो अकस्मात् ही हो गई हो और जिनका किसी नियम विशेष से सम्बन्ध ही न हो। इतिहास-शास्त्र के पण्डितो ने पूर्ण अन्वेषण द्वारा इस बात का पता लगाया है कि मनुष्य का मस्तिष्क किन २ अवस्थाओं मे किन किन रीतियो से काम करता है और इसका समस्त जाति या समस्त देश की गति पर क्या प्रभाव पड़ता है तथा उस प्रभाव से इतिहास मे किस किस प्रकार के परिवर्तन होते हैं। वस्तुतः जिस प्रकार भिन्न २ शब्दों के एक साथ रख देने से व्याकरण शास्त्र नहीं बन जाता जब तक कि हम उन नियमों की शृङ्खला को न ढूंढ़ निकालें जो उन शब्दों में व्यापक हैं। इसी प्रकार किसी देश जाति या समाज की दस, बीस, या सौ, दो सौ घटनाओं को जान लेना ही इतिहास नहीं है।

आवश्यकता उन नियमो के अन्वेषण की है जो उन घटनाओ पर शासन कर रहे हैं।

इस प्रकार हमको ज्ञात हो गया कि समस्त ससार मे नियम-वद्धता पाई जाती है। सृष्टि की दूसरी मीमांसनीय वात एकता है। समस्त सृष्टि भिन्न २ रूप और भिन्न २ अवयव रखते हुये भी एक है, इसीलिये अंगरेजी मे इसको (Universe) (यूनीवर्स) अर्थात् इकाई कहते हैं। जिस प्रकार हमारा शरीर सहस्रों छोटे वड़े अवयवो का वना होकर भी उसमें एकता है उसी प्रकार संसार का हाल है। यो तो ससार के असंख्य अवयव है, भूमण्डल, सूर्य्य-मण्डल आदि अनेको मण्डल, इन मण्डलो के अलग अलग विभाग और फिर उन विभागो के उपविभाग, परन्तु यह सब एक ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत आ जाते हैं।

इस एकता का अधिक परिचय उन नियमों पर विचार करने से लग सकता है जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। वस्तुतः **नियम-वद्धता ही एकता का चिह्न है,** क्योंकि नियम का क्या अर्थ है? यही न कि कई भिन्न भिन्न वस्तुये एक प्रकार से कार्य्य करती हैं अर्थात् उनमें एकता है? कल्पना कीजिये कि कृष्ण, गोपाल, राम, मोहन, सोहन आदि दो सौ लड़के नित्य १० वजे पाठ शाला में आया करते है। तो कहते हैं कि शाला मे दश वजे आने का नियम है। क्योंकि इन सव विद्यार्थियो के काम में **एकता** पाई जाती है। परन्तु यदि मोहन ९ वजे आता है, सोहन १० वजे, गोपाल सवा दस वजे, कृष्ण साढ़े ग्यारह वजे, तो क्या कहेंगे? यही न कि शाला मे आने का **कोई नियम नहीं** है चाहे कोई कभी आवे? इसी प्रकार हम देखते हैं कि सोहन उत्पन्न हुआ और मर

गया, मोहन उत्पन्न हुआ और मर गया, चन्द्र उत्पन्न हुआ और मर गया, बस ज्ञात हो गया कि संसार का एक नियम यह भी है कि जो उत्पन्न होता है वह मरता अवश्य है। क्योंकि हम प्रत्येक उत्पन्न होने वाले मनुष्य को मरते अर्थात् एक प्रकार से काम करते देखते हैं।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न वस्तुओं की एक-प्रकार-ता का नाम नियम है उसी प्रकार अनेक नियमों में भी एकता पाई जाती है। जैसे भिन्न भिन्न मनुष्यों को मरते देख कर हमको निश्चय हो गया कि मनुष्य मरणधर्मा है। इसी प्रकार पशुओं को देख कर भी यही ज्ञात हुआ कि पशु मरणधर्मा है, पक्षियों को देखकर भी यह बात मालूम हुई कि पक्षी मरणधर्मा है। अब यह तीन नियम हुये:—

(१) मनुष्य मरणधर्मा है।

(२) पशु मरणधर्मा है।

(३) पक्षी मरणधर्मा है।

कहने को तो यह तीन भिन्न भिन्न नियम हैं। परन्तु वस्तुतः इन तीनों नियमों में भी एक-प्रकार-ता है जिसको हम एक नियम द्वारा ही वर्णन कर सकते हैं अर्थात् सभी प्राणी मरणधर्मा हैं। जहाँ पहले ३ नियम अपने २ वर्ग की भिन्न २ व्यक्तियों में एकता सूचित करते थे वहाँ यह नियम तीनों वर्ग के सभी व्यक्तियों की एकता का द्योतक हो गया। यह बात ज्यामिति के एक उदाहरण से और स्पष्ट हो जायगी। ज्यामिति का एक नियम है कि त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो सम कोणों के तुल्य होते हैं। यह नियम केवल त्रिभुजों के लिये ही है, अर्थात् सभी त्रिभुजों में यह एकता पाई जाती है कि उनके तीनों कोणों का योग दो सम कोणों के बराबर हो। यह

नियम त्रिभुजो मे तो व्याप्त है परन्तु चतुर्भुजो में नही। क्योकि चतुर्भुजा के चार कोणो का योग चार सम कोणो के तुल्य होता है, अब यहां दो नियम हुये.—

(१) त्रिभुजो के तीन कोणो का योग दो समकोण के बराबर होता है।

(२) चतुर्भुजो के चार कोणो का योग चार सम कोणो के तुल्य होता है।

ऊपरी दृष्टि से इन दोनो नियमो मे कोई सादृश्य नहीं है। वह दोनों एक दूसरे से भिन्न भिन्न दिखाई देते है। इसी प्रकार पञ्चभुज-क्षेत्र, षड्-भुजक्षेत्र या सप्तभुज क्षेत्रां के कोणो को नापा जाय तो उनके लिए भी अलग अलग नियम मिलेंगे अर्थात् पञ्चभुजक्षेत्रो के सभी कोण छ. समकोणा के बराबर होंगे, षड्-भुज क्षेत्रो के आठ समकोण के और सप्त-भुज क्षेत्रों के दस समकोणो के। परन्तु इन नियमो मे भी एक समता, एक-प्रकार-ता या एकता है जिसकी व्याप्ति सभी त्रिभुजो, सभी चतुर्भुजो सभी बहुभुज क्षेत्रो मे पाई जाती है चाहे उनमें कितनी ही भुजायें क्यो न हो। अर्थात् कई भिन्न भिन्न नियमो के स्थान मे हम एक नियम दे सकते हैं कि किसी क्षेत्र के सब कोणो का योग उसकी भुजाओ की संख्या के दूने से चार कम समकोणो के बराबर होता है। इस प्रकार हमको ज्ञात हो गया कि जिस त्रिभुज और चतुर्भुज को हम भिन्न भिन्न जातियो वाला समझते थे उनमें एक ऐसा समान नियम मिल गया जिसने त्रिभुज और चतुर्भुज को भिन्न भिन्न जातियो के स्थान मे एक जाति वाला सिद्ध कर दिया।

इसी प्रकार बीज गणित और अङ्कगणित मे क्या भेद है? अङ्कगणित कुछ व्यक्तियो मे व्यापक नियमो का वर्णन करती है। परन्तु बीजगणित उन सब नियमो की एक-प्रकार-ता या सादृश्य

को ढूंढती है। जो नियम ज्यामिति मे केवल त्रिभुजों या चतुर्भुजों मे ही व्यापक है वही नियम बीजगणित मे त्रिभुजों या चतुर्भुजो मे ही नही किन्तु संसार की अन्य वस्तुओं मे भी लागू हो जाता है।

यह सम्बन्ध यही समाप्त नहीं हो जाता किन्तु बहुत आगे तक जाता है। कुछ नियम वनस्पति शास्त्र के हैं। कुछ प्राणिशास्त्र के। परन्तु आगे चल कर यह दोनो जीवन-शास्त्र (Biology) मे मग्न हो जाते हैं। इसी प्रकार रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, जीवन शास्त्र, गणित आदि भिन्न भिन्न शास्त्र मिलकर एक ऐसा शास्त्र बन जाता है जिसके नियम संसार की सभी वस्तुओ पर लागू होते हैं। इसको दर्शन शास्त्र कह सकते है। यह बात कदापि नही हो सकती यदि संसार मे एकता या एक प्रकारता न पाई जाती। वस्तुतः जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा और एक दरिद्र मे एकता है उसी प्रकार मनुष्य, सुअर, कुत्ता, मच्छड़ आदि में एकता है। उसी प्रकार मनुष्य, पत्ता, पत्थर, मिट्टी आदि म एकता है। उसी प्रकार मिट्टी के तुच्छ टुकड़े और प्रकाशवान सूर्य्य मे एकता है।

तीसरी चीज़ जो संसार मे दृष्टिगोचर होती है **प्रयोजन** है। वस्तुतः नियम और एकता व्यर्थ होते यदि प्रयोजन न होता। सब लड़कों के एक साथ शाला मे आने का नियम व्यर्थ नहीं है। इसका प्रयोजन है। प्रयोजन ही इस कार्य्य को सार्थक बनाता है। संसार की सभी वस्तुओ और समस्त घटनाओं से किसी विशेष प्रयोजन की सूचना मिलती है। जहाँ कहीं भिन्नता है उससे भी प्रयोजन की ही सिद्धि होती है। यह प्रयोजन कभी मनुष्य की समझ में आता है और कभी नही आता। परन्तु प्रयोजन है अवश्य। समझने की तो यह बात है कि एक मनुष्य का प्रयोजन दूसरे मनुष्य की समझ मे नही आया करता। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि कोई प्रयोजन है ही नही। एक समय एक यूरोप निवासी

यात्री अरब के बद्दुओं के यहां महमान हुआ। एक दिन प्रातः-काल वह उनके तम्बू के सामने टहलने लगा। बद्दू लोग उसको देख कर हँसने लगे। उन्होंने समझा कि कैसा मूर्ख है कि निष्प्रयोजन एक ओर से दूसरी ओर टहल रहा है। परन्तु उस यात्री का प्रयोजन स्पष्ट ही था। यही हाल संसार का है। यहाँ की सैकड़ो घटनाओं को हम अपने प्रयोजन से मिलाते हैं। जो मिल जाती हैं उसको हम सार्थक कहते हैं और जो नहीं मिलती उसको व्यर्थ निरर्थक। वस्तुत. यही हमारी भूल है। यह जानना हमारे लिये कठिन है कि प्रयोजन क्या है। परन्तु संसार की गति ही बताती है कि प्रयोजन है अवश्य।

एक बड़ी मशीन की ओर दृष्टि डालिये। इसमे आपको सहस्रों पुर्जे मिलेगे। कोई बहुत बड़ा, कोई छोटा। कोई लम्बा, कोई गोल, कोई सीधा, कोई टेढ़ा। इन पुर्जों मे परस्पर इतनी भिन्नता है कि किसी विशेष नियम या समानता का जानना कठिन है। परन्तु मशीन बनाने वाले के मस्तिष्क से पूछो। सब से पहिले उसमे एक प्रयोजन था। बनानेवाला चाहता था कि अमुक काम की सिद्धि हो सके चाहे वह कपड़ा बुनना हो, चाहे पुस्तकें छापना और चाहे आटा पीसना। इस प्रयोजन ने कल के निर्माता को प्रेरणा की कि वह कई भिन्न २ पुर्जों को बनावें और उनको इस प्रकार मिलावे कि उसके प्रयोजन की सिद्धि हो सके। यह सब पुर्जे न तो बराबर है और न एक प्रकार के और न वे सब के सब एक साथ जुड़े हुये हैं। यदि ऐसा होता तो कल न बन सकती। असमान होने पर भी यह एक दृष्टि से समान हैं अर्थात् यह सब एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति करते हैं। इनकी उपयोगिता कल की उपयोगिता पर है। कल का चलाना ही इनका उद्देश्य है। बहुत से पुर्जे इनमे छोटे और देखने मे भद्दे लगते हैं। इनके स्थान पर

बड़े और सुन्दर पुर्जे बनाये जा सकते हैं परन्तु उन सुन्दर पुर्जों का उपयोग ही क्या जो उस कल को चलाने में सहायता नही दे सकते। कल बनानेवाले से कहो कि हम अमुक पुर्जे के बदले बहुमूल्य, बड़ा तथा सुन्दर पुर्जा देंगे। तो वह कहेगा कि मुझे न बहुमूल्य पुर्जा चाहिये न सुन्दर। मै तो उस पुर्जे को चाहता हूँ जो मेरी कल को सुगमता से चला सके। मेरे लिये वही पुर्जा सुन्दर, वही बड़ा और वही बहुमूल्य है जो कल को चलाने रूप उद्देश्य की पूर्त्ति कर सके। जो दशा इस कल की है वही दशा समस्त ब्रह्माण्ड की है। यह जगत एक मुख्य प्रयोजन के लिये बनाया गया है। इसकी छोटी छोटी घटना भी निष्प्रयोजन नहीं है। इसमे बहुत सी वस्तुयें हैं जो लोगो को बुरी या भद्दी मालूम होती हैं। इसमे बहुत सी घटनायें है जिनको मनुष्य हानिकारक समझता है। परन्तु कारण यह है कि वह अपने कल्पित प्रयोजन को ही सृष्टि का भी प्रयोजन समझता है। इसलिये यदि कोई घटना उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं करती तो वह समझता है कि जगत का कोई प्रयोजन नही है। सृष्टि रचना की त्रुटियो को कई लोगो ने भिन्न भिन्न प्रकार से वर्णन किया है। एक संस्कृत का कवि कहता है।

गन्धं सुवर्णे फलमिक्षुदण्डे नाकारि पुष्पं खलु चन्दनेषु।
विद्वान् धनाढ्यो नृपदीर्घजीवी धातुस्तदा कोऽपि न बुद्धिदोऽभूत्

कि "सृष्टि के रचयिता को किसी ने इतनी बुद्धि भी नहीं दी कि वह सोने मे गन्ध, ईख मे फल और चन्दन मे फूल लगाता या विद्वान को धनाढ्य और राजा को दीर्घायु बनाता"। ऐसे सोने मे सुगन्ध ढूँढ़ने वाले लोगो को याद रखना चाहिये कि यदि सोने में सुगन्ध होती तो धनाढ्य पुरुष सुन्दर पुष्पों का कब मान करते। सोने का रूप और पुष्पों की सुगन्ध यह दोनों अलग अलग अपना

कार्य्य करते हुये जगत् के प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। रोबर्ट फ्लिएट महोदय (Robert Flint) अपनी आस्तिकता (Theism) नामी पुस्तक के पृष्ठ १३८ पर लिखते हैं :—

"जिस मण्डल का हमारी पृथ्वी एक अवयव मात्र है वह अति विशाल, विचित्र तथा नियमित है। जिन ग्रहो तथा उपग्रहों से यह वना हुआ है इनका परिमाण, इनका स्थूलत्व, इनकी दूरी, इनकी प्रगति तथा इनके मार्ग का तल यह सव इस प्रकार से मिलाये गये हैं कि समस्त मण्डल सुरक्षित और सुदृढ़ वन गया है और इसके अवयव एक दूसरे से इसी प्रकार व्यवहार करते हैं जैसे किसी प्राणी के शरीर के अवयव। उदाहरण के लिये हमारा अपना ही ग्रह (अर्थात पृथ्वी) सूर्य और चन्द्र के साथ इस प्रकार सम्बद्ध है कि वीज वोने और खेत काटने के समयो मे वाधा नही पड़ती और समुद्र के ज्वार भाटे हमको कभी धोखा नही देते। फिर यह सूर्य्य मण्डल करोड़ो मण्डलों मे से एक है। इनमे से वहुत से तो इससे असंख्य गुने वड़े हैं। फिर यह करोड़ो और अरवों सूर्य्य और तारा गण जो आकाश मे इधर उधर विखरे हुये हैं परस्पर इस प्रकार जुड़े हुये हैं और एक दूसरे से ऐसे सम्बद्ध हैं तथा गणित के गूढ़तम नियमो के इतने अनुकूल हैं कि उनसे प्रत्येक की रक्षा होती है और प्रत्येक स्थान में साम्य तथा सौन्दर्य दिखाई देता है। प्रत्येक ग्रह दूसरे के मार्ग पर प्रभाव डालता है। प्रत्येक कोई न कोई ऐसा कार्य्य कर रहा है जिसके विना न केवल वही किन्तु समस्त मण्डल नष्ट हो सकता था। परन्तु यह समस्त मण्डल इतनी विलक्षणता से वना हुआ है कि जो घटनायें देखने मे भयानक और विघ्नरूप प्रतीत होती हैं वह वस्तुतः उसको नष्ट होने से रोकती तथा विश्व की दृढ़ता का साधन होती हैं। क्योंकि वह परस्पर अपनी शक्तियों को

इस प्रकार व्यय करती हैं कि एक नियत समय मे उनमे सहयोग हो जाता है।"‡

यह सहयोग ही वस्तुतः विशाल जगत् के विशाल प्रयोजन को सूचित करता है। इस विशाल प्रयोजन के अन्तर्गत बहुत से छोटे छोटे प्रयोजन भी हैं जिनको अलग अलग देखने से उनमें कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। परन्तु जब हम उस विशाल प्रयोजन पर दृष्टि डालते है तो उन छोटे प्रयोजनो की उपयोगिता भी समझ मे आ जाती है। जैसे मनुष्य की सांस से दुर्गन्ध वायु बाहर

---

‡The system of which our earth is a member is vast, varied, and orderly, the planets and satellites of which it is composed being so adjusted as regards magnitude and mass, distance, rate, and plane of direction &c., that the whole is stable and secure, while part ministers to part as organ to organ in an animal body. Our own planet, for example is so related to the sun and moon that seed time and harvest never fail, and the ebb and flow of the tides never deceive us And the solar system is but one of hundreds of millions of systems some of which are incalculably larger than it, yet the countless millions of suns and stars thus "profusely scattered o'er the void immense" are so arranged and distributed in relation to one another, and in accordance with the requirements of the profoundest mathematics, as to secure the safety of one and all and to produce everywhere harmony and beauty.. Each orb is affecting the orbit of every other, each is doing what, if unchecked, would destroy itself and the entire system, but so wonderously is the whole constructed that these seemingly dangerous disturbances are the very means of preventing destruction and securing the universal welfare, being due to reciprocally compensating forces which in given times exactly balance one another

निकलता है। उस दुर्गन्ध वायु का मनुष्य के जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। अतः हम कह सकते है कि यदि हमारा शरीर इस प्रकार बना होता कि हम दुर्गन्ध वायु को बाहर न छोड़ते तो अच्छा होता। परन्तु इसी दुर्गन्ध वायु से वनस्पतियों की संवृद्धि होती है और यही वनस्पतियां हमारे शरीर की वृद्धि का कारण होती है। इस प्रकार जिस वस्तु को हम एक अपेक्षा से हानिकारक मानते हैं वह दूसरी अपेक्षा से लाभदायक सिद्ध हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य-शरीर से दुर्गन्ध युक्त सांस निकालने के समय यह भी विचार लिया गया था कि वनस्पतियों के लिये किस प्रकार भोजन सम्पादित होगा। एक छोटे से फूल की उपयोगिता का पता लगाना हो तो हमको संसार के कई विभागो की ओर देखना चाहिये। मनुष्य के दृष्टिकोण से वह फूल उसकी आंखो की तृप्ति करता है। यदि उसमे सुगन्ध है तो नासिका के लिये भी आह्लाद-कारी होता है। वैद्य लोग उसी फूल का औषधियों मे प्रयोग करते है, चित्रकार उससे चित्रकारी सीखते है। रंगरेज उससे रंग निकालते है। कवि अपने कविता कलाप मे उससे सहायता लेते है। परन्तु मनुष्य के प्रयोजनो से भिन्न भी बहुत से प्रयोजन है जिनकी सिद्धि मे वह फूल सहायक होता है। जैसा भौरा उसका रस चूसता है। शहद की मक्खियां शहद निकालती है। तितलियाँ फूल पर बैठ कर आनन्द लेती हैं। फिर वही फूल इतने प्रयोजन की सिद्ध करने के अतिरिक्त अपने वृक्ष की सन्तति की रक्षा के लिये बीज उगाता है। यह एक छोटे से फूल का काम है। इसी प्रकार हम संसार की सभी वस्तुओं के विषय में सोच सकते हैं।

हमने यहाँ यह दिखलाने का यत्न किया है कि सृष्टि में हमको नियम-बद्धता, एक-प्रकार-ता और प्रयोजन दिखाई पड़ते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त एक और चीज है जिस पर ध्यान न देने से हम

सृष्टि की रचना के विषय मे अधिक न सोच सकेंगे। वह है इसकी विशालता। यह जगत् कितना विशाल है ? इसका अनुमान हम लगा ही नही सकते। वस्तुतः यदि इसकी विशालता का अनुमान हम कर पाते तो इसको विशाल कहने के लिये कभी उद्यत न होते। शायद इसीलिये जगत् को ब्रह्माण्ड के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि ब्रह्म नाम है बड़े का और अण्ड नाम है मण्डल का। यह विश्व मण्डल अत्यन्त बड़ा और विशाल होने से ही ब्रह्माण्ड कहलाता है।

जगत् की विशालता एक अपेक्षा से नही किन्तु सभी अपेक्षाओं से है। यदि लम्बाई चौड़ाई की दृष्टि से देखो तो हमारा मन भी उन गजों की कल्पना नही कर सकता जिनसे सृष्टि नापी जा सके। मनुष्य ने समस्त पृथ्वी पर चक्कर लगा कर उसको नाप डाला। भूगोल वेत्ताओं का कथन है कि पृथ्वी की परिधि २५ हजार मील है। प्रथम तो २५ हजार मील की कल्पना करना भी कोई सुगम बात नही है। मनुष्य का अपना शरीर तो पांच छः फुट से बड़ा नहीं है। फिर इस की दृष्टि भी बहुत दूर तक नही पहुँचती। २५ हजार मील का अनुभव भी दुस्तर ही है। हां कुछ अनुमान और कुछ कल्पना शक्ति से वह अपने भूमण्डल के एक अंश को जान सकता है। परन्तु फिर भी कौन कह सकता है कि यह पृथ्वी विशाल नहीं है। हिमालय पर्वत की तलहटी में खड़े होकर पर्वत की ओर दृष्टि डालिये। स्वयं अपनी ओर ध्यान दीजिये और फिर पर्वत से अपनी तुलना कीजिये। तुलना तो पीछे की जायगी। आंख उठाते ही मनुष्य के हृदय मे पर्वत की विशालता के भाव उत्पन्न होने लगते हैं। कितना लम्बा, कितना चौड़ा, और कितना ऊँचा पहाड़ है। ओहो ! आंख को चकाचौंध आता है। बुद्धि चकित हो जाती है और मस्तिष्क चकराने लगता है। यह है एक पहाड़ की

विशालता। परन्तु पृथ्वी पर अनेक पहाड़ ऐसे ही हैं। फिर जहाज़ मे बैठ कर समुद्र पर जाइये। प्रथम तो जहाज़ भी कुछ कम विशाल नहीं है। इसकी विशालता पर मनुष्य को अभिमान है। परन्तु समुद्र के सामने जहाज़ क्या है ? पहाड़ के सामने चींटी के समान भी तो नहीं। महीनो समुद्र पर यात्रा करते चले जाइये और पार नहीं मिलता। यह पृथ्वी के एक भाग की विशालता है। परन्तु क्या पृथ्वी संसार की विशालतम वस्तु है ? क्या इससे बड़ी चीज़ ससार मे है ही नहीं ? यह बात नहीं। कल्पना कीजिये कि आप पृथ्वी के गोले को इस प्रकार तोड़ डालें जैसे बच्चा एक लड्डू को तोड़ता है। और पृथ्वी के समान १३ लाख गोलों को इसी प्रकार तोड़ते जाय। कुछ '१३ लाख' संख्या पर भी ध्यान रखिये क्योंकि '१३ लाख' सख्या भी कुछ कम विशाल नहीं है। अब इस विशाल पृथ्वी के समान १३ लाख विशाल गोलो को तोड़ कर एक गोला बनावें तो वह गोला आपके उस सूर्य के समान होगा जो प्रातः काल आपको एक छोटे से वृत्त के समान दिखाई पड़ता है। फिर क्या एक ही सूर्य है ? खगोल विद्या विशारदों से पूछो। वह कहते हैं कि करोड़ो सूर्य हैं। करोड़ों सितारे हैं जो आकाश मे छोटे २ दीपकों के समान प्रतीत होते हैं परन्तु वह पृथ्वी से बहुत बड़े हैं। और उनके प्रकाश की एक किरण को पृथ्वी तक पहुँचते हुए सैकड़ों वर्ष लग जाते हैं यद्यपि प्रकाश की चाल एक सेकंड मे कई लाख मील है।

यह तो हुई लम्बाई चौड़ाई की बात। सूक्ष्मता की दृष्टि से भी ससार इतना ही विशाल है। वस्तुओं को तोड़ तोड़ कर सूक्ष्म करते जाइये। एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ हमारी कल्पना शक्ति भी थक जाती है और उसके आगे नहीं जा सकती। पानी को गर्म करते हैं तो उसके कण भाप या धुएँ की आकृति मे हमारे सामने

नाचने लगते है। यदि अधिक गर्म किया जाय तो वह कण भी दृष्टि से अतीत हो जाते हैं। इस प्रकार हमको पता नहीं चलता कि कितनी सूक्ष्म वस्तुयें संसार मे उपस्थित हैं। जहाँ बड़े से बड़े जन्तु को देख कर हम चकित होते हैं वहाँ अति छोटे जन्तु को देख कर भी हमे उतना ही आश्चर्य होता है। चींटी हाथी से कुछ कम प्रभाव उत्पादक वस्तु नहीं है।

नियमो की विशालता भी विलक्षण हीहै। यदि आप किसी एक शास्त्र को उठा लें तो उसी मे अनेको नियमों का वर्णन मिलेगा। फिर असंख्य शास्त्र हैं उनके नियम भी असंख्य ही हैं। विज्ञाननेत्ता इन नियमो को खोजने और उनका वर्गीकरण करने में अति प्राचीनकाल से लगे हुए हैं और अब भी बहुत से नये नये नियम निकलते आते हैं। इससे सिद्ध होता है कि सृष्टि एक विशाल वस्तु है।

कुछ लोग शायद कहने लगें कि कई छोटी छोटी वस्तुओं के मिलने से ही एक बड़ी वस्तु बन जाती है। जैसे पहाड़ क्या है? मिट्टी के बहुत से छोटे छोटे कणो का एक समूह है। समुद्र क्या है? पानी के छोटे छोटे विन्दुओ का एक कोष है। इसलिए विशालता पर इतना वल क्यो दिया जाय? परन्तु यह उनकी भूल है। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो मनुष्यो के मस्तिष्क पर विशालता का प्रभाव ही कुछ अन्य पड़ता है। इसमे सन्देह नहीं कि जल के वहुसंख्य विन्दुओ से मिल कर ही समुद्र बनता है। परन्तु समुद्र सामूहिक रूप मे वस्तु ही कुछ और है। यदि समुद्र विलक्षण वस्तु न होती तो वह मनुष्य पर इतना प्रभाव क्यो डालती। पृथ्वी के छोटे छोटे कणो का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता, जो एक महान् पर्वत का पड़ता है। यदि तुम एक सहस्र मनुष्यो की सेना को देखो तो और प्रभाव पड़ेगा और यदि उसी सेना के एक एक मनुष्य को

अलग अलग देखो तो और। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि विशालता कुछ कम ध्यान देने योग्य वस्तु है। वस्तुतः ससार की विशालता इतनी ही विलक्षण है जितनी उसकी एकता या नियम बद्धता या प्रयोजन। यदि विशालता को ससार से निकाल लिया जाय तो अन्य गुण भी उतने विलक्षण नही रहते। मनुष्य की बनाई हुई अद्भुत वस्तुओ और सृष्टि की अद्भुत वस्तुओ मे एक बड़ा भेद यह पाया जाता है कि सृष्टि की वस्तुयें मनुष्यकृत वस्तुओ की अपेक्षा हर एक बात मे विशाल हैं।

कभी कभी मनुष्यकृत वस्तुयें भी हमको चकित कर देती हैं। जैसे बिजुली की रोशनी हमको चन्द्रमा की रोशनी से अधिक आश्चर्य-जनक प्रतीत होती है। मनुष्य का बनाया हुआ एक कागज का तोता असली तोते से अधिक अद्भुत प्रतीत होता है। मनुष्य के बनाये हुये आकाशयान (Aeroplane) को देखकर हम अधिक आश्चर्यमय होते है। परन्तु यह आश्चर्य हमको मनुष्यकृत वस्तुओ की विशालता के कारण नही होता किन्तु मनुष्य की बुद्धि की अल्पता के कारण होता है। यदि एक-दो वर्ष की आयु का बालक किसी प्रौढ़ व्याख्याता के समान या उससे आधा या दशवॉ भाग भी व्याख्यान देने लगे तो हम चकित रह जायंगे, इसलिये नहीं कि वह बालक प्रौढ़ व्याख्याता से बढ़ गया। किन्तु केवल इस लिये कि इतने अल्पवयस्क बालक से इतने व्याख्यान की आशा न थी। यही हाल मनुष्यकृत वस्तुओ का है। मनुष्य की बुद्धि की अल्पता का विचार करके बिजुली की रोशनी एक आश्चर्य-जनक पदार्थ मालूम होती है। वस्तुतः वह चॉद की रोशनी से अधिक विशाल नहीं और न वायुयान ही पक्षियों के शरीरो से अधिक विशाल हैं। गम्भीर दृष्टि से देखा जाय तो बुद्धिमान् मनुष्य की

कारीगरी सृष्टि की कारीगरी की सहस्रांश भी नहीं है, जो सम्बन्ध गागर को सागर से है वही मनुष्य-कृत वस्तुओं का सृष्टि की अमानुषी वस्तुओं से है।

चौथा अध्याय

सृष्टि कर्त्ता

गत अध्याय में हम बता चुके हैं कि सृष्टि में नियम बद्धता, एकता, प्रयोजना तथा विशालता पाई जाती है। इससे पूर्व हमने यह सिद्ध किया था कि सृष्टि एक कार्य है। इसका आरम्भ है अर्थात् एक समय था जब सृष्टि न थी, फिर एक समय आया कि सृष्टि उत्पन्न हुई। अब प्रश्न होता है कि इस सृष्टि का कोई कर्त्ता है। यदि सृष्टि किसी ने बनाई है तब तो आस्तिकता सिद्ध है। यदि नहीं बनाई तो आस्तिकवाद केवल कल्पना मात्र है।

इस विषय में चार प्रकार के मत हैं:—

(१) सृष्टि स्वभाव से बन गई। इसका बनानेवाला कोई नहीं, बिना बनाने वाले के ही यह अनादि काल से बनती और बिगड़ती चली आती है।

(२) कुदरत या नेचर ही सृष्टि का कारण है।

(३) सृष्टि की यह रचना आकस्मिक है।

(४) सृष्टि के रचने वाली एक ज्ञानमय सत्ता है जो किसी प्रयोजन विशेष की सिद्धि के लिये सृष्टि बनाती और बिगाड़ती है।

पहले तीन मत **नास्तिकवाद** से सम्बन्ध रखते हैं चौथा आस्तिकों का मत है। इस चौथे मत की भी भिन्न भिन्न शाखायें हैं। परन्तु उन सब का आदि मूल सृष्टि का कार्य्यत्व ही है।

हम यहाँ क्रमपूर्वक एक एक को लेते हैं।

यह तो निस्सन्देह बात है कि प्रत्येक कार्य्य के लिये कारण चाहिये और कारण भी एक नहीं किन्तु तीन। एक घड़े को लीजिये। इसका **उपादान कारण** मिट्टी है क्योंकि मिट्टी का परिवर्त्तित रूप ही घड़ा है। **निमित्त कारण** कुम्हार है जो मिट्टी को घड़े के रूप मे बनाता है। तीसरा **साधारण कारण** चाक, समय तथा देश हैं जिनके द्वारा या जहाँ घड़ा बनाता है। इनमे समय, देश आदि तो सभी घटनाओं मे सामान्य हैं क्योंकि जब हम किसी घटना का विचार करते है तो उसके साथ साथ यह बात स्वयं ही विचार मे आ जाती है कि वह घटना अमुक देश अथवा अमुक काल मे हुई होगी। परन्तु करण अर्थात् वह साधन जिनसे क्रिया की जाती है (जैसे घड़े के लिये चाक) कभी कभी निमित्त कारण से इतर होते हैं और कभी नहीं, जैसे लिखने के लिये तो मुझे लेखनी की आवश्यकता है, परन्तु किसी को मारने के लिये मेरा हाथ ही पर्य्याप्त है। यहाँ हाथ ही करण होगा यद्यपि हाथ मेरे शरीर का अर्थात् मेरा ही एक अङ्ग है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यदि निमित्त कारण मे बिना विशेष करण को प्रयोग किये हुये क्रिया करने की शक्ति है तो उसके लिये अलग से कोई करण नहीं चाहिये, केवल निमित्त कारण की शक्ति ही करण का भी काम देगी।

मिल महोदय का जो कथन हमने गत अध्याय मे उद्धृत किया है उसके अनुसार सृष्टि एक रचा हुआ पदार्थ है अर्थात् सृष्टि

रचना एक प्रकार की घटनाओं या असंख्य क्रियाओं का समूह है जो समय समय पर हुआ करती हैं। यह क्रियायें अनेक हैं एक नही, जिसको हम एक क्रिया कहते हैं वह भी अनेक क्रियाओं की शृङ्खला मात्र है। जैसे हम कहते है कि "राम लखनऊ से आया है"। यहाँ आना, साधारण दृष्टि से तो एक क्रिया है परन्तु गम्भीर दृष्टि से असंख्य क्रियायें हैं जिनको हमने 'आने' इस एक नाम से पुकारा है। "लखनऊ से आने" कि लिये कितनी क्रियाओं की आवश्यकता हुई होगी ? प्रथम मन में प्रेरणा का उत्पन्न होना, फिर मन का इस प्रेरणा पर विचार करना, फिर निश्चय करना, फिर उठना, फिर एक पैर बढ़ाना, फिर दूसरा, फिर तीसरा, इत्यादि। जब एक साधारण काम मे इतनी क्रियायें सम्मिलित है तो इस विशाल सृष्टि की एक एक क्षण मे होने वाली क्रियायें भी असख्य ही होंगी। 'नदी वहती है', या "हवा चलती है" यह एक क्रिया नहीं है। नदी के वहने के लिये असख्य जल विन्दुओं को एक क्षण में न जाने कै बार गति करनी पड़ती है। इसी प्रकार वायु के परमाणुओं की दशा है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विशाल क्रिया-जाल का कोई कर्त्ता है या नहीं। अर्थात् क्या इसका कोई निमित्त कारण भी है जैसे घड़े का कुम्हार होता है। आस्तिकों और नास्तिकों मे इस विषय मे भिन्न २ मत हैं। सृष्टि मे जितना क्रिया-जाल पाया जाता है उसके दो मुख्य विभाग किये जा सकते हैं **एक वह क्रियायें जिनको चेतन प्राणी किया करते हैं**, जैसे पुस्तक लिखना, मकान बनाना, घोसला बनाना, रोना, हँसना, चलना, दौड़ना, इत्यादि। इन क्रियाओं के निमित्त कारण हमको कहीं तो प्रत्यक्ष दीखते हैं और कहीं हम उनका अनुमान कर लेते हैं। जैसे मेरे सामने एक कुम्हार घड़ा बना रहा है। यहाँ घड़े के निर्माता के विषय मे कोई

शंका ही नहीं रहती। क्योंकि "प्रत्यक्ष किं प्रमाणम्"। परन्तु जो घड़ा मैंने बाज़ार से मोल लिया है उसको प्रत्यक्ष बनते नहीं देखा। इसके लिये मैं अनुमान कर लेता हूँ कि जिस प्रकार मैंने पहले प्रत्यक्ष किया था कि घड़ा बनाने के लिये कुम्हार चाहिये इसी प्रकार इस घड़े का निर्माता भी कोई न कोई कुम्हार होगा। यदि वृक्ष पर हम कोई घोंसला देखते हैं तो उसके विषय मे भी हमारा यही अनुमान होता है कि इसको किसी न किसी पक्षी ने बनाया है।

कुछ लोग जैसे चारवाक मतानुयायी "अनुमान प्रमाण" को ही नहीं मानते। वह कहते हैं कि

"अविनाभावस्य दुर्बोधतया नानुमानाद्यवकाशः। धूमादि ज्ञानानन्तर मग्न्यादिज्ञानप्रवृत्तिः प्रत्यक्षमूलतया भ्रान्त्या वा युज्यते,,।

(सर्वदर्शन संग्रह चार्वाक दर्शनम्)

अर्थात् जिस व्याप्ति के आधार पर अनुमान प्रमाण माना गया है वही सिद्ध नहीं होती तो अनुमान को प्रमाण कैसे माना जाय। "जहाँ धुआं है वहां अग्नि है" यह हेतु और साध्य का साहचर्य नियम सिद्ध नही होता। जहाँ "अग्नि है वहाँ धुआं है" बात हमने एक बार, दो बार, दस बार देखी है। परन्तु इसका हमारे पास क्या प्रमाण है कि भूत या भविष्य में इसका अपवाद नही मिलेगा[1]। इस विषय मे हम इस स्थान पर यही कहते हैं कि प्रथम तो चारवाको के पास "अनुमान प्रमाण न मानने" रूप अपने कथन के लिए कोई प्रमाण ही नहीं है। क्योंकि अनुमान, उपमान, शब्द आदि

---

[1] तस्य संप्रयुक्तविषयज्ञानजनकत्वेन भवति प्रसरसभवेऽपि भूतभविष्य तोस्तद संभवेन सर्वोपसहारवत्या व्याप्तेर्दुर्ज्ञात्वात्—सर्वदर्शनसंग्रह।

अन्य प्रमाण तो वह मानते नही केवल प्रत्यक्ष मानते हैं। अकेले प्रत्यक्ष के आधार पर उनका कथन सिद्ध नहीं होता। दूसरे चारवाको के व्यवहार से भी यही सिद्ध होता है कि उनका मस्तिष्क उनको 'अविनाभाव' मानने के लिये मजबूर करता है जब वह कहते हैं कि

अङ्गनालिङ्गनाजन्यसुखमेव पुमर्थता।

अर्थात् "स्त्री गमन से उत्पन्न हुआ सुख ही पुरुषार्थ है" तो प्रश्न यह होता है कि 'सुख' और 'स्त्री गमन' का अविनाभाव सम्बन्ध उनको माननीय है या नही। यदि माननीय नही और यदि भूत या भविष्य मे उसका अपवाद संभव है तो उनका यह उपर्युक्त कथन असिद्ध हुआ। यदि माननीय है तो फिर 'अविनाभाव' मानने के पश्चात् अनुमान प्रमाण मानने मे आपत्ति ही क्या रह जाती है? प्रत्येक पुरुष चाहे वह चारवाक हो या अन्य कोई, अपनी जीवन यात्रा के सभी कार्य्यों को अनुमान ही के आश्रय पर करता है। चारवाकानुयायियो के घर मे रोटी इसीलिये पकती होगी कि उन्होने अनुमान से यह जान लिया है कि भूख अवश्य लगेगी और इसके लिये रोटी की आवश्यकता है। 'रोटी खाने' और भूख निवारण होने मे जो व्याप्ति सम्बन्ध है वह भूत और भविष्य के लिये भी इतना ही ठीक है। और न केवल दूसरों के लिये किन्तु चारवाकों के लिये भी। मनुष्य या किसी प्राणी की कार्य्य करने मे प्रेरणा भी तभी होती है जब वह अनुमान को प्रमाण मानकर निश्चय कर ले कि अमुक क्रिया का अमुक फल होगा। अनुमान के न मानने से प्रत्यक्ष की भी उपयोगिता नहीं रहती। प्रत्यक्ष तो वर्त्तमानकाल मे होता है। और उसके आधार पर भविष्य की स्कीम बनाई जाती है। अतः अनुमान प्रमाण मानना

न केवल आस्तिकवाद के लिये किन्तु प्रत्येक कार्य्य के लिये आवश्यक है।

अनुमान की प्रामाण्यता का प्रश्न उठाने से पूर्व हम कह रहे थे कि मनुष्यकृत या अन्य प्राणिकृत वस्तुओ या क्रियाओ को देखकर हम अवश्य अनुमान कर लेते हैं कि इनका कर्त्ता कोई है। इस विषय मे आस्तिको और नास्तिको मे कोई मतभेद नही है। जिस प्रकार एक आस्तिक किसी मेज़ को देखकर समझता है कि इसे किसी न किसी बढ़ई ने अवश्य बनाया है इसी प्रकार नास्तिक का भी यही विचार होता है। अब केवल वह पदार्थ या क्रियायें रह जाती हैं जिनका बनाना किसी प्राणी द्वारा सम्भव नही है जैसे वृक्ष का उगना, सूर्य्य का निकलना, भूकम्प का आना इत्यादि। प्रश्न यह है कि इनका कोई कर्त्ता माना जाय या नही। यह सब क्रियायें साध्य कोटि मे हैं। पहले प्रकार की क्रियायें सिद्ध कोटि मे हैं। अर्थात पहले प्रकार की क्रियाओ के विषय मे यह सिद्ध हो चुका है कि उनका बनानेवाला अवश्य है। दोनों पक्षो को यह बात स्वीकृत है। दूसरे प्रकार की क्रियाओ के विपयो मे मतभेद है। आस्तिको की युक्ति यह है कि जिस प्रकार पहले प्रकार की सभी क्रियाओं के लिये कर्त्ता की आवश्यकता है उसी प्रकार दूसरे प्रकार की क्रियाओ के लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता होनी चाहिये। पहले प्रकार की क्रियाओ और उनके कर्त्ताओ का अविनाभाव सम्बन्ध निश्चित है। यह प्रत्यक्ष से सिद्ध कर लिया गया है। प्रश्न यह है कि क्या इस युक्ति को दूसरे प्रकार की वस्तुओ या क्रियाओ पर घटाया जाय। मेरी समझ मे कोई ऐसा कारण नही है कि यह युक्ति घटाई न जा सके। जब हमको यह सिद्ध हो गया कि प्रत्येक क्रिया के लिये कर्त्ता की आवश्यकता है तो भूकम्प आदि सृष्टि रचना सम्बन्धी जितनी क्रियायें हैं उनके लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता

है। नास्तिक कहते हैं कि पहली प्रकार की क्रियाओ के लिये तो कर्त्ता की आवश्यकता है परन्तु दूसरे प्रकार की क्रियाओ के लिये नहीं। अर्थात् मेज़ के लिये तो बढ़ई की आवश्यकता है परन्तु पर्वत के लिये नही। लोटे के लिये ठठेरे की ज़रूरत है परन्तु तड़ाग या नदी या समुद्र के लिये नही। हम उनसे पूछते हैं कि इसके लिये तुम्हारे पास कोई दृष्टान्त है। तो वह 'साध्य कोटि' की क्रियाओ मे से ही कुछ दृष्टान्त दे देते है। परन्तु याद रखना चाहिये कि जब समस्त संसार की क्रियाओ के दो वर्ग हो गये एक **'प्राणिकृत'** जो "सिद्धकोटि" मे है। दूसरे **'अप्राणिकृत'** जो 'साध्य कोटि' मे हैं। तो सिद्ध कोटि की वस्तुये तो दृष्टान्त का काम दे सकती है परन्तु साध्य कोटि की नही। किसी पक्ष को यह अधिकार नही है कि 'साध्यकोटि' की किसी वस्तु को दृष्टान्त के रूप मे उपस्थित कर सके। न्याय का यह नियम है कि

लौकिक परीक्षकाणॉ यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः।

अर्थात् दृष्टान्त वही है जो दोनो पक्षो को माननीय हो। नास्तिको के पास अपने पक्ष के सिद्ध करने के लिये कोई दृष्टान्त है ही नही। अधिक स्पष्ट करने के लिये सोचना चाहिये कि साध्य यह है कि "सूर्य्य आदि का भी कोई कर्त्ता अवश्य है।" आस्तिक इसके लिये हेतु देता है कि जिस प्रकार "मेज़ के लिये बढ़ई की आवश्यकता है" उसी प्रकार सूर्य्य के लिये भी कर्त्ता की आवश्यकता है। यहाँ मेज़ का दृष्टान्त नास्तिक और आस्तिक दोनो को माननीय है। परन्तु नास्तिक कहता है कि "सूर्य्य आदि के लिये कर्त्ता की आवश्यकता नही जैसे कि "नदी के बहने के लिये बहाने वाले की आवश्यकता नही"। यहाँ नदी का दृष्टान्त जो नास्तिक ने दिया वह 'सिद्ध कोटि' मे नहीं किन्तु साध्यकोटि मे है क्योकि उसको आस्तिक नही मानता। आस्तिक के लिये तो 'नदी का

बहना', और 'सूर्य्य का निकलना' यह दोनों एक ही कोटि में हैं। इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नही बैठता। नास्तिक सिद्धकोटि से दृष्टान्त लेना नहीं चाहता क्योंकि सिद्धकोटि के जितने दृष्टान्त हैं वह उसके मत के घातक है पोषक नहीं। 'साध्यकोटि' से दृष्टान्त लेने का उसे अधिकार नही। सिद्धकोटि अर्थात् प्राणि-कृत क्रियायें और 'साध्यकोटि' अर्थात् अप्राणिकृत क्रियायें इन दोनो वर्गों के बाहर नास्तिक को कोई दृष्टान्त मिल ही नही सकता। अतः स्पष्ट है कि नास्तिको का पक्ष निर्बल है। यदि वह यह मानते हैं कि बिना घड़ीसाज़ के घड़ी नही बन सकती या बिना बढ़ई के मेज़ नही बन सकती तो उनको यह भी मानना अवश्य चाहिये कि विना चेतन सत्ता के पहाड़ और नदियाँ तथा सूर्य और चाँद भी नही बन सकते।

कुछ लोगो ने कारण और कार्य के सम्बन्ध मे आपत्ति की है। वह कहते हैं "कारण क्या है? दो घटनाओ मे जो पहली घटना है उसे कारण और पिछली को कार्य कहते हैं? इससे अधिक कार्य और कारण का कोई सम्बन्ध ही नही।" यदि कार्य और कारण का सम्बन्ध सिद्ध नही होता तो आस्तिकता की भित्ति धम से नीचे आ पड़ती है। इस विषय मे एक महाशय लिखते हैं:—

"जोन स्टुअर्ट मिल ने ह्यूम की एक पुरानी युक्ति को लेकर और बढ़ा कर हमे यह निश्चय कराने का यत्न किया है कि कारण का इससे अधिक और कोई अर्थ नही कि 'सदा पहले होने वाला'। वह कहते हैं कि यदि एक घटना सदा दूसरी घटना के ठीक पहले होती है तो वे दोनों हमारे मन मे इस प्रकार सम्बद्ध हो जाती हैं कि हम पहली को दूसरी का करण समझने लगते हैं"।‡

---

‡John Stuart Mill taking up and extending an old argument of Humes tried very hard to persuade us that it really meant nothing more than

परन्तु यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो यह मनोविज्ञान सम्बन्धी एक बहुत बड़ी भूल है। शिक्षित और अशिक्षित, बाल और वृद्ध, सभी के मन में कारण और कार्य के भाव हैं। और यह भाव केवल पूर्वापर सम्बन्ध से ही उत्पन्न नहीं होते। एक बच्चा मा को रोटी बनाते देखता है और वह झट समझ लेता है कि 'मा' 'रोटी' का निमित्त कारण है। वह 'कारण' और 'कार्य' शब्दों से सर्वथा अनभिज्ञ है परन्तु कार्य-कारण सम्बन्ध का भाव उसके हृदय में विद्यमान है। यह स्वाभाविक है। मा के रोटी बनाने और रोटी के बच्चे तक पहुँचने के बीच में कई घटनायें हो जाती हैं। परन्तु वह उन घटनाओं को रोटी का कारण नहीं समझता। जैसे वह कभी नहीं समझता कि चूल्हा रोटी का कारण है या तवा रोटी का कारण है। उसको स्वभावत ही यह भान हो जाता है कि रोटी की बनाने वाली सत्ता उसकी मा है। बच्चे के स्वच्छ हृदय में जो दार्शनिक प्रश्नों के पक्षपात से सर्वथा मुक्त है और जिसको आस्तिकता, नास्तिकता के झगड़ों से कुछ सम्बन्ध नहीं कारण कार्य सम्बन्ध का ज्ञान कैसे हो गया? मिल और ह्यूम के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि वह अपने विशेष मत की स्थापना करना

'coming always before' He said that if one thing always happened just before another, they got so closely associated in our mind that we began to think of the first as the cause of the second."

(God and the Soul by R A. Armstrong p 35)

("Our idea of necessity and causation arises entirely from the uniformity observable in the operations of nature where similar objects are constantly conjoined together and the mind is determined by custom to infer the one from the appearance of the other." (Hume's An Enquiry Concerning Human Understanding.)

चाहते थे अतः उन्होने बाल की खाल निकालने का यत्न किया। परन्तु बच्चा इन बातो से रहित है। इसी प्रकार कार्य्य-कारण का भाव अशिक्षित जङ्गली मनुष्यो मे भी पाया जाता है। उनका व्यावहारिक जीवन बताता है कि वह सदा एक दूसरे के पश्चात् होनेवाली वस्तुओ या घटनाओ को ही कार्य्य-कारण नही मानते किन्तु इसके अतिरिक्त उनके हृदय मे कारण और कार्य्य का भिन्न भाव होता है। इस भाव का किन शब्दो मे वर्णन किया जाय और इसके क्या लक्षण किये जायं यह दूसरी बात है। परन्तु कार्य्य-कारण सम्बन्ध और पूर्वापर सम्बन्ध यह दोनो भिन्न भिन्न सम्बन्ध हैं और जो मनुष्य निष्पक्ष भाव से अपने मन या दूसरों के मन का अध्ययन करेगा उस पर यह बात अवश्य विदित हो जायगी। मै तो समझता हूँ कि मनुष्य ही नही किन्तु बहुत से पशु पक्षियो के हृदयो मे भी कारण और कार्य्य का भाव विद्यमान होता है। पालू कुत्ते, तोते और मैनाओं के बहुत से व्यवहार इस बात की पुष्टि करते है। कभी २ ऐसा होता है कि लोग भूल या भ्रम से पूर्वापर सम्बन्ध को ही कारण-कार्य्य सम्बन्ध समझ लेते हैं और व्यवहार मे धोखा खा जाते हैं। कभी कभी तो वह कह भी उठते है कि हमने धोखे से पहली घटना को दूसरी का कारण समझ लिया और इसलिये हानि हो गई। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पूर्वापर सम्बन्ध और चीज़ है और कारण-कार्य्य सम्बन्ध और चीज़। मिल महोदय के "coming always before" (सर्वदा पहले आनेवाली) वाक्य मे उनका सर्वदा (always) शब्द ही सिद्ध करता है कि उनका पक्ष ठीक नही है। किसी घटना का दूसरी घटना से सदा पूर्व होना, कभी पीछे न होना, कारण का केवल एक चिह्न है। अर्थात् कारण की एक पहचान यह भी है कि वह कार्य्य से सदा पूर्व होगा। परन्तु केवल पूर्व होने से ही हम एक घटना को दूसरी का कारण

नही कह बैठते। जिन आर्मस्ट्रांग (Armstrong) महाशय का कथन हमने ऊपर उद्धृत किया है वह हमारी इसी बात को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं।

"सोमवार सर्वदा मङ्गल के पहले आता है, परन्तु मैंने कभी किसी को यह कहते नहीं सुना कि सोमवार मङ्गल का कारण है।..... अन्धेरा सदा सूर्योदय के पूर्व होता है परन्तु अन्धेरा सूर्योदय का कारण नहीं है" (पृ० ३५)‡

यही महाशय निमित्त कारण की इस प्रकार व्याख्या करते हैं :—

"Dr. Ward gives us the very best and clearest example of cause that we can have—"the influx of a man's mental volitions into his bodily acts" (p. 35).

"It not only follows *after*. It follows *from*. It is its result, its effect. The act of will is its cause." (p. 36)

अर्थात "डाक्टर वार्ड ने कारण का सबसे अच्छा उदाहरण दिया है। मनुष्य की इच्छा शक्ति की उसके शारीरिक व्यापार मे प्रविष्टि," (पृ० ३५)

"(कार्य्य) न केवल (कारण से) पीछे होता है किन्तु कारण के द्वारा होता है। यह उसका कार्य्य या परिणाम है। इच्छा शक्ति की क्रिया कारण है।" (पृ० ३६)

---

‡"Monday always comes before Tuesday, yet I never heard any one call Monday the cause of Tuesday.... Darkness always comes before sunrise, yet darkness is not the cause of sunrise" (p 35)

वार्ड से भी अच्छा लक्षण अन्नम्भट्ट ने अपनी तर्क संग्रह की तर्कदीपिका में दिया है।

उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वं कर्त्तृत्वम्।
(Bombay Sans Series Edition पृ० १३)

अर्थात् कर्त्ता या निमित्त कारण वह है जिसमें नीचे लिखी तीन बातें हो :—

(१) उपादानगोचर--अपरोक्ष-ज्ञान अर्थात् उपादान कारण का अपरोक्ष या निकटतम ज्ञान जैसे कुम्हार को मिट्टी का।

(२) चिकीर्षा या काम करने की इच्छा।

(३) कृति अर्थात् क्रिया या प्रयत्न।

ज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति मे भी कारण कार्य्य का सम्बन्ध है। क्योंकि कोई क्रिया विना इच्छा के नहीं हो सकती और जब तक उस वस्तु का ज्ञान न हो जिस पर कर्त्ता की क्रिया पड़ती है उस समय तक उसमे इच्छा भी नहीं हो सकती। एक प्रकार से इच्छा शक्ति को भी कर्त्तृत्व का विशेष लक्षण मान सकते हैं क्योंकि जहां इच्छा है वहाँ ज्ञान पहले अवश्य रहा होगा और वहीं क्रिया के भी होने की सम्भावना है।

इस प्रकार इच्छा शक्ति का 'कारणत्व' से विशेष सम्बन्ध है। जिस घटना में इच्छा-शक्ति विद्यमान नहीं होती उसको हम कारण नहीं कहते चाहे वह घटना दूसरी घटना से पूर्व एक वार देखी गई हो अथवा कई वार। कल्पना कीजिये कि हम छत की कड़ी से लगातार सैकड़ों वार मिट्टी गिरते देखते हैं। परन्तु हमारा कभी यह विचार भी नहीं होता कि मिट्टी गिराने का निमित्त कारण छत की कड़ी है। परन्तु यदि एक वार भी हम किसी मनुष्य को छत से मिट्टी गिराते देखते हैं तो झट कहने लगते हैं कि मिट्टी इस

मनुष्य ने गिराई है। क्योंकि पहले उदाहरण मे इच्छा-शक्ति उपस्थित नहीं है और दूसरे मे उपस्थित है।

प्रत्येक कार्य्य के लिये निमित्त कारण की आवश्यकता, और निमित्त कारण के लिये इच्छा-शक्ति की आवश्यकता, यह दोनों बातें मनुष्य के मस्तिष्क मे आरम्भ से इस प्रकार जमी हुई हैं कि इनसे मुक्ति पाना दुस्तर ही नही किन्तु असम्भव है। आजकल जब दर्शन-शास्त्र का आधार मानवी ज्ञान के नियमो (Theory of knowledge) पर रक्खा जाता है और इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिये ज्ञान-तत्व की प्राप्ति आवश्यक है उस समय हम उन नियमो को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते जो मनुष्य के मस्तिष्क पर प्रत्येक युग और प्रत्येक देश मे शासन करते रहे है। वस्तुत: प्रत्येक क्रिया के साथ किसी इच्छा शक्ति का सम्बन्ध जोड़ना मनुष्य के लिये इतना स्वाभाविक है कि जहाँ उसको इच्छा शक्ति का प्रकट रूप दिखाई नहीं देता वहां वह कोई न कोई कल्पित रूप मानने लगता है। जैसे जब वह किसी पहाड़ से आग निकलती देखता है और आग जलाने वाले को नही देखता तो कल्पना कर लेता है कि एक अदृष्ट देवी या देवता है जो इस अग्नि को निकाल रही है। यदि हम प्रत्येक देश के भिन्न २ देवी देवताओ को कहानियो पर विचार करें और यह पता लगावें कि अमुक मनुष्य या अमुक जाति ने उनकी कल्पना किसलिये की तो हमको इस विश्वास का मूल कारण मिलेगा कि वह विशेष घटनाओं को किसी न किसी इच्छा-शक्ति से सम्बन्ध करना चाहते थे। मानवी मस्तिष्क की गति ही उनको ऐसा करने के लिये अनुरोध करती थी। उनको कभी यह बात सूझ ही नहीं सकती थी कि एक घटना हो जाय और उसका कोई ऐसा निमित्त कारण न हो जो इच्छा-शक्ति-सम्पन्न हो।

जिस प्रकार आगरे का ताजमहल देख कर विद्वान् से विद्वान् और मूर्ख से मूर्ख पुरुष भी उस इच्छा-शक्ति का विचार किये बिना नहीं रह सकता जिसको "शाहजहाँ बादशाह" अथवा, उसको एजराटो,' के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार ताजमहल के तालाब मे उगा हुआ कमल का फूल देख कर जिसकी एक एक पङ्खड़ी कई ताजमहलो के सौन्दर्य से भी सहस्र गुणा सौन्दर्य रखने वाली है कैसे हो सकता है कि किसी न किसी इच्छा-शक्ति तक हमारा ध्यान न जा सके ? भेद केवल इतना है कि जिस वस्तु को कभी कभी देखते हैं उसका थोड़ा सा सौन्दर्य भी हमको अधिक आकर्षित करताहै और जिसको प्रति दिन या प्रति घड़ी देखते हैं उसके विषय मे हमारा मस्तिष्क कम सोचता है । ताजमहल मे नित्य रहने वाले मनुष्यों के आत्मा पर ताजमहल के निर्माता की बुद्धि का इतना प्रभाव नही पड़ता जितना कि पहले पहल देखने वाले की आत्मा पर पड़ता है परन्तु इस प्रभाव की जागृति थोड़े से ही विचार से हो सकती है। कणाद मुनि का यह मत कि,

कारणाभावात् कार्य्याभावः ।

"बिना कारण के कार्य्य हो नहीं सकता" प्रत्येक पुरुष प्रत्येक अवस्था में किसी न किसी अंश मे मानता रहा है।

कुछ लोगो का कहना है कि ससार मे बहुत सी घटनायें अकस्मात् हुआ करती हैं। उनका कोई विशेष कारण नहीं होता। इसी प्रकार क्यो न मान लिया जाय कि यह सृष्टि भी अकस्मात् (by chance) उत्पन्न हो गई। यह देखना चाहिये कि अकस्मात शब्द का क्या अर्थ है। हम बाजार जा रहे थे। अकस्मात् हमारी एक मित्र से भेंट हो गई। यहाँ अकस्मात् से क्या तात्पर्य है ? यही न कि हम बाजार जा रहे थे। मित्र को देखने नही जा रहे थे यह आशा न थी कि मित्र भी आता होगा। परन्तु आ गया।

क्या इस स्थान पर "हमारा और मित्र का मिल जाना" बिना किसी निमित्त कारण के है। कदापि नहीं 'मित्र के आने' का निमित्त कारण मित्र की इच्छा-शक्ति है। और हमारे 'जाने का निमित्त कारण' हमारी इच्छा-शक्ति है। हम इस भेंट को 'आकस्मिक' इसलिये कहते हैं कि यद्यपि यह दोनो घटनायें अर्थात् मित्र का आना और 'हमारा जाना' इच्छा शक्तियो के द्वारा हुआ तथापि इन दोनो इच्छा-शक्तियो मे पहले से कोई परामर्श नही हुआ था। यहाँ दो स्वतन्त्र और असम्बद्ध इच्छा-शक्तियो द्वारा उत्पन्न हुई घटनाओं के मिल जाने का नाम 'आकस्मिक' है। यदि पूर्व परामर्श होकर हम दोनो मिलते तो यह भेंट कदापि आकस्मिक न कहलाती। इससे सिद्ध होता है कि आकस्मिक घटनायें भी वस्तुतः आकस्मिक नही हैं। वे अकस्मात् (बिना कारण) नहीं होती किन्तु 'कस्मात्-अपि' अर्थात् कारण से ही होती हैं। जो लोग सृष्टि की रचना को आकस्मिक बताते हैं उनसे हम पूछते हैं कि ऐसा कहने से तुम्हारा क्या तात्पर्य है ? क्या तुम सृष्टि-रचना को उसी अर्थ मे आकस्मिक मानते हो जिस अर्थ में हमारी और हमारे मित्र की उपयुक्त भेंट आकस्मिक थी ? यदि ऐसा मानोगे तो इसका अर्थ यह होगा कि **सृष्टि की भिन्न २ घटनायें भिन्न २ स्वतंत्र तथा असंबद्ध इच्छा शक्तियों द्वारा उत्पन्न होकर परस्पर मिल गई**। अर्थात् एक शक्ति नदी बना रही थी। दूसरी शक्ति पहाड़ बनाने मे मग्न थी—तीसरी बादल बना रही थी। चौथी वायु मण्डल तैय्यार कर रही थी। यह शक्तियां स्वतंत्र और असम्बद्ध थीं। इन्होने परस्पर मिलकर कोई परामर्श नही किया था कि मैं पहाड़ बनाती हूं तुम नदी बनाना। उनको ज्ञान भी नहीं था कि अन्य शक्तियाँ कुछ बना रही हैं। जब वस्तुयें तैय्यार होगई तो बिना किसी कारण के 'अकस्मात्' इनका मेल होगया।

ऐसा मत रखनेवाले इच्छा-शक्ति रूपी निमित्त कारणों का निषेध नहीं करते। केवल इन कारणों के परस्पर सम्बन्ध का निषेध करते हैं या यों कहिये कि **एक ईश्वर का निषेध करने के लिये वह सहस्रों ईश्वरों के मानने पर उद्यत हो जाते हैं।** यह नास्तिकता नहीं किन्तु विशिष्ट आस्तिकता है।

यदि 'आकस्मिक' का अर्थ यह है कि इन घटनाओं का किसी इच्छा-शक्ति से भी सम्बन्ध नहीं। तो यह ऐसी बात है जो इन लोगों की कल्पनामात्र है। ऐसी आकस्मिक घटना कभी देखी या सुनी नहीं गई और न मनुष्य की भाषा में इसका प्रयोग ही होता है। इस विषय में फ्लिण्ट महोदय ने बहुत ही उत्तमतापूर्वक लिखा है। हम उसी को यहाँ उद्धृत करते हैं :—(Flint's Theism p 184, 185, 186)

वह लिखते हैं कि " आकस्मिक घटना हो ही नहीं सकती जब तक नियम न हो। यदि दो या अधिक स्वतन्त्र घटनायें बिना पूर्व परामर्श या पूर्व प्रबन्ध के आपस में मिलती हैं तो इस मेल को आकस्मिक घटना कहते है। जब कारणों की एक शृङ्खला से प्रेरित होकर कोई मनुष्य नियत दिवस की नियत घड़ी में एक घर से होकर गुजरता है और कारणों की दूसरी शृङ्खला जो पहली शृङ्खला के समकालीन परन्तु स्वतन्त्र है प्रेरणा करती है कि उसी घर की छत से उसी समय कोई भारी वस्तु गिर पड़े और उस आदमी की मृत्यु हो जाय तो इस परिणाम अर्थात् मृत्यु को आकस्मिक घटना कहेंगे। जिस मनुष्य को ईश्वर के सर्वज्ञत्व, सर्वनियन्तृत्व, तथा प्रबन्धकत्व पर विश्वास है उसका तो यही मत होगा कि ऊपर कही हुई घटना का भी 'आकस्मिकत्व' नाम मात्र ही है। परन्तु वह यह नहीं कहता कि नास्तिक को इस

घटना के आकस्मिक कहने या किसी अन्य घटना को अकस्मात् शब्द से व्याख्या करने का अधिकार नही है। परन्तु 'आकस्मिक' शब्द निरर्थक है जब तक कि दृश्यो की स्वतन्त्र शृङ्खला न हो। अर्थात् जब तक भौतिक और मानसिक सत्तायें या भौतिक और मानसिक नियम न हो" ।‡

(पृ० १८४)

'इसके अतिरिक्त, यदि प्रकृति को स्वयंभू और अनादि भी माना जाय तो भी प्रकृति स्वयं ही 'प्रबन्ध' को कैसे उत्पन्न कर सकती है? यह मानना कि प्रकृति के परमाणुओ ने परमात्मा की

---

‡"There can be no chance where there is no law. Chance or accident is what occurs when two or more independent series of phenomena meet, without their meeting having been premeditated and proved. For when one series of causes leads a man to pass a house at a given day, and another series of causes, co-existent with but wholly independent of the former series, determine that a heavy body shall fall from the roof of that house at that moment of that day and kill that man, the consequence—his death—is what may be properly called an accident, or matter of chance One who believes, indeed, in the omniscience and universal foreordination and government of God, will hold that even in such a case the accident or chance is merely apparent, but he will not deny the right of the atheist to speak of chance or accident in this way, or to explain as matters of chance whatever he can. The word chance, or accident, can have no intelligible sense, unless however, there be such independent series of phenomena—unless there be mental and material existences, mental and material laws. Chance, cannot be conceived of, even by the atheist, as the origin of existence—(p. 184.)

क्रिया के बिना स्वयं ही इस विचित्र सृष्टि की रचना की इस बात के मानने से अधिक युक्ति-शून्य है कि अंगरेज़ी भाषा के अक्षरों ने उस मानवी मस्तिष्क की थोड़ी सी सहायता के बिना भी जिसको शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाम से पुकारते हैं शेक्सपियर के नाटक बना डाले। सम्भव है कि कभी कभी या कहीं कही दूर देशों या दीर्घ-काल मे यह परमाणु परस्पर मिल कर किसी चीज़ को मिला सकें। परतु वह कभी इतना बड़ा और इतना सुदृढ़ प्रबन्ध नही रच सकते, जब तक कि उनको रीति द्वारा क्रम-पूर्वक रक्खा न जाय जैसा केवल बुद्धि द्वारा ही हो सकता है। यह मानना कि इन परमाणुओं ने स्वयं ही बिना क्रम या बुद्धि की प्रेरणा के ऐसी सृष्टि रच दी जिसमे इस प्रकार की उत्तम लाभ दायक तथा सुन्दर वस्तुयें उपस्थित हैं अन्ध-विश्वास की उस सीमा का भी उल्लङ्घन करना है जो आज तक बड़े से बड़े अन्ध-विश्वासी मतमतान्तर वालो ने दिखाई है। तथापि कोई सच्चा नास्तिक (प्रकृतिवादी) (जो अपने सिद्धान्तो को परस्पर विरोध के दोष से बचाना चाहता है) इस भयानक अकस्माद्-वाद से इनकार भी नही कर सकता। सृष्टि-प्रबन्ध की जो व्याख्यायें डिमाक्रीटस और ऐपीक्यूरस से लेकर डीडरट और लैग आदि नास्तिको (प्रकृतिवादियो) ने की हैं, उन सब का आधार इस एक बात पर है कि प्रकृति के परमाणु जो नित्य हैं असख्यो प्रकार से परस्पर सयुक्त होते रहते हैं और भूत तथा भविष्य मे जो करोड़ों और अरबो प्रकार के संयोग हुये हैं या होने वाले हैं उन्हीं मे से एक हमारी वर्त्तमान सृष्टि है। कहा जाता है कि यूनानी भाषा के अक्षरो को अनन्त बार उछालो और तुम इलियड तथा समस्त यूनानी पुस्तकें बना डालोगे। मुझे यह कहने की आवश्यकता नहीं कि "संभव" वाद में इससे अधिक निर्मूल या निरर्थक बात कभी

नहीं मानी गई। अक्षरों को बिना विचार के अनन्त समय तक उछालते जाओ और तुम कभी उनसे विचार को प्रकट न करा सकोगे। इलियड के समस्त अक्षरों को यदि समस्त मनुष्य जाति संसार के आरम्भ से आज तक प्रातःकाल से रात्रिकाल तक उछालती रहती तो कभी इलियड की पहली पंक्ति तक न बन सकती। यदि होमर ने एकीलीज के क्रोध तथा ट्राय के युद्ध की काव्य में वर्णन करने की इच्छा न की होती। परन्तु सृष्टि रूपी काव्य तथा ईश्वरी नाटक के सम्मुख इलियड की क्या तुलना है? जो परमाणु पहले से ऐसी वस्तुओं को बनाने के लिये भी उद्यत न थे जैसे अक्षरों से शब्द बनते हैं उनके परस्पर यकायक मिलने से और बिना किसी विशेष हाथ की सहायता के उछलते रहने से क्या इतनी विशाल सृष्टि रची जा सकती है। जो ऐसा विश्वास कर सकता हो वह करे। मैं तो यह समझता हूँ कि अलफ़लैला की सब कहानियों को मान लेना अधिक सुगम है।"‡

(पृ० १८७)

---

‡"Besides, how could matter of itself produce order, even if it were self existent and eternal? It is far more unreasonable to believe that the atoms or constituents of matter produced of themselves, without the action of a supreme mind, this wonderful universe, than that the letters of the English alphabet produced the plays of Shakespeare, without the slightest assistance from the human mind known by that famous name. These atoms might, perhaps now and then, at great distance and long intervals, produce, by a chance contact, some curious collocation or compound; but never could they produce order or organisation, on an extensive scale or of a durable character, unless ordered, arranged, and adjusted in ways of which intelligence alone can be the ul-

वस्तुत: जो मनुष्य यह मानता है कि प्रकृति के परमाणुओं के अकस्मात् इस प्रकार मिलने से संसार की वह बड़ी से बड़ी वस्तुयें

---

timate explanation. To believe that their fortuitous and undirected movements could originate the universe, and all the harmonies and utilities and beauties which abound in it, evinces a credulity far more extravagant than has been ever displayed by the most superstitious of religionists. Yet no consistent materialist can refuse to accept this colossal chance-hypothesis. All the explanations of the order of the universe which materialists, from Democritus and Epicurus to Diderot and Lange, have devised, rest on the assumption that the elements of matter, being, eternal, must pass through infinite combinations, and that one of these must be our present world—a special collection among countless millions of collections, past and future Throw the letters of the Greek alphabet, it has been said, an infinite number of times and you must produce the Illiad and all Greek books The theory of probabilities I need hardly say, requires us to believe nothing so absurd. Throw letters together, without thought, through all eternity, and you will never make them express thought All the letters in the Illiad might have been tossed and jumbled together from morning to night by the hands of the whole human race, from the beginning of the world until now, and the first line of the Illiad would have been still uncomposed, had not the genious of Homer been inspired to sing the worth of Achilles and the war around Troy But what is the Illiad to the hymn of creation, and the drama of the Providence? Were these glorious works composed by the mere jumbling together of atoms, which were not even prepared before hand to form things, as letters are to form words, and which had to shake themselves into order without

बन गई जिनके समझने के लिये संसार के बड़े से बड़े पण्डित और विशेषज्ञ असमर्थ हैं ऐसे मनुष्य के लिये किसी ऊँट पटांग बात को मान लेना सरल है। जो मनुष्य आंख से देखता हुआ नही देखता और कान से सुनता हुआ नहीं सुनता उसके लिये कोई उपाय नही है। कहावत है कि वहम की दवा लुकमान के पास भी नही। इसी प्रकार अकस्माद्वादियों का भी ने हाल है। क्या हमको संसार मे अकस्मात् रचना के उदाहरण मिलते हैं? तुम कहते हो कि ग्रीक भाषा के अक्षरों को बिना नियम के उछालते उछालते घुणाक्षर न्याय से कभी न कभी इलियड बन जायगा। परन्तु घुणाक्षर भी तो घुण के द्वारा बनता है। अक्षरों को उछालनेवाला भी तो कोई होना चाहिये। यूनानी भाषा के अक्षर बीसियों शताब्दियों से चले आते हैं जिस इलियड को होमर ने थोड़े से दिनो के परिश्रम से बना दिया उसी प्रकार की अन्य इलियडें अब तक अक्षरो के स्वयं उछलने से क्यों नही बन गईं। फिर इन प्रकृतिवादी नास्तिको से कोई पूछे कि तुम्हारे घर मे गेहूँ स्वय मिलकर रोटी क्यो नही बना देते। मिट्टी के कण स्वयं मिलकर ईंटो को क्यो नही बना देते तथा ईंटे स्वयं उठकर मकान क्यो नहीं बना देती। परमाणुओं मे अकस्माद् खलबल उत्पन्न हो जाना और उनका अकस्मात् ही सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि के रूप धारण कर लेना यह एक ऐसी बात है जो किसी बुद्धिमान मनुष्य की समझ मे नही आ सकती और कोई व्यावहारिक मनुष्य उस पर विश्वास नही कर सकता। यदि परमाणुओं के अकस्माद् मिलने से जाज्वल्यमान सूर्य उत्पन्न हो सकता है तो छोटा सा दीपक क्यो नहीं हो सका। यदि बड़ी से बड़ी नदी हो सकती है तो छोटा सा कुवाँ

---

the help of any hand ? They may believe that who can It seems to me that it ought to be much easier to believe all the Arabian Night " (p. 187)

क्यों नहीं हो सकता, यदि बड़े से बड़े पर्वत बन सकते हैं तो छोटा सा झोपड़ा क्यों नहीं बन सकता। यदि रहस्यमय मनुष्य का शरीर बन सकता है तो एक छोटा सा चरखा क्यों नहीं बन सकता। यदि कहा जाय कि अकस्मात् का अर्थ ही यह है कि जो वस्तुएँ बन गईं वह बन गईं सभी थोड़े ही बन सकती हैं, तो हम यह पूछते हैं कि तुम्हारे पास अकस्माद्वाद के लिए प्रमाण ही क्या है ? तुम पहाड़ को देख कर तो मान लेते हो कि यह अकस्मात् बन गया परन्तु ताजमहल को देखकर भी ऐसा विश्वास क्यों नहीं कर लेते। पुरातत्ववेत्ताओं के तो सब प्रयत्न ही विफल हो जांयगे यदि अकस्माद्वाद को मान लिया जाय । क्योंकि पृथ्वी में गड़े हुए प्राचीन भवनों को देख कर उनका ऐतिहासिक मनुष्यों की बुद्धि से सम्बन्ध ढूंढ़ने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना मान लो कि अकस्मात् परमाणुओं के मिलाप से यह भवन बन गए होंगे।

कुछ लोगों का कथन है कि संसार का बनाने वाला कोई नहीं। जो कुछ होता है वह कुदरत या नेचर (Nature) से होता है। पहाड़ कुदरत बनाती है। सूर्य्य कुदरत निकालती है और बादल कुदरत के द्वारा बनते हैं। कुदरत का हम संस्कृत या हिन्दी से अनुवाद नहीं कर सकते। क्योंकि इस आशय का कोई शब्द हमको ज्ञात नहीं। "सृष्टि नियम" एक शब्द है जो इस अर्थ को कुछ कुछ प्रकट करता है। वस्तुतः यह कहना कठिन है कि कुदरत या नेचरवादियों का इन शब्द से क्या तात्पर्य्य है। यदि कुदरत या नेचर कोई बुद्धि तथा पराक्रम वाली सत्ता है जो सृष्टि की रचना करती रहती है तो आस्तिकों और नास्तिकों के मत में केवल शब्दों का भेद है। जिसको आस्तिक ईश्वर कहते हैं उसी सत्ता को नास्तिक नेचर या कुदरत कहते हैं। नाम मात्र के लिये झगड़ा उठाना ही व्यर्थ है।

परन्तु यदि कुदरत से उनका तात्पर्य्य "सृष्टि-नियम" से है तो

सृष्टि-नियम को सृष्टिकर्त्ता बताना वैसी ही भूल है जैसे व्यापार-सम्बन्धी नियमों का "व्यापारी" बताना। मै तो समझता हूँ कि कुदरत वादी कभी यह भी विचार नही करते कि उनका इस शब्दो से क्या तात्पर्य है। वह एक विचित्र भ्रम मे हैं और इसी भ्रम मे रहना भी चाहते है।

पहले देखना चाहिये कि कुदरत किसको कहते हैं? यदि कुदरत किसी शक्ति विशेष या पुरुष विशेष का नाम नही तो यह क्या चीज है? और किस प्रकार सृष्टि रूपी कार्य्य का कारण हो सकती है? प्रायः हम देखते हैं कि लोग 'कारण' शब्द का बिना विचारे ही प्रयोग किया करते हैं। पर्य्यायवाची शब्द देने को कारण नहीं कह सकते। पर्य्यायवाची शब्द किसी बात की व्याख्या कर सकते हैं परन्तु उसका कारण नहीं बता सकते। इस शब्द का बहुत बड़ा दुरुपयोग हमको वैद्यो के यहाँ मिलता है। यदि किसी से पूछा जाय कि अमुक पुरुप क्यो मर गया तो कहते हैं कि उसके हृदय की गति बन्द हो गई (His heart failed)। प्रश्न कर्त्ता मृत्यु का कारण पूछना चाहता था। उत्तरदाता ने मृत्यु का पर्य्यायवाची शब्द दे दिया। क्योंकि हृदय की गति बन्द होना और मृत्यु होना दोनो एक ही बात है। मृत्यु होगी तो हृदय की गति बन्द होगी। हृदय की गति बन्द होगी तो मृत्यु होगी। ऐसा नही हो सकता कि एक बात हो दूसरी न हो। मृत्यु नाम ही उस अवस्था का है जब हृदय की गति बंद हो जाय। इसी प्रकार जब नास्तिको से पूछते है कि सृष्टि रचना का कारण क्या है तो वह कहते हैं "कुदरत"। उनसे पूछो, "कुदरत क्या है?" तो कहते हैं "सृष्टि नियम"। इसका तात्पर्य्य हुआ कि "सृष्टि रचना" का कारण "सृष्टि नियम" हैं। यदि पूछा जाय कि "सृष्टि नियम" किसे कहते है तो कहेंगे कि "यदि कई घटनायें एक ही प्रकार से हों तो उसको

नियम कहते हैं"। हम फिर पूछते हैं कि उन घटनाओं के एक ही प्रकार से होने का क्या कारण है तो उलट फेर कर वही उत्तर मिलता है कि "सृष्टि-नियम"। इस प्रकार हमारी युक्ति कोल्हू के बैल के समान एक ही घेरे में चक्कर लगाती रहती है। वस्तुतः सृष्टि की घटनाओं और सृष्टि नियम में कुछ भेद नहीं है वह तो प्रायः पर्य्यायवाची ही है। उनमें से एक दूसरे का कारण कह देना बहुत बड़ी भूल है।

फ्लिगट महोदय ने इस विषय में क्या अच्छा कहा है :—

"सृष्टि-प्रबन्ध का कारण सृष्टि-नियम को बताना वस्तुतः टाल मटोल करना है। नियम ही प्रबन्ध है। नियम का ही तो कारण बताना है। प्रश्न यह है कि क्या नियम ज्ञानयुक्त है या ज्ञान रहित? बुद्धिमान् पुरुष कभी नहीं मान सकता कि यह ज्ञान-शून्य है। डाक्टर ह्वेविल (Whewell) कहते हैं कि किन्हीं घटनाओं में सम्बन्ध बताने वाले या उन पर शासन करने वाले नियम का अस्तित्व ही प्रकट करता है कि शासन करने वाली एक ज्ञानमय शक्ति है जो पहले से सोचकर नियम स्थापित करती है। भिन्न २ घटनाओं को देश, काल तथा संख्या और परिमाण के नियमों में बांधना ही विचार तथा बुद्धि का सूचक है। डाक्टर ह्वेविल के इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि सृष्टि के नियमों का अर्थ ही यह है कि सब वस्तुयें परस्पर इस प्रकार संगठित हों कि ज्ञान-युक्त प्रबन्ध द्वारा ही इसकी पर्य्याप्त तथा अन्तिम मीमांसा हो सके। किसी नियम के अस्तित्व के साथ साथ कई अन्य अवस्थायें भी होनी चाहिये। जब जब यह अवस्थायें और नियम साथ २ होंगे और भौतिक नियमों द्वारा उनकी व्याख्या न हो सकेगी तो अवश्य मानना पड़ेगा कि कोई चेतन शक्ति काम कर रही है। सारांश यह है कि नियम प्रबन्ध के कारण नहीं किन्तु सूचक है। नियम स्वयं

व्यथा तथा प्रबन्ध के परिणाम हैं और उनसे ईश्वरीय बुद्धि के काम की सूचना मिलती है। उदाहरण के लिये रसायन सम्बन्धी नियमों को लीजिये। वे किस लिये हैं? इसलिये कि रसायन सम्बन्धी तत्वों को ऐसी समानता, आकर्षण तथा शक्ति मिली हुई है कि चाहे वह भिन्न २ भी क्यो न हो तो भी वह इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि ससार का उपकार हो रहा है। दूसरी बात यह है कि नियम स्वयं कुछ काम नहीं करता। कोई नियम स्वयं कुछ नहीं बनाता। नियम के अनुसार काम करके परिणाम उत्पन्न करना "कर्त्ता" का काम है। यह परिणाम कैसा हो यह बात भी कर्त्ताओं की संख्या उनके स्वभाव और उनकी परिस्थिति पर निर्भर है। यदि कर्त्ता परस्पर विरुद्ध हुये अथवा उनका काम उचित रीति से विभक्त न हुआ तो वह नियमो के अनुकूल चल कर भी कुप्रबन्ध और आपत्ति का कारण होंगे। इस ज्ञात ससार मे कोई आपत्ति कोई बुराई और कोई गड़बड़ ऐसी नही है जिसका कारण ऐसे कर्ता न हों जो नियमानुसार काम करते रहे हो। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति चाहे प्रत्येक परमाणु पर शासन करती रहे तो भी जब तक सहयोग सुदृढ़ता और जीवन की स्थिति के लिये विशेष प्रबन्ध न किया जायगा उस समय तक समस्त सौर्य्यमण्डल मे विपत्ति नाश और मृत्यु का ही आधिक्य रहेगा। प्रकृति मे वर्त्तमान आवश्यक नियमों के रहते हुये भी सदा गड़बड़ रह सकती है। यदि प्रबन्धकर्त्तृ तथा शासन कर्त्तृ शक्ति को अलग रख दो तो चाहे प्रकृति के परमाणुओं मे स्वय ही बिना किसी के दिये हुये गुण या नियम हो तो भी प्रबन्ध के विरुद्ध और गड़बड़ के पक्ष मे अधिक संभावना है। परिणाम वही है जिसको प्रोफेसर जेवन्स ने वर्णन किया है अर्थात् चूं कि अनन्त परमाणु अनन्त देश में अनन्त प्रकार से मिलाये जा सकते थे इसलिये यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि प्रकृति

के अनादि काल से स्वयं अपने ही नियम स्थित हैं तो भी कोई न कोई समय अवश्य ऐसा हुआ होगा जब अनन्त प्रकार के संयोगों में से वह विशेष संयोग चुना गया जिसके द्वारा हमारी सुन्दर और सुप्रबन्धयुक्त वर्त्तमान सृष्टि बन गई। वस्तुतः ज्ञान युक्त चुनाव से ही सुप्रबन्ध उत्पन्न हो सकता है" ‡ (पृ० १८९)

---

‡ To ascribe the origination of order to law is a manifest evasion of the real problem. Law is order. Law is the very thing to be explained. The question is—Has law a reason, or is it without a reason? The unperverted human mind cannot believe it to be without a reason. The 'existence of a law connecting and governing any class of phenomena implies a presiding intelligence which has preconceived and established law. The regulation of events by precise rules of time and space, of number and measure is evidence of thought and mind.' So says Dr. Whewell, and the statement is amply justified by the fact, that all laws and rules in the universe imply that existences are related to one another in a way of which intelligent adjustment alone is the adequate and ultimate explanation. The existence of a law uniformly involves the co-existence of several conditions, and that is a phenomenon which, whenever the conditions and law are physically ultimate, and consequently physically inexplicable, clearly presupposes mind. Laws, in a word, are not the causes but the expressions of order. They are themselves the results of delicately accurate adjustments, which indicate the operation of a divine wisdom. There are chemical laws, for example, simply because there are chemical elements endowed with affinities, attractions, or forces the most diverse, yet so balanced and harmonised as to secure the welfare of the world. Besides, laws do not act of themselves. No law produces of itself

अब स्वभाववादियों के सिद्धान्त की भी मीमांसा करनी चाहिये सर्वसिद्धान्त संग्रह में लिखा है:—

शिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः पकूजयेत् ।
स्वभाव व्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम् ॥
(लोकायतिकपक्ष प्रकरणम् । श्लोक ५)

---

our result It is the agents which act according to the law that produce results, and the nature of the result produced depends on the number and character of the agents, and how each is situated and circumstanced If the agents oppose each other or are inappropriately distributed, they bring about disorder and disaster in conformity to law. There is no calamity, no evil, no scence of confusion, in the known world, which is not the result of the action of agents which operate in strictest accordance to law The law of gravitation might rule every particle of matter, and yet conflict and confusion and death would prevail throughout the entire solar system, were harmony and stability and life not secured by very special arrangements Matter might have all its present inherent and essential laws, and yet remain for ever a chaos. Apart from a designing and superintending intelligence, the chances in favour of chaos and against cosmos, even allowing matter to have uncreated properties and laws were incalculable. The obvious inference is that which Professor Jevons expresses in these words ; "As an unlimited number of atoms can be placed in unlimited space in an unlimited number of modes of distribution, there must, even granting matter have had all its laws from eternity, have been at some moment in time, out of the unlimited choices and distributions possible of that one choice and distribution which yielded the fair and orderly universe that now exists. Only out of rational choice can order have come." (p. 189).

मोर के पङ्खो को कौन रंगता है और कोयल को मधुर स्वर कौन देता है? स्वभाव को छोड़ कर और कोई कारण नही दीखता। अथवा

अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथानिलः।
केनेदं चित्रितं तस्मात् स्वभावात् तद्व्यवस्थितिः॥

(सर्व दर्शन सग्रह चार्वाक दर्शन)

अर्थात आग गर्म है जल ठण्डा है। वायु न ठण्डा है न गर्म। इस सब को किसने बनाया? यह सब व्यवस्था स्वभाव से ही है।

स्वभाववादियो और कुदरतवादियो मे कुछ भेद है। कुदरत वादियो का तो ऐसा मत है कि सृष्टि मे जो कुछ होता है वह सृष्टि नियमो द्वारा होता है। ईश्वर उन नियमो का नियन्ता नहीं है। परन्तु स्वभाववादी कहते है कि सृष्टि के परमाणुओ मे किसी अन्य शक्ति का न दिया हुआ स्वय अपना एक स्वभाव है उस स्वभाव से प्रेरित होकर वह विशेष रीति से संयुक्त या वियुक्त होते रहते हैं। जैसे आग का स्वभाव ही जलना है। जल का स्वभाव ही मिलाना है। वायु का स्वभाव ही उड़ना या किसी वस्तु को उड़ाना है। इसके लिये ईश्वर की कोई आवश्यकता नही है।

यहां प्रश्न यह उठता है कि प्रकृति के अनन्त परमाणुओं मे से प्रत्येक का अलग अलग स्वभाव है अथवा कुछ परमाणु एक स्वाभाव के है और कुछ दूसरे के? और फिर क्या उन परमाणुओ का स्वाभाव अलग अलग होने पर और रहता है और संयुक्त होने पर और? या संयुक्त अवस्था मे भी उनका स्वभाव एक ही रहता है? जैसे स्वभाववादी कहते है कि जल का एक विशेष स्वाभाव है। प्रश्न यह है कि क्या जल का वही स्वभाव है। जो आक्सीजन और हायड्रोजन का अलग अलग था? यह तो सर्वतन्त्र सिद्धान्त है कि आक्सीजन और हायड्रोजन दो भिन्न भिन्न पदार्थ है। यदि उनका

एक ही स्वभाव होता तो वह दो पदार्थ ही क्यो होते और यह भी सर्वतन्त्र सिद्धान्त ही है कि जो आक्सीजन या हायड्रोजन का स्वभाव है उससे भिन्न जल का है। जो काम हम जल से लेते हैं वह आक्सीजन या हायड्रोजन से नही ले सकते। अब प्रश्न यह है कि जब आक्सीजन मे एक विशेष स्वभाव था और हायड्रोजन मे एक अन्य स्वभाव। और जल विद्यमान न था इस लिये जल मे कुछ स्वभाव न था। तो फिर हायड्रोजन और आक्सीजन प्रथम तो स्वयं मिले कैसे और दूसरे उनमे मिल कर जल का स्वभाव कैसे उत्पन्न हो गया? यह मान भी लिया जाय कि हायड्रोजन में एक विशेष स्वभाव है और आक्सीजन मे एक अन्य स्वभाव। तो यह किस चीज का स्वभाव है जो इन दोनों को मिला देता है? यदि कहा जाय कि आक्सीजन और हायड्रोजन मे स्वयं मिलने का भी स्वभाव है अर्थात् आक्सीजन और हायड्रोजन मे कुछ ऐसा स्वभाव है कि जब वह दोनो एक दूसरे के पास आते हैं तो मिल जाते है। तो पहला प्रश्न तो यह होगा कि उनको एक दूसरे के पास कौन लाता है? यदि वह दोनो दूर देशो से आकर मिल जाया करें तो अलग अलग अवस्था मे उनकी प्राप्ति ही न हो सका करे। दूसरा प्रश्न यह है कि यदि हायड्रोजन और आक्सीजन मे स्वयं मिलने का स्वभाव होता तो वह कभी मिल कर वियुक्त न होते। परन्तु ऐसा नही होता। हम कभी तो आक्सीजन और हायड्रोजन को पानी के रूप मे मिला हुआ देखते हैं कभी उसी पानी के आक्सीजन को अपने पुराने मित्र हायड्रोजन से अलग होकर लोहे आदि के साथ मिलता हुआ पाते है। फिर विचित्र बात यह है कि यदि आक्सीजन का विशेष परिमाण हायड्रोजन के विशेष परिमाण से मिलता है तो पानी बन जाता है। यदि कम या अधिक हुआ तो नहीं बनता।

(१) पहले तो उन दोनो पदार्थों का मिलना,

(२) दूसरे एक विशेष परिमाण में मिलना,

(३) तीसरे मिल कर एक नया स्वभाव उत्पन्न कर देना,

(४) चौथे न केवल मिला ही रहना किन्तु अलग भी हो जाना,

(५) पांचवे अलग होकर फिर मिल जाना और फिर अलग हो जाना।

इनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि हायड्रोजन और आक्सीजन के आन्तरिक स्वभाव ही इन सब घटनाओं की मीमांसा करने के लिये पर्य्याप्त नहीं हैं जब तक किसी ऐसी चेतनशक्ति के अस्तित्व को न माना जाय जो अपनी बुद्धि और इच्छा के अनुसार कभी उनको मिलाती और कभी अलग कर देती है।

स्वामी दर्शनानन्द ने स्वभाववादियों के खण्डन में यह युक्ति दी है कि यदि परमाणुओं में मिलने का स्वभाव है तो वह कभी अलग न होंगे, मिले रहेंगे, यदि उनमें अलग अलग रहने का स्वभाव है तो वह कभी मिलेंगे नहीं इस प्रकार कोई वस्तु न बन सकेगी। यदि उनमें से कुछ का स्वभाव मिलने का है और कुछ का अलग रहने का तो जिन परमाणुओं का आधिक्य होगा उन्हीं के अनुकूल कार्य्य होगा अर्थात् यदि मिलने वाले परमाणुओं का प्राबल्य है तो वह सृष्टि को कभी बिगड़ने न देंगे। यदि अलग अलग रहने वाले परमाणुओं का प्राबल्य होगा तो वह सृष्टि को कभी बनने न देंगे। यदि दोनों बराबर होंगे तो भी सृष्टि न बन सकेगी क्योंकि दोनों ओर से बराबर खींचातानी होगी और किसी पक्ष को दूसरे पर विजय प्राप्त करनी कठिन होगी।

वस्तुत सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अलग अलग तथा सब मिल कर यही सिद्ध करती हैं कि इनका कारण एक चेतनशक्ति है। व्यास मुनि ने वेदान्त दर्शन में इसीलिये कहा है कि

जन्माद्यस्य यतः ॥ १ । १ । २

अर्थात् सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण "ब्रह्म" है। यदि संसार एक अवस्था में रहता होता तो हम शायद कह सकते थे कि परमाणुओं के आन्तरिक स्वभावों से ऐसा होता है। परन्तु जहाँ वस्तुयें क्षण क्षण पर अपना रूप परिवर्त्तित करती रहती हों वहाँ केवल स्वभाव को इनका कारण बतलाना पहले दर्जे का अंध विश्वास है। जड़ और चेतन में क्या भेद है? प्रथम तो जड़ वस्तु काम ही नहीं कर सकती, दूसरे यदि चेतन के सहारे से कुछ करेगी भी तो एक ही प्रकार का कार्य्य करती रहेगी। चेतन का स्वभाव ही यह है कि वह काम को करे, न करे और उलटा भी करे। (कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं)। घड़ी की सुइयों को लीजिये। वह स्वयं नहीं चल सकतीं। घड़ीसाज़ उनको विशेष प्रकार से मिला कर उनमें कूक भर देता है। तब वह सुइयाँ चलती रहती हैं। जब तक कूक रहती है उनमें भी गति रहती हैं। जब कूक बंद हुई तो सुइयाँ भी बंद हो गईं। परंतु कभी ऐसा नहीं होता कि सुइयाँ पीछे को भी चलने लगें। यदि सुई को पीछे घुमाना हो तो फिर घड़ीसाज़ या किसी अन्य मनुष्य की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार सृष्टि का हाल है।

एक उदाहरण और लीजिये। हलवाई की दुकान पर शकर, घी, भिन्न २ अनाजों के आटे तथा मेवायें उपस्थित हैं। उनमें से हर एक पदार्थ का अपना निज का स्वभाव है। शकर मीठी है, घी चिकना है, काली मिर्च कड़वी है इत्यादि इत्यादि। हम हलवाई की दुकान पर इन्हीं पदार्थों के बने हुये बीसियों प्रकार के पकवान देखते हैं। क्या बड़े से बड़े स्वभाव-वादी का यह विचार होता है कि शकर, घी, आटा इत्यादि स्वयं अपने स्वभावों से प्रेरित होकर इन पकवानों के रूप में मिल गये होंगे? क्या यह सम्भव है कि एक

घड़े मे से आटा स्वयं उठा हो, दूसरे मे से घी चल पड़ा हो तीसरे मे से शक्कर बाहर निकली हो और उन तीनों ने मिलकर लड्डू या जलेबी का रूप धारण कर लिया हो ? यदि यह नही हो सकता तो भला यह कब सम्भव हो सकता है कि पानी स्वयं समुद्र या तालाब से उठे, पृथ्वी स्वय किसी रेगिस्तान से चल पड़े, और आग स्वयं कहीं से आजाय और वह सब मिलकर कभी गुलाब के फूल का रूप ग्रहण कर लें कभी आम के वृक्ष का और कभी तीतर के शरीर का। जिस प्रकार हलवाई की दूकान की सब मिठाइयो का नाम रूप हलवाई का दिया हुआ है वास्तव मे वह सब एक ही पदार्थो की बनी हुई है इसी प्रकार आग, पानी, पृथ्वी, हवा आदि से ही बनी हुई वस्तुओ के भिन्न २ नाम और रूप ईश्वर के दिये हुये हैं। लड्डू और जलेबी के भिन्न होने का कारण केवल इतना है कि हलवाई ने अपनी बुद्धि तथा इच्छा के अनुसार घी, शकर तथा आटे आदि को भिन्न २ भागो मे मिलाया है। किसी में आटा कम, घी अधिक, किसी मे घी कम शक्कर अधिक इत्यादि। इसी प्रकार सृष्टि के सभी पदार्थ एक ही भौतिक तत्वो के बने होकर भी भिन्न परिमाणों के कारण भिन्न २ नाम और रूप वाले हो गये हैं॥ और भिन्न २ परिमाणों में मिलने का कारण बुद्धि और इच्छा वाली वह शक्ति है जिसको आस्तिक लोग ईश्वर कहते है।

पाँचवाँ अध्याय

सायंस और आस्तिकवाद

कहा जाता है कि सायंस और आस्तिकवाद में पूर्व और पश्चिम का अन्तर है। वह दोनों इकट्ठे नहीं रह सकते। आस्तिकवाद का उसी समय तक शासन था जब सायंस का अभाव था। अब सायंस का युग आ गया इसलिये आस्तिकवाद को अपना टाट कमण्डल उठा कर सदा के लिये लुप्त हो जाना चाहिये। प्रकाश में अंधेरे का क्या काम ?

परन्तु यदि विचार दृष्टि से देखा जाय तो पूर्व और पश्चिम भी मिल सकते हैं और सायंस और आस्तिकता भी परस्पर इकट्ठी हो सकती हैं। सच पूछिये तो अनादि काल से ही सच्ची आस्तिकता और सच्ची सायंस एक दूसरे के साथ रही हैं। सायंस नियम बताती है और आस्तिकता उन नियमो का नियन्ता के साथ सम्बन्ध ढूंढती है। बिना नियमो का नियन्ता कैसा और बिना नियन्ता के नियम कैसे ?

सायस और आस्तिकवाद की शत्रुता बहुत पुरानी नही है। प्राचीन आस्तिकवादी सृष्टि के नियमो का अवलोकन कर के ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते थे। शङ्कराचार्य्य ने वेदान्त के दूसरे सूत्र "जन्माद्यस्य यतः" के भाष्य मे लिखा है।

"अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृभोक्तृसंयुक्तस्य प्रति नियतदेश कालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्मस्थितिभङ्गयतः सर्वज्ञात् सर्वशक्तेः कारणाद्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्य शेषः"

अर्थात इस विचित्र सृष्टि की रचना, स्थिति तथा प्रलय का कारण ब्रह्म है।

परन्तु कुछ दिनों पश्चात् सायंस और आस्तिकता में झगड़ा हो गया, आस्तिकवादी समझने लगे कि ईश्वर को सृष्टि रचना से क्या सम्बन्ध। उन्होंने मनमाने गुण ईश्वर मे आरोपण करने आरम्भ किये। ज्ञान मार्ग का अन्त हुआ। भक्ति मार्ग चला। भक्तिमार्ग ने अन्धविश्वास को बढ़ाया। इसी के साथ सायंस का भी ह्रास हुआ। सायंस का पुनरुत्थान पश्चिम मे हुआ। उस समय वहां आस्तिकवाद तो न था, हां उसी का नामधारी अंध विश्वास अवश्य था। अंध विश्वास और सायंस मे ऐसा ही विरोध है जैसा आस्तिकता और ज्ञान मे। प्राचीन भारतवर्षी तो ज्ञान को ईश्वर प्राप्ति तथा मोक्ष का साधन समझते थे। नवीन काल मे सायंस या विज्ञान को अनीश्वरवाद का चिह्न समझने लगे।

सायंस और धर्म का झगड़ा यूरोप से आरम्भ हुआ। सायंस के पुनरुत्थान के समय वहां ईसाई धर्म का राज्य था। ईसाई धर्म का अर्थ ही यह था कि पोप जो कह दे वही सत्य है। प्रत्येक पुरुष को आंख कान खोल कर चलने की आज्ञा न थी। इसलिये जब कुछ लोगों ने आंख कान खोल कर सृष्टि का अवलोकन करना आरम्भ किया तो धर्माध्यक्षों ने उनका विरोध किया। वह समझते थे कि तर्क करते ही लोग ईश्वर तथा धर्म से विमुख हो जायंगे। इसलिये गैलीलियो (Galileo) आदि को स्वतन्त्र विचारों और अन्वेषणों

के लिये कड़ी कड़ी यंत्रणाएँ दी गई। यह लड़ाई का आरम्भ था। और इस वैमनस्य ने सब से पहला प्रभाव जो सायंस-वेत्ताओ के हृदय पर डाला वह यह था कि हमारे अत्याचारो का कारण आस्तिकवाद है। जतना जितना आस्तिकवादी अपने कल्पित ईश्वर के निराधार सहासन को सायंस के पञ्जे से बचाने का यत्न करते थे उतना उतना सायंस वालो को आस्तिकवाद की निर्मूलता का विश्वास होता जाता था। इसमे भूल दोनो ओर से थी। परन्तु अधिक भूल धर्माध्यक्षो की थी। यदि धर्माध्यक्ष समझते कि सायंसवेत्ता केवल उन नियमो का अन्वेषण करने मे लगे हुये हैं जिनके नियन्ता की आस्तिकवादी पूजा करते हैं तो सायंस धर्म से विरुद्ध न होकर सच्चे आस्तिकवाद की महत्ता को दर्शाने में सलग्न होती। सायस वालो को यह सोचना चाहिये था कि आस्तिकवाद केवल उन्ही सिद्धान्तो का नाम नहीं है जो अन्धविश्वासियो ने प्रचलित कर रक्खे है। परन्तु जब आस्तिकवाद के नाम पर सायंस वालो के प्राण लिये जाने लगे और उनको देखने सुनने तथा सोचने की आज्ञा न रही तो 'मरता क्या न करता'। उन्होंने खुले मैदान लड़ना आरम्भ किया। यह युद्ध यहाँ तक बढ़ा कि सायस वालो को 'आस्तिकवाद' नाम से घृणा अब तक चली आती है।

यह बात नहीं है कि सायंस वाले सभी उसी पुराने पक्षपात में हो। सायंस की वर्त्तमान उन्नति ने सायंस वालो को भी इस बात का निश्चय करा दिया है कि चाहे विशेष प्रकार का आस्तिकवाद झूठ और निर्मूल भी हो तथापि सायंस के नियमो के लिये किसी न किसी नियन्ता की आवश्यकता है। परन्तु यह भाव केवल उन्नतशील सायंस वेत्ताओ का है। जो अनुयायी मात्र हैं वह पुरानी लकीर को ही पीटते चले जाते हैं। जिस प्रकार धर्म

मे अन्ध विश्वासी होते हैं उसी प्रकार सायंस मे भी अन्ध विश्वासी हैं। कितने ऐसे हैं जो स्वतंत्र विचार करते हों ? आधिक्य तो उन्हीं लोगो का है जो यह कह कर आस्तिकवाद से पीछे छुड़ा लेते हों कि "हम सायंस वेत्ता है। हमको ईश्वर से क्या सम्बन्ध ?"

वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो सायंस और आस्तिकवाद एक दूसरे से विरुद्ध नही हैं ?। सायंस क्या है ? सृष्टि की घटनाओ का भली भांति निरीक्षण करना, निरीक्षण करके यह सिद्ध करना कि यह अनियम्मित नही हैं किन्तु नियमित है। फिर उन नियमो का वर्गीकरण करना। इसी का नाम सायंस है। जितनी उन्नति साइंस करती जाती है उतनी ही उसको संसार के वर्त्तमान नियमो का अधिक पता लगता है। इन नियमो का पता लगा कर इसके आगे न बढ़ना और यह मान लेना कि वह नियम स्वयं ही बिना किसी बुद्धि तथा इच्छा वाली शक्ति के काम करते रहते है सायंस के मौलिक नियमों का स्वयं खण्डन करना है। जो सायंस वेत्ता अन्वेषण आरम्भ करता है वह यह सोचकर करता है कि संसार की घटनायें एक दूसरे से असम्बद्ध नहीं है किन्तु वह नियम रूपी सूत्रो मे पुरोई हुई हैं। यदि ऐसा न होता तो सायंस वालो को आगे बढ़ने का साहस भी न होता और सायंस एक पग भी उन्नति न कर सकती। जैसे एक सायंस वेत्ता ने एक शीशी भर पानी का विश्लेषण करके यह पता लगाया कि शीशी का उतना जल हायड्रोजन और आक्सीजन से मिलकर बना है। अब उनको यह भी विश्वास है कि जो नियम इस शीशी भर पानी मे काम करता है वही नियम संसार के अन्य जलो मे भी कार्य्य कर रहा है।

इस प्रकार समस्त सायंस का मूलाधार यह सिद्धान्त है कि संसार की घटनायें असम्बद्ध नहीं किन्तु नियम-बद्ध हैं। यह

सिद्धान्त उस समय भी था जब सायंस छोटा सा बच्चा थी और अब भी है जब सायंस इतनी उन्नति कर गई है और आगे भी रहेगा। सायंस केवल इतना ही नहीं मानती कि संसार की घटायें नियम बद्ध है किन्तु वह इससे आगे चल कर यह मानती है कि यह नियम भी स्वयं एक और सूक्ष्म नियम द्वारा सूत्रित हैं। और यह सूक्ष्म नियम सूक्ष्मतर नियमों द्वारा बँधे हुये है। जब सायंस ने इतना मान लिया तो फिर उन नियमों के लिये चेतनता अर्थात् ज्ञान और इच्छाशक्ति की आवश्यकता न समझना सायंस वेत्ताओं को शोभा नहीं देता। इसीलिये बड़े सायंसवेत्ता अब या तो किसी चेतन शक्ति पर विश्वास करते हैं या केवल यह कह कर सन्तुष्ट हो जाते है कि हमारी गति केवल इन्हीं नियमों तक है। इससे आगे हम बढ़ना नहीं चाहते। कुछ कह रहे है कि सायंस का अधिकार भौतिक नियमों तक ही है अभौतिक संसार इसकी सीमा से बाहर है। उनका यह उत्तर भी प्रकट करता है कि वह नास्तिक नहीं है केवल आस्तिकवाद के सिद्धान्तों से अनभिज्ञ हैं।

एक और मत है जिस को अज्ञेयवाद या एग्नोस्टीसिज़म (Agnosticism) कह सकते है। उनका कथन यह है कि सम्भव है ईश्वर हो सम्भव है न हो। हमारी बुद्धि से वह बहुत परे है। अतः हमको व्यर्थ इस जटिल प्रश्न की मीमांसा ही क्यों करनी ? कुछ भी हो आस्तिकवाद की ओर सायंस का वही व्यवहार नहीं है जो हक्सले आदि के समय था। अब वह यह असम्भव नहीं समझते कि एक मनुष्य सायंस वेत्ता भी हो और सच्चा आस्तिक भी। परन्तु एक बात अभी ज्यों की त्यो उपस्थित है। कालिजो और विश्वविद्यालियो के विद्यार्थीगण अभी उसी धुन मे मस्त है। उनके वृद्ध पुरुषो ने तो अपना व्यवहार बदल दिया है। परन्तु सायंस के साधारण अनुयायी सायंस अध्ययन का आरम्भ करते ही यह समझ

लेते हैं कि साइंस पढ़ने के लिये नास्तिक होना आवश्यक है। कम से कम फैशन तो यही हो गया है और फैशन की कड़ी शृङ्खलाओं को तोड़ना साधारण पुरुषों का काम नहीं है। जिन लोगों ने सायंस का अध्ययन नहीं किया वह भी इसी फैशन में जकड़े प्रतीत होते हैं। और सब से भयानक बात यह है कि फैशन के लिये सायंस का नाम बदनाम किया जा रहा है।

सायंसवेत्ताओं का यह कर्त्तव्य नहीं है कि सायंस के घेरे को सदा के लिये सकुचित कर दें और कह दें कि सायंस इतना ही मानती है, इससे अधिक नहीं मान सकती। मनुष्य का ज्ञान अल्प है परन्तु उसमें वर्धनशक्ति है। सायंस कभी एक ही स्थान पर नहीं रह सकती। जिन नियमों को सौ वर्ष पहले ठीक माना जाता था उनमें अब बहुत परिवर्त्तन हो गया है। प्रति दिन नये नये नियम खोजे जा रहे हैं और नये नये तत्वों का पता लग रहा है। इसलिये यदि एक सायंस वेत्ता नास्तिक भी हो या एक समय के सभी सायंस वेत्ता नास्तिक हों तो भी सायंस और नास्तिकता को एक समझ लेना सायंस के उज्वल नाम पर धब्बा लगाना है। सायंस वेत्ता स्वयं कहते हैं कि सायंस अपूर्ण है और सदा अपूर्ण रहेगी। अर्थात् कभी ऐसा समय नहीं आने का जब मनुष्य यह कह सके कि "मैं सब बातें जान गया अब मेरे उत्तराधिकारियों को कुछ जानना शेष नहीं रहा।" अथवा "जो मैं जानता हूँ वह सब ठीक है। इसमें कोई त्रुटि नहीं है न परिवर्त्तन सम्भव है।"

कुछ लोग कहेंगे कि हम सकुचित विचार के नहीं हैं परन्तु अब तक जितना सायंस ने अन्वेषण किया है उससे आस्तिकवाद का खण्डन ही होता है। इसलिये हम यहां यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि वस्तुतः सायंस की अब तक की खोज आस्तिकवाद का कहां तक खण्डन करती है। पहले सायंस के साधारण सिद्धान्तों

को लीजिये। इस विषय पर महाशय आर्मस्ट्रौंग (Armstrong) ने बहुत अच्छा लिखा है :—

तात्पर्य यह है कि "पहले देखना चाहिये कि सृष्टि उत्पत्ति के विषय में सायंस क्या कहती है। सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एक सूक्ष्म द्रव समस्त आकाश में फैला हुआ था—न सूर्य्य थे न उपग्रह न चांद। हर जगह यही द्रव एक सार फैला हुआ था। तदनन्तर यह द्रव विशेष केन्द्र स्थानों में गाढ़ा हो गया। और इन केन्द्रों में एक प्रकार की गति उत्पन्न हो गई। होते होते हर एक केन्द्र एक गोला बन गया और अपनी कीली पर बहुत बड़े वेग से घूमने लगा। घूमने के कारण उन गोलों में से छोटे छोटे भाग उछिट कर अलग होगये। पहले तो इनकी शनिश्चर ग्रह के समान चूड़ियां सी बन गईं। तत्पश्चात् उनके भी छोटे छोटे गोले बन गये। यह गोले अपनी कीली पर भी घूमने लगे और बड़े गोलों अर्थात् सूर्य्यों के चारों ओर भी। इन छोटे गोलों में से अलग टुकड़े हुये और इस प्रकार चांद बने जिनमें तीन प्रकार की गतियां हो गईं एक अपनी कीली पर, दूसरी उपग्रहों की चारों ओर, तीसरी उपग्रहों के साथ साथ केन्द्रीभूत सूर्य्य के चारों ओर.....सायंस यह नहीं जान सकती कि दूसरे गोलों में प्राणी हैं या नहीं। परन्तु यह तो जानती है कि पृथ्वी पर प्राणी अवश्य हैं। सायंस को यह तो मालूम है कि प्रकृति के परमाणु इस प्रकार संयुक्त होगये हैं कि वीर्य-कोष्ठ (प्रोटोप्लाज़्म) अर्थात् प्राणियों के शरीर का मूलाधार बन गया। परन्तु सायंस यह नहीं बता सकती कि यह परमाणु इस प्रकार कैसे मिल गये कि सर्वथा भिन्न वस्तु अर्थात् चेतनता उत्पन्न हो जाय।

कुछ दार्शनिक लोग इच्छा-शक्ति को संसार से बहिष्कृत करने के प्रयोजन से ऐसा कहने लगते हैं कि गति के नियमों का परमाणुओं

पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वह अन्यथा कार्य्य कर ही नहीं सकता। यदि यह मान भी लिया जाय कि जड़ प्रकृति में कुछ स्वाभाविक शक्तियां ऐसी हैं जो बिना इच्छा-शक्ति के स्वयं कार्य्य करती रहती हैं तब भी प्रश्न यह है कि आरम्भ कैसा हुआ। पहले सूक्ष्म द्रव एक सार फैला हुआ था। फिर वह गाढ़ा कैसे हुआ—एक सारता नष्ट होकर असमानता कैसे आई? विकास के आरम्भ के लिये कोई न कोई शक्ति तो अवश्य चाहिये। जो द्रव अनादि काल से एक सार फैला हुआ था वह अपने से अलग किसी विशेष शक्ति की प्रेरणा के बिना स्वयं स्थूल केन्द्र कैसे बना सकता था?

प्रकृति के परमाणुओं में तुम चाहे कितने ही गुणों की कल्पना क्यों न करलो तीन बातें ऐसी हैं जिनमें तुमको अवश्य ईश्वरी इच्छा शक्ति को मानना पड़ेगा। अर्थात् विकास का आरम्भ, जीवन का आरम्भ और चेतनता का आरम्भ...... .यदि यह मान भी लिया जाय कि पशु पक्षियों तथा मनुष्य की चेतनता उस सूक्ष्म और अव्यक्त चेतनता का विकास मात्र है जो परमाणुओं के भीतर विद्यमान है तो भी चेतनता तथा अहङ्कार के अनुभव के आरम्भ के लिये कोई न कोई ऐसी शक्ति अवश्य माननी पड़ेगी जो इन परमाणुओं से इतर है।"†

---

†"Let us ask science what she can tell us of the story of the Universe . . 'In the beginning,' that is, before there was any organised universe at all, there was a thin fluid evenly diffused throughout space, no suns, no planets, no moons, but everywhere this evenly diffused fluid Then at certain centres this fluid became thickened, while outside those centres it was further rarified and the thickening of these centres produced a rotatory motion, till each one of them became a

वस्तुतः सायंस सृष्टि-उत्पत्ति का प्रकार बताती है न कि कारण। प्रकार को कारण का स्थानापन्न समझ लेना ऐसी बड़ी

---

globe revolving on its axis with immense velocity and at a prodigious heat. The rotatory motion led to smaller masses, being flung off from each central sun, and these, though first forming rings, like the present ring of Saturn, gradually also became globular with motion round their own axes as well as motion round the central Sun. These again in many cases flung off further films which formed into moons, having a treble motion, rotation on their axes, motion round their planets and with their planets motion round the central sun . . . . Science can only guess whether there is actual life on other globes, but it knows that there is on this It sees atoms of matter shifting into such combinations as at last to constitute protoplasm, the physical basis of life though why just this combination of atoms should suddenly put on that entirely new set of characteristics which we call 'life' science can form no sort or kind of guess," (God and the Soul p 50)

"Some philosophers, trying to get rid of the will power in the universe . . . . tell us that the laws of motion impressed on all the molecules of matter as part of their very nature at the beginning of all things could not but work out as they have worked out" (p. 51)

"Suppose that unconscious matter is itself endowed with certain energies and force which act automatically without the presence of will. (Then) what about the start ? An evenly diffused fluid everywhere and then a thickening here and there. What or who brought about that thickening . . . how did the evenness turn to uneven-

भूल है जो ससार के सभी नास्तिक करते चले आये हैं। कल्पना कीजिये कि मेरे पास एक घड़ी रक्खी है, मै इसकी उत्पत्ति का कारण जानना चाहता हूं। एक पुरूप उसका विश्लेपण करके मुझ से कहता है कि पहले लोहे के कण मिट्टी मे मिले हुये पृथ्वी के भीतर विद्यमान थे। खान से वह कण लाये गये और बड़ी २ भट्टियों मे उनको मिट्टी से अलग करके छोटी छोटी शलाकाओं का रूप दिया गया। फिर इन शलाकाओ के छोटे छोटे टुकड़े गलाकर किसी स्थान मे कमानियां, किसी स्थान मे पहिये, किसी स्थान में ढक्कन, किसी स्थान मे कार्ड बोर्ड, किसी स्थान मे सुइयाँ आदि

---

ness ? You must have some power there to start the evolution Evenly spread fluid that had been lying evenly spread from all eternity . . . . . could not by sudden spasm gather into knots and nuclei, unless some power or other than itself were applied to it" (pp 51-52)

"Stamp matter, then ; with what endowments you will, there are these three points where you can by no possibility get rid of the divine will force the beginning of the whole evolution. (If there ever was a beginning), the beginning of life, and the beginning of conciousness" (p. 53)

(If) "this new world of consciousness in bird or beast, and in man himself, is but the brighter blaze in higher organisms of the dim consciousness which stirs even in the humblest atoms of inorganic matter .(then) we should still have to recognise what I have called a hitch....The necessity, that is, of the application of some power other than and above the inherent properties of the universe, in the first rise of self consciousness, appearance of one who is a person consciously distinct from all the universe round and saying to himself 'I am I". (p 51)

बनाई गई । फिर इन सबके मिलने से घड़ी बन गई ।" तो यह घड़ी की उत्पत्ति का प्रकार है । उसका कारण नहीं । मैं यदि उससे पूछूं कि "भाई मैं प्रकार नहीं पूछता, मैं जानना चाहता हूं कि घड़ी किसने बनाई" और वह कहे कि "किसी ने नहीं । मैंने तुमको घड़ी की उत्पत्ति तो बता दी । अब क्या चाहते हो ?" तो यह वैसा ही उत्तर होगा जैसा कि नास्तिक साइंसवेत्ता दिया करते हैं । सच पूछिये तो डार्विन का विकासवाद भी आस्तिकता का खण्डन नहीं करता । वह भी एक रीति से सृष्टि-उत्पत्ति का प्रकार ही बताता है चाहे वह ठीक हो चाहे वे ठीक । इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यदि विकासवाद ठीक हो तो उस विकास को संयम में रखने के लिये किसी ज्ञानमयी इच्छाशक्ति की आवश्यकता नहीं ।

पाश्चात्य नास्तिक डार्विन के विकासवाद पर फूले नहीं समाते । वह समझते हैं कि डार्विन ने उनके हाथ में ऐसा शस्त्र दे दिया है जिसके सहारे वह ईश्वर को मनुष्य मात्र के मस्तिष्क से निकाल कर फेंक देंगे और धर्म के ढकोसले से संसार को पवित्र करके ही छोड़ेंगे । उनका तो यहाँ तक विचार है कि यदि प्राचीन काल में सचमुच ईश्वर ही सृष्टि बनाता होगा तो डार्विन के विकासवादी राज्य के पश्चात् वह अपना टाट कमण्डलु लेकर उन प्रदेशों को भाग जायगा जहाँ विकासवाद का अन्वेषण नहीं हो सका । हम यहां प्रसिद्ध सायंसवेत्ता हक्सले (Huxley) के ले सर्मन्स (Lay Sermons) अर्थात साधारण व्याख्यानों से एक युक्ति उद्धृत करते हैं जो उसने आस्तिकवाद के खण्डन में पेश की है :—

"हेतुवाद-सम्बन्धी युक्ति यह है:—'अ' नामक वस्तु 'ब' नामक

---

†The teleological argument runs thus :—an organ or organism (*a*) is precisely fitted to perform

प्रयोजन को ठीक ठीक सम्पादन करने के उपयुक्त है। अतः वह इसी प्रयोजन के सिद्ध करने के लिये बनाई गई थी। पैले (Paley) का प्रसिद्ध उदाहरण यह है कि घड़ी के सब पुर्जे इस प्रकार संयुक्त हुये हैं कि वह समय बताते हैं। इससे प्रसिद्ध है कि घड़ी बनाने का प्रयोजन ही समय बताना है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये केवल एक ही ज्ञात साधन है अर्थात् एक बुद्धिमती शक्ति ने घड़ी के पुर्जे को इस प्रयोजन को दृष्टि में रखते हुये विशेष प्रकार से जोड़ दिया है। कल्पना करो कि कोई यह सिद्ध कर दे कि घड़ी को किसी पुरुष विशेष ने नहीं बनाया। यही किसी दूसरी घड़ी का परिवर्त्तित रूप है जो समय तो बताती थी परन्तु भली प्रकार नहीं। और यह दूसरी घड़ी किसी तीसरी चीज का परिवर्त्तित रूप थी जिसको घड़ी कह ही नहीं सकते थे क्योंकि उसके मुंह पर कोई अङ्क न थे और

---

a function or purpose (b) Therefore it was specially constructed to perform that purpose. In Paley's famous illustration, the adaptation of all the parts of the watch to the function or purpose of showing the time, is held to be evidence that the watch was especially contrived to that end, on the ground that the only cause we know of, competent to produce such an effect as a watch which shall keep time, is a contriving intelligence adapting the means directly to that end Suppose, however, that any one had been able to show that the watch had not been made directly by any person but that it was the result of the modification of another watch which kept time but poorly, and that this, again, had proceeded from a structure which could hardly be called a watch at all, seeing that it had no figure on the dial, and the heads were rudimentary and that, going back and back in time, we come at last to a revolving barrel as the earliest traceable rudiment of the whole fabric. and imagine that it had been possible to show that all these changes had resulted first from a tend-

सुइयाँ भी आरम्भिक अवस्था में ही थीं। इसी प्रकार पीछे को लौटते लौटते हम यहां तक सिद्ध कर सके कि यह घड़ी आरम्भ में एक घूमती हुई नलिका मात्र थी। यह भी कल्पना करो कि यदि यह सिद्ध हो जाय कि इन सब परिवर्त्तनों का कारण प्रथम तो उस नलिका के पुर्जों का आन्तरिक स्वभाव है जिसके कारण वह अनेक रूप धारण करते हैं। दूसरे परिस्थिति का उन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि जो परिवर्त्तन होते हैं वह इसी दिशा में होते हैं कि समय बनाने का काम दे सकें। संसार की परिस्थित उनको दूसरी किसी दिशा में जाने ही नहीं देती तो यह स्पष्ट है कि पैले की युक्ति युक्ति-शून्य हो जायगी। क्योंकि यह सिद्ध हो जायगा कि एक ऐसी कल जो किसी विशेष प्रयोजन को भली भाँति सिद्ध कर सके बुद्धि-शून्य साधकों के बिना प्रयोजन को दृष्टि में रक्खे हुये निरन्तर तजर्बा करते करते भी बन सकती है और प्रयोजन को दृष्टि में रखने वाली बुद्धियुक्त सत्ता द्वारा भी बनाई जा सकती है।"

(पृ० ३३०, ३३१)

हक्सले के इस कथन से यह बात सिद्ध होती है कि कभी कभी ऐसा होता है कि एक निर्बुद्धि मनुष्य किसी एक वस्तु को बनाता है। वह नहीं जानता कि मैं क्या बना रहा हूँ। जब वह वस्तु बन

---

ency in the structure to vary indifinitely, and secondly, from something in the surrounding world which helped all variations in the direction of an accurate timekeeper and checked all those in other directions then it is obvious that the force of Paley's argument would be gone. For it would be demonstrated that an apparatus, thoroughly well adapted to a particular purpose, might be the result of a method of trial and error worked by unintelligent agents, as well as of the direct application of the means appropriate to that end by an intelligent agent-"

जाती है तो वह यह सोचता है कि इससे तो एक और वस्तु बन सकती है। अब वह इस वस्तु को बनाता है। फिर दूसरी वस्तु किसी और बात को सुझाती है। इस प्रकार होते होते अन्त में एक बहुत अच्छी वस्तु बन जाती है जो एक वशेष प्रयोजन को भली भाँति सम्पादित कर सकती है। यदि किसी विशेष प्रयोजन को सम्पादन करने वाली वस्तु के बनाने के लिये पहले से सोच विचार की आवश्यकता नहीं तो सृष्टि उत्पत्ति के लिये ईश्वर की आवश्यकता क्यों मानी जाय जो पूर्व से ही विशेष प्रयोजन को दृष्टि मे रख कर सृष्टि की रचना करता हो? क्योंकि जिस प्रकार एक साधारण नलिका मे परिवर्तन होते होते अच्छी घड़ी बन जाना सम्भव है उसी प्रकार प्राणियो के तुच्छ शरीरो मे परिवतन होते होते ही मनुष्य जैसे विचित्र शरीर बन गये हैं। यदि ईश्वर प्रयोजन को दृष्टि मे रखकर बुद्धि पूर्वक मनुष्य का शरीर बनाता तो वह मनुष्य शरीर सीधा ही क्यों न बनाता। इतने परिवर्तनों की क्या आवश्यकता थी। यदि ईश्वर सर्वज्ञ या पूर्णज्ञ था तो उसे छोटे छोटे तजर्बे करने की क्या आवश्यकता थी।

डार्विन और उसके अनुयायी ऐसा सिद्ध करते हुये प्रतीत होते हैं कि समस्त सृष्टि क्रम बिना किसी प्रयोजन के स्वयं ही स्वभाविक शक्तियो द्वारा उत्पन्न हो गया है, और इसके लिये ज्ञान-पूर्ण शक्ति की आवश्यकता नहीं है। वह कहते हैं कि सृष्टि मे यह नियम काम करते रहते हैं:—(१) पितृ-नियम (Law of Heredity) अर्थात् एक वस्तु से उसी के समान वस्तु उत्पन्न होती है। (२) परिवर्तन का नियम (Law of Variability) अर्थात् उपयोग तथा अनुपयोग के कारण चीज़ों मे परिवर्तन हुआ करता है। (३) अधिक उत्पत्ति के नियम (Law of over-production) अर्थात् इतनी वस्तुयें उत्पन्न हो जाती हैं कि उनमें अपने अस्तित्व

की स्थिति के लिये युद्ध (Struggle for existence) होने लगता है (४) योग्य-विजय (Survival of the fittest) या स्वाभाविक-चुनाव (Natural Selection) का नियम जिसके द्वारा जो वस्तुएँ सबसे योग्य हो तो जीवित रह जाती हैं। अन्य सब नष्ट हो जाती है। हम यहाँ विकासवाद के नियमों या सिद्धान्तों की मीमांसा नहीं करते। न इस बात का अन्वेषण करने का प्रयत्न करते हैं कि मनुष्य आरम्भ से मनुष्य के रूप में ही बनता आया या छोटे छोटे शरीरो का परिवर्त्तित रूप ही मनुष्य का वर्त्तमान शरीर है। हम यहाँ थोड़ी देर के लिये मान लेते हैं कि डार्विन के सिद्धांत ठीक हैं। फिर भी प्रश्न यह है कि क्या इन नियमों को ठीक ठीक चलाने के लिये किसी नियंता की आवश्यकता है या नियम स्वयं ही बिना अधिष्ठात्री शक्ति के संसार में काम करते है।

‡"पितृ-नियम यह है कि समान से समान वस्तु उत्पन्न होती हैं। परन्तु ऐसा नियम क्यों है? समान से समान ही क्यों उत्पन्न होता है? समस्त सृष्टि वन्ध्या क्यों नहीं? अचेतन द्वारा शासित सृष्टि में सन्तानोत्पत्ति के लिये प्रबन्ध ही क्यों है? फिर पैदा करने वाली और पैदा हुई वस्तुयें समान ही क्यों है? बच्चे हमेशा अपने पिताओ के इतने ही असमान क्यों नहीं उत्पन्न होते जितना मेंडक से मेंडक का बच्चा होता है? बड़े जानवरो के बच्चे भी उत्पत्ति के समय कई ऐसी श्रेणियों से गुज़रते हैं जो उनके मा बाप से भिन्न

---

‡There is a law of heredity:—like produces like. But why is there such a law? Why does like produce like? Why should not all nature have been sterile? Why should there have been any provision for the propagation of life in a universe ruled by a mere blind force? And why should producer and

होती है। फिर यह क्यों उनके समान हो जाते हैं ? भौतिक सायंस इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सकती। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसे प्रश्न न किये जायँ और उनका उत्तर न दिया जाय। मेरी समझ में तो इन प्रश्नों का केवल एक ही उत्तर दिया जा सकता है। वह यह कि एक सर्वज्ञ ईश्वर है जिसने ऐसा प्रबन्ध रच रक्खा है कि संसार दीर्घकाल तक जीवन का आधार बना रहे।"

मनुष्य का बच्चा जब मा के गर्भ में पड़ता है तो उसकी मनुष्य के समान आकृति नहीं होती। गाय, ख़रगोश, सुअर और मनुष्य के बच्चों की आकृति गर्भ के पहले मास में एक सी होती है। कई महीनों पश्चात् उनमें भेदक चिह्न बनने आरम्भ होते हैं। परन्तु उत्पत्ति के समय वह स्पष्ट रीति से भिन्न भिन्न हो जाते हैं। इस उदाहरण में यदि हक्सले महोदय की वह युक्ति भिड़ाई जाय जो उन्होंने पेले के घड़ी के उदाहरण में दी थी तो उसकी असारता शीघ्र ही स्पष्ट हो जाती है। स्त्री के पेट का एक मास का गर्भ आगे चलकर गाय का रूप क्यों नहीं धारण करता और मनुष्य का ही क्यों धारण करता है ? इससे तो यही प्रकट होता है कि यद्यपि गाय और स्त्री दोनों के गर्भ के पहले मास के लोथड़े देखने में एक

---

produced be like " Why should offspring not always be as unlike their parents as, tadpoles are unlike frog ? The offsprings of all the higher animals pass through various embryological stages in which they are extremely unlike their parents. Why should they ever become like to them ? Physical science cannot answer these questions, but there is no reason why they should not be both asked and answered. I can conceive of no other intelligent answer being given to them than that there is a God of wisdom, who designed that the world should be for ages the abode of life "

(Flint' Theism p. 201)

से थे तथापि नियन्ता ने विचार-पूर्वक ऐसा प्रबन्ध किया था कि स्त्री का बच्चा मनुष्य की आकृति धारण करे और गाय का गाय का। सुनार कड़े और हार दोनों के लिये एक ही प्रकार सोना पिघलाता है। आरम्भ में सोने की शलाका भी एक ही प्रकार की होती है। देखने वाला समझता है कि दोनो शलाकायें एक सी है। परन्तु सुनार जानता है कि एक शलाका से हार बनाना है और दूसरी से कड़ा। इसलिये आगे चल कर वह भेद कर देता है। यही हाल जानवरों के बच्चों का है। पितृ-नियम आस्तिकवाद का खण्डन नहीं करता।

[1]"इनके अतिरिक्त परिवर्त्तन के नियम से भी एक प्रयोजन

---

†"Then, the so called law of variability is the expression of a purpose which must have a reason at its beginning, middle and end. There is in no organism an absolutely indefinite tendency to vary. Every variation of every organism is in some measure determined by the constitution of the organism. 'A whale,' as Dr. Huxley says "does not tend to vary in the direction of producing feathers, nor a bird in the direction of producing whalebone.' But a tendency to definite variation is an indication of purpose. If a man could make a revolving barrel and with a tendency to develop into a watch, he would have to be credited with having designed both the barrel and watch, not less than if he had contrived and constructed the two separately ... variation, according to the Darwinians, has taken place in one direction and not in another; it has been forward, not backward, it has been a progression, not a retrogression. Why, only because of a continuous adjustment of organisms to circumstances tending to bring this about."(Flint's Theism p. 203).

सूचित होता है जिसके आदि, मध्य, तथा अन्त में बुद्धि की आवश्यकता है। किसी वस्तु में ऐसा स्वभाव नहीं पाया जाता कि परिवर्त्तनों का अन्त ही न हो। प्रत्येक वस्तु में परिवर्त्तन उसकी बनावट के अनुसार होता है। डाक्टर हक्सले के कथनानुसार 'ह्वेल में ऐसा परिवर्त्तन कभी नहीं होता कि उसके पर निकल आवें और न चिड़ियों में ऐसा परिवर्त्तन होता है कि उनमें ह्वेल की हड्डी बन सकें'। नियत परिवर्त्तन से स्पष्टतया प्रयोजन सूचित होता है। यदि कोई मनुष्य ऐसी घूमती हुई नलिका बना सके जो आगे चल कर घड़ी के रूप में विकसित हो सके तो इन दोनों वस्तुओं को एक साथ बनाने के लिये उसकी बुद्धि की उतनी ही प्रशंसा करनी पड़ेगी जितनी अलग अलग नलिका और घड़ी बनाने के लिये। डार्विन के अनुयायियों के मतानुसार परिवर्त्तन एक निश्चित मार्ग में हुआ है इससे विरुद्ध नहीं। यह आगे को ही चलता है पीछे को नहीं। इससे उन्नति ही होती है अवनति नहीं। क्यों? केवल इसीलिये कि चीजों की मिलावट इस बुद्धिमता के साथ की गई है कि उससे नियत परिणाम निकल सके।"

[1]"अब अधिक उत्पत्ति के नियम को लीजिये जिसके कारण अस्तित्व के लिये युद्ध करना पड़ता है। क्या इस नियम से यह

[1]"Again, there is a law of overproduction, we are told which gives rise to a struggle for existence. Well, is this law not a means to an end worthy of Divine Wisdom? In it we find the reason why the world is so wonderfully rich in the most varied forms of life. What is called overproduction is a productivity which is in excess of the means of subsistence provided for the species itself; but no species exists merely for itself. The ratio of the production of life is probably none too high for

सूचित नहीं होता कि बुद्धिमान ईश्वर ने ऐसी रचना रची है जिससे विशेष प्रयोजन सिद्ध हो सके ? इसी से तो पता चलता है कि संसार मे इतने भिन्न भिन्न प्रकार के और इतने अधिक जीव क्यों हैं ? जिसको उत्पत्ति का आधिक्य कहते हैं वह आधिक्य उस एक जाति के अपने अस्तित्व की आवश्यकताओं की अपेक्षा से ही है। परन्तु कोई जाति स्वयं अपने लिये ही नहीं जीती। यदि उन सब प्राणियों का हिसाब लगाया जाय जिनको भोजन तथा सुख पहुँचाना है तो शायद उत्पत्ति इतनी अधिक न सिद्ध होगी। वस्तुतः

---

the wants of all the creatures which have to be supplied with food and enjoyment And the wants of all creatures are what have to be taken into account, not the wants of any single species, not the wants of man alone If we adequately realised how vast is the number of guests which have constantly to be fed at the table of nature, we would, I have no doubt, acknowledge that there is little, if any, real waste of life in the world. Then, the struggle to which the rate of production gives rise is, on the showing of the Darwinians themselves, subservient to the noblest ends Although involving privation, pain and conflict, its final result is order and beauty. All the perfections of sentient creatures are represented as due to it Through it the lion has gained its strength, the deer its speed, the dog its sagacity The inference seems natural that these prefections were designed to be attained by it, that this state of struggle was ordained for the sake of the advantages which it is actually seen to produce. The suffering which the conflict involves may indicate that God has made even animals for some higher end than happiness, that he cares for animal perfection as well as for animal enjoyment ? but it affords no reason for denying that the ends which the con-

सभी प्राणियों की आवश्यकता पर विचार करना चाहिये, केवल एक जाति या केवल मनुष्य की आवश्यकता पर नहीं। यदि हम इस बात का हिसाब लगा सकें कि संसार में कितने महमानों को निरन्तर खाना पहुँचाने का प्रबन्ध करना पड़ता है तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि में किसी प्रकार का अपव्यय नहीं होता। फिर इस बात को तो डार्विन के अनुयायी भी मानते हैं कि इस अस्तित्व के युद्ध का परिणाम अच्छा ही होता है। दुःख, वेदना तथा वैमनस्य भी अन्त में प्रबन्ध तथा सौन्दर्य के लिये ही है। बुद्धि वाले प्राणियों में जो पूर्णतायें विद्यमान हैं उनका कारण यही युद्ध है। इसी के द्वारा सिंह को शक्ति, हिरण को तेजी और कुत्ते को बुद्धि मिलती है। इससे स्वभावतः यही अनुमान होता है कि यह सब पूर्णतायें इसी युद्ध द्वारा होने को थीं। और इस अस्तित्व-युद्ध की योजना भी इसी प्रयोजन के लिये हुई थी। इस युद्ध से जो वेदना होती है इससे भी यही प्रकट होता है कि ईश्वर ने जीवों को केवल सुख के लिये ही नहीं बनाया किन्तु इससे उच्च प्रयोजन के लिये भी। अथवा ईश्वर को प्राणियों की उन्नति का उतना ही ध्यान है जितना उनके सुख का। परन्तु इससे इस बात का खण्डन

---

flict actually serves, it was also intended to serve. Besides, the conflict is clearly not a struggle for bare existence; it is, even as regards the animals, a struggle for the largest amount of enjoyment which they can secure, and for the free and full exercise of all their faculties. It thus manifests, not only indirectly but also directly, what its ends are. They are ends which can only be reasonably conceived of as having been proposed by an intelligence, and which are eminently worthy of a Divine Intelligence."

(Flint's Theism pp. 203-205)

नहीं होता कि जो प्रयोजन इस युद्ध से निकल रहा है उसके लिये उसकी योजना नहीं हुई थी, फिर दूसरी बात यह है कि यह युद्ध केवल अस्तित्व के लिये ही नहीं है। किन्तु अत्यन्त सुख और अपनी शक्तियों के अत्यन्त और स्वतन्त्रता-पूर्वक विकास के लिये भी है। यह ऐसे प्रयोजन हैं जो केवल बहुत बड़ी बुद्धि द्वारा ही निश्चित हो सकते हैं और इनसे दैवी बुद्धि के कार्य्य का बड़ी उत्तमता से प्रकाश होता है।"

[1]"अब रहा स्वाभाविक चुनाव (Natural Selection) जिसको नियम कहना भी सन्देहात्मक है। जहाँ तक कि इसका सम्बन्ध भौतिक सायंस से है अर्थात् जहां तक भौतिक सायंस इसका खण्डन या मण्डन कर सकती है वहां तक तो इस नियम का केवल यही तात्पर्य है कि जो परिवर्त्तन, किसी भी कारण से उत्पन्न होकर किसी जाति के व्यक्तियों के लिये लाभकारी है वह उनको अवश्य लाभ पहुंचाता रहेगा और उनकी सन्तान को भी लाभ पहुंचाने का अवसर पा सकेगा जिससे उन (सन्तानों) को जीवित रहने और फलने फूलने का सौभाग्य प्राप्त हो सके और वह शत्रु जिनमें इतनी शक्ति नहीं है नष्ट हो जाय। परन्तु यह स्वाभाविक चुनाव रचना (design) के विरुद्ध नहीं है। यह तो उलटा इस बात को प्रकट करता है कि यही रीति है जिसके

---

[1]But what of the law, or so-called law, of natural selection? In itself, and so far as physical science can either prove or disprove it, it is simply an expression of the alleged fact, that, in the struggle of life, any variation, however caused which is profitable to the individuals of a species, will tend to their preservation, will have a chance of being transmitted to their offspring, and will be of use to them likewise, or that they will survive and multiple at the exponse of competitors which

द्वारा प्रबन्ध का सम्पादन हो सकता है। सम्भव है कुछ लोगों का ऐसा भी मत हो कि प्रबन्ध के सम्पादन का और कोई मार्ग भी है। यदि इस प्रकार न हो सके तो केवल मौजिज़े (चमत्कार) द्वारा ही हो सकता है। डार्विन महाशय और बहुत से वह लोग जो अपने को डार्विन के अनुयायी कहते हैं यह बताते है कि 'न केवल स्वाभाविक चुनाव का ही नियम है किन्तु यह स्वाभाविक चुनाव होता भी केवल जड़ शक्तियो और अचेतन नियमो द्वारा ही है। इच्छा शक्ति या बुद्धि का इसमें कुछ काम नहीं। इसका वह क्या

---

are not so well endowed. Some might even hold that design cannot be conceived of as realised in any other natural way; that if not thus realised, it could only be miraculously realised, But Mr. Darwin, and many of those who call themselves his followers, tell us not only that there is natural selection, but that blind forces and mechanical laws alone bring it about, that intention and intelligence have nothing to do with it What proof do they give us ? Alas, the painfull thing is that they give us none They point out the blind forces and the mechanical laws by which the selection is effected and its results secured they show how they are adapted to accomplish their work: & then they assent that these forces and laws explain the whole matter; that no underlying and all embracing reason has prepared, arranged, and used them. They see physical agencies and the physical process by which order and beauty have been attained; they do not see intelligence and design; and because they do not see them, they conclude that they have no existence. They describe the mechanism which their senses apprehend, and affirm it to have made itself, or at least to have been unmade, and to work of itself, because the mind which contrived it and directs it is inacces-

प्रमाण देते हैं ? शोक तो यह है कि कोई प्रमाण नहीं देते है ? वे केवल उन जड़ शक्तियो और बुद्धि शून्य नियमो की ओर संकेत कर देते हैं जिनके द्वारा यह चुनाव होता है और उसका परिणाम निकलता है। उनसे तो केवल यही प्रकट होता है कि वह अपना काम किस प्रकार करते हैं। इस पर भी वह यह मानते हैं कि इन्ही शक्तियो और नियमो द्वारा समस्त सृष्टि की व्याख्या हो सकती है और कि इनमे कोई ऐसी सर्वव्यापी बुद्धि का प्रवेश नहीं है जिसने

---

sible to sense All their reasoning resolves itself into a denial of what is spiritual because it is unseen.

The only instances of natural selection which have been adduced to show that blind forces may bring about results as remarkable, and of the same kind, as those which are accomplished by intelligent agents. are manifestly irrelevant. They are of such a nature that every teleologist must hold them to imply what they are intended to disprove When Professor Huxley points to the winds and waves of the Bay of Biscay as carefully selecting the particles of sea sand on the coasts of Brittany, and heaping them, according to their size and weight, in different belts along the shore, to a frosty night selecting the hardy plants in a plantation from among the tender ones, and to a hurricane transporting sapling to a new seat in the soil, he completely mistakes what the problem before him is. Fire and water can produce wonderful effect in a steam engine but the man who should infer, from there being no intelligence in the fire and water themselves, that intelligence must have had nothing to do with their effect when they were brought into contact in a steam engine would deserve no great credit for his reasoning. It is precisely Professor Huxley's

उनको सोचकर क्रमशः रक्खा हो या इनसे काम लिया हो। भौतिक साधन और भौतिक उपाय जिनके द्वारा प्रबन्ध और सौन्दर्य का सम्पादन होता है उनकी आँख के सामने हैं। बुद्धि तथा विचार उनको दिखाई नहीं देता, अतः वह समझते हैं कि इनका अस्तित्व भी नहीं। वे उस कल की व्याख्या कर देते हैं जो उनकी इन्द्रियों द्वारा जानी जा सकती है और कह देते हैं कि यह स्वयं बन गई या बे बनी हुई है और स्वय ही चल रही है क्योंकि जिस मस्तिष्क ने उसे बनाया और जो उसे चला रहा है वह मस्तिष्क उनको दिखाई नहीं पड़ता। इस सब युक्ति का यही अर्थ है कि चूंकि आत्मा दिखाई नहीं देता अतः वह है भी नहीं।

स्वाभाविक चुनाव के जो उदाहरण यह सिद्ध करने के लिये दिये गये हैं कि जड़ शक्तियाँ ही काम करती रहती हैं और उनसे वही फल निकल सकता है जो चेतन शक्तियों द्वारा काम करने से निकलता है। वह सब अप्रासगिक हैं। वे इस प्रकार के हैं कि उनसे आस्तिको के विचारानुसार उन्हीं बातों का मण्डन होता है जिनके खण्डन करने के

---

reasoning He looks at the fire and water separately, and completely ignores the engine. Because in a world which is a system of order and law a certain collocation and combination of physical condition and forces will produce an orderly result he infers that design and intelligence are not needed to produce such a result. I submit that is illegitimate and irrelevant reasoning. It resolves itself into a denial of Divine and intelligent agency, because the senses apprehend merely physical elements and a physical process. It assumes a selected adaptation, which presupposes intelligence in order to get rid of intelligence It begs the whole question

लिये वह पेश की जाती हैं। प्रोफेसर हक्सले ने उदाहरण दिये हैं कि विस्के की खाड़ी की लहरें और हवायें ब्रिटनी के तट पर समुद्र की रेणु को बड़ी सावधानी से चुनकर परिमाण और सख्या के अनुसार भिन्न २ आकारो मे लगा देती है। या रात का पाला बाग मे से मजबूत पौधो को छाँट लेता है और कमजोरो को मार डालता है, तूफान एक पौधे के अकुर को एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान में लगा देता है। परन्तु हक्सले बिल्कुल भूल जाता है कि उसे सिद्ध क्या करना है? भाप के इञ्जन मे आग और पानी अद्भुत काम कर सकते हैं। परन्तु उस मनुष्य की तर्क-बुद्धि के लिये क्या कहा जावे जो यह मान लेता है कि चूंकि आग और पानी जड़ हैं इस लिये उन से विशेष कार्य लेने के लिये बुद्धि की भी आवश्यकता नहीं है। प्रोफेसर हक्सले की भी युक्ति इसी प्रकार की है। उसकी दृष्टि आग और पानी पर अलग अलग तो जाती है परन्तु इञ्जन पर नही जाती। वह समझता है कि इस प्रबन्ध तथा नियम बद्ध सृष्टि मे कुछ भौतिक सयोग या परिस्थितियो द्वारा अमुक फल निकल आता है अतः बुद्धि तथा विचार की कुछ आवश्यकता नहीं। मै कहता हूँ कि यह अनुचित और अप्रासगिक हेतु है। इसका यही तात्पर्य है कि इन्द्रियो द्वारा केवल भौतिक पदार्थ या भौतिक घटनाये ही दिखाई दे सकती हैं अतः ईश्वर या चेतन-शक्ति कोई चीज नहीं। बुद्धि का खण्डन करने लिये वह ऐसे चुनाव को मान लेता है जिसके लिये स्वयं बुद्धि की आवश्यकता है। अन्योन्याश्रय-दोष इसी को कहते हैं।"

"यद्यपि लिङ्ग-सम्बन्धी चुनाव (दाम्पत्य चुनाव) के नियम को नियम कहना भी कठिन है तो भी इससे विचारशक्ति सिद्ध होती है। इसका प्रयोजन यह है कि आकार तथा रंग सम्बन्धी सौन्दर्य का सम्पादन हो सके। क्या जड़ भौतिक शक्तियाँ बिना बुद्धि की सहायता के सौन्दर्य जैसी अद्भुत वस्तु को उत्पन्न कर सकती है?"

यहां हमारे ऊपर एक आक्षेप हो सकता है वह यह कि हमने डार्विन के सिद्धान्तों से वह बात सिद्ध करने का प्रयत्न किया है जिसको डार्विन या उसके अनुयायी नहीं मानते। फ्लिएट ईश्वरवादी होने से सायंस सम्बन्धी बातों में प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। उसने डार्विन के सिद्धान्तों को तोड़ मरोड़ कर अपना पक्ष सिद्ध किया है। इसके विषय में हम दो बातें कहेंगे। पहली यह कि यदि फ्लिएट ने विपक्षी सायंसवेत्ता के सिद्धान्त से ही यह दिखा दिया कि जिस बात को डार्विन बिना बुद्धि-युक्त इच्छा-शक्ति के होना बताता है वह उसी के नियमों से असिद्ध ठहरता है तो उसने कोई पाप नहीं किया। यदि डार्विन अधिक सोचता तो शायद उसको भी उसी नतीजे पर पहुँचना पड़ता। दूसरी इससे भी विचित्र बात यह है कि हमारी बात की एक और ऐसे ही धुरन्धर विकासवादी के कथन से पुष्टि होती है। आल्फ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) के नाम से हर एक विकासवादी तथा सायंसवेत्ता को परिचित होना चाहिये। वह डार्विन का सहयोगी

"The so called law of sexual selection, if it be a law at all, is obviously teleogical in its nature. Its end is the production of beauty in form and colour. Can blind physical forces, if not subservient to intelligence, be conceived of as working towards so essentially ideal a goal as beauty?"

(Flint's Theism p. 208).

था और डार्विन के पश्चात् भी उसी मार्ग का पथिक रहा है। उसने अपने आधी शताब्दि के अन्वेषण के पश्चात् "दी वर्ल्ड आफ लाइफ्" (The World of Life) या "जीवन जगत्" नामक पुस्तक की भूमिका में यह मर्म की बात लिखी है जिससे सायस-वेत्ताओं की आंखें खुल जानी चाहिये :—

1"......मेरी पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि मैंने उन मौलिक नियमों की सरल परन्तु गम्भीर परीक्षा की है जिनको डार्विन ने अपने अधिकार के बाहर समझ कर जान बूझ कर अपने ग्रन्थों में नहीं लिखा। अर्थात् यह नियम कि जीवन क्या है और उसके कौन २ से कारण हैं, और विशेष कर जीवन में वृद्धि और सन्तान उत्पत्ति की जो विचित्र शक्तियाँ हैं उनका क्या कारण है ?...

.. ..

1" . . . ..the most prominent feature of my book is that I enter into a popular, yet critical examination of those underlying fundamental problems which Darwin purposely excluded from his work as being beyond the scope of his enquiry Such are, the nature and causes of Life itself ; and more especially of its most fundamental and mysterious powers—growth and reproduction

. . . .

. I argue, that they necessarily imply first a *creative power* which so constituted matter as to render these marvels possible, next, *a directive mind* which is demanded at every step of what we term growth, and often look upon as so simple and natural a process as to require no explanatin , and, lastly, *ultimate purpose* , in the very existence of the whole vast life-world in all its long course of evolution throughout the eons of geological time " (A R Wallace's World of Life, preface pp VI—VII).

मै यह परिणाम निकालता हूँ कि इनसे (पत्तियो तथा कीड़ो के रंग आदि मे) पहले तो एक उत्पादक-शक्ति का परिचय होता है जिसने प्रकृति को इस प्रकार बनाया कि उससे ऐसी आश्चर्य जनक घटनाये सम्भव हो सकी। दूसरे एक संचालक बुद्धि मालूम होती है जो वृद्धि की प्रत्येक अवस्था मे आवश्यक होती है। यद्यपि हम इस वृद्धि को ऐसी साधारण वस्तु समझ लेते है कि उसकी मीमांसा की भी आवश्यकता नही समझते। और अन्त को उस अन्तिम प्रयोजन का पता चलता है जो भूगर्भ सम्बन्धी युग युगान्तरों से इस समस्त विशाल जीवन जगत् की दीर्घ-कालीन विकास यात्रा मे ओत प्रोत हो रहा है।"

इस प्रकार डार्विन के विकासवाद से आस्तिकता का खण्डन नही होता। इससे तो उलटा ईश्वरीय विचित्र बुद्धि का उल्लेख होता है। डार्विन ने भिन्न भिन्न पौदो,तथा कीट पतङ्ग आदि के शरीरो की बनावट, उनके स्वाभाव, उनकी रीतियो आदि विषयो पर जो ग्रन्थ रचे है उनसे सृष्टि के अद्भुत सौन्दर्य तथा उससे प्रकट होने वाले अपूर्व ज्ञान का परिचय होता है। यही वालेस महाशय का भी मत है।

परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नही है कि आस्तिको को विकास-वाद मान ही लेना चाहिये। हमने यहां केवल यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि विकासवाद के आधार पर आस्तिकता का खण्डन करना अनुचित ही नही किन्तु असम्भव है। परन्तु ऐसा करने से हम विकासवादी नही हो जाते।

वस्तुतः वर्तमान अवस्था मे विकासवाद को सिद्धान्त मान लेना बड़े बड़े वैज्ञानिकों से भी एक पग आगे धरना है। विकासवाद इतने दिनो के परिश्रम के पश्चात भी केवल वाद (Theory) मात्र

है। वैज्ञानिक लोग भी यह निश्चय नहीं कर सके कि इस पर कहाँ तक और किस रूप से विश्वास किया जाय। नई नई शृङ्खलायें ऐसी निकल ही आती हैं कि डार्विन का बनाया हुआ घर न जाने कब धम से आ पड़े। जो डार्विन का मत था उसमे बहुत प्रकार के विशेषण लगा दिये गये हैं। वालेस महाशय वही नही कहते जो डार्विन कहते थे। डार्विन महोदय के सुयोग्य पुत्र प्रोफेसर जार्ज डार्विन ने १६ अगस्त १९०५ को दक्षिणी अफ्रीका मे ब्रिटिश एसोशियेसन के प्रधान की हैसियत से कहा था "The mystery of life remains as impenetrable as ever," अर्थात् जीवन का रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जैसे पहले था।

एबर्डीन यूनीवर्सिटी के प्रो० जे. ए टाम्सन (Prof J A Thomson) और एडिवरा यूनीवर्सिटी के प्रो० पैट्रिक गेडीस (Prof of Patrick Geddes) ने विकासवाद पर लिखते हुये कहा है :—

‡"हम नही जानते कि मनुष्य कहाँ से आया या कैसे आया? यह मान लेना चाहिये कि मनुष्य के विकास के प्रमाण सदिग्ध है और सायंस मे उनके लिए कोई स्थायी स्थान नही हैं।"

९ वी जून १९०५ के टायम्स (Time's Literary Sapplement) मे कई विकासवादियो के वाद-विवाद के विषय मे लिखा था :—

---

‡"We donot know whence he emerged . . . . nor do we know how man arose - for it must be admitted that the factors of the evolution of man partake largely of the nature of may-be's, which has no permanent position in science"

(Ideals of Science and Faith)

*"ऐसी गड़बड़ पहले कभी नहीं देखी गई। तमाशा है कि यह सब अपने को विज्ञान का प्रतिनिधि बताते हैं।.... .सच तो यह है कि यद्यपि कुछ लोग एक दो बातो में सहमत हैं कोई एक बात भी ऐसी नही है जिसमे सब सहमत हो। विकासवाद के पक्ष मे युद्ध करते हुये उन्होने इसके टुकड़े टुकड़े कर डाले। अब इसका कुछ भी शेष नहीं रहा। केवल युद्ध क्षेत्र मे कुछ टुकड़े इधर उधर बिखरे पड़े हैं।'

मनुष्य की बन्दर से उत्पत्ति के विषय मे सर जे डब्ल्यू डौसन (J W. Dawson) कहते है;—no remains of intermediate forms are yet known to science.

अर्थात् "बन्दर और मनुष्य के बीच की आकृति का विज्ञान को कुछ पता नही" और

†मनुष्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी मनुष्य की सी ही हैं और इनसे उस विकास का कुछ पता नही लगता जो मनुष्य शरीर से पहले हुआ है"।

प्रो० औवेन (Prof Owen) का कथन है:—

‡"मनुष्य अपने प्रकार की एकमात्र जाति है और अपनी जाति का एक-मात्र प्रतिनिधि है"।

---

*"Never was seen such a melee. The humour of it is that they all claim to represent science. . . . . .For the plain truth is that, though some agree in this and that, there is not a single point in which all agree. Battling for evolution they have torn it to pieces, nothing is left—nothing at all, on their showing, save a few fragments strewn about the arena."

†"The earliest known remains of man are still human, and tell us nothing as to the previous stages of development"

‡' Man is the sole species of his genus and the sole representative of his species"

इतना ही नहीं, बहुत से वैज्ञानिकों का तो ऐसा भी मत है कि मनुष्य दिन प्रति दिन उन्नति नही किन्तु अवनति करता जाता है। सिडनी कौलेट (Sidney Collett) ने अपनी पुस्तक The Scripture of Truth मे लिखा है कि—

*"सायंस की स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनति दशा से उन्नत दशा को ओर चलने के स्थान मे उलटा अवनति कर रहा है।"

वह लिखते हैं।

†"ट्रांज़ेकशन्स आफ दी रायल सोसाइटी कनाडा में मिस्टर होरेशियो हेल ने एक लेख लिखा था जिसमे सिद्ध किया था कि आदि मनुष्य मे उसकी आदिम अवस्था मे इतनी ही उच्च बुद्धि थी जितनी उसकी सन्तान मे। और सर० जे० डब्ल्यू डौसन ने उसी विषय में यह लिखा है कि मनुष्य की आदिम अवस्था सबसे उच्च थी।"

इन सब बातों को विचारते हुये डार्विन या उनके अनुयायियो के विकासवाद को मानना तो कठिन है परन्तु चाहे विकासवादी हो चाहे अविकासवादी, किसी को ईश्वर की सत्ता से इनकार नही हो सकता।

---

*"Science is equally explicit in its testimony, that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the opposite direction."

†"Mr. Horatio Hale shows, in a remarkable article in the transaction of the Royal Society of Canada, that primitive man in his earliest state must have been endowed with as high intellectual powers as any of his descendants, while Sir J W Dawson writing on this subject, says the earliest remains of man show "that man's earliest state was his best."

बहुत से धर्म के ठेकेदार सायंस से इसलिये घृणा करते हैं कि सायंस की वृद्धि से उनके धर्म को हानि पहुँचेगी और 'बाबा वाक्यं कि प्रमाणम्' कहकर जो वह अपने अनुयायियों से अन्ध-विश्वास और श्रद्धा उत्पन्न कर देते थे वह न कर सकेंगे। परन्तु वस्तुतः यह धर्म नहीं है। स्वार्थ का दूसरा नाम धर्म होगया है। बहुत से धर्मों का आरम्भ ही स्वार्थ से हुआ है और स्वार्थ की सिद्धि उसी समय तक हो सकती है जब तक अनुयायियो की आंखें बन्द रहें और उनको स्वतन्त्रता से सोचने का अवसर न मिले। सच्ची आस्तिकता को सच्ची सायंस से कुछ भय नहीं। सच्ची सायंस तो आस्तिकवाद की सहायक है क्योंकि सृष्टि की अज्ञात वस्तुओ तथा घटनाओं को खोज कर निकालने से सृष्टिकर्त्ता ईश्वर के महत्व का ही ज्ञान होता है।

यदि सायंस का अभाव हो जाय तो हमको ईश्वर के विषय मे कुछ भी ज्ञान न हो। वस्तुतः सायंस का आरम्भ उस समय से होने लगता है जब हम अपने आंख कान खोल कर सृष्टि का निरीक्षण करने लगते हैं। उस निरीक्षण का विकसित रूप ही वह परीक्षणालय हैं जिनमे सायंसवेत्ता अनेक प्रकार के अन्वेषणों मे दत्तचित्त रहते हैं। जितना अधिक परिश्रम वह करते हैं उतना ही अधिक उनको ईश्वर की सृष्टि का ज्ञान होता है। और जितनी इस ज्ञान मे वृद्धि होती है उतना ही वह ईश्वर की महिमा को समझ सकते हैं। सर आलीवर लाज (Sir Oliver Lodge) ठीक कहते हैं :—

"The region of religion and the region of a completed science are one"

अर्थात "धर्म का क्षेत्र और पूर्ण साइंस का क्षेत्र एक ही है"।

———

छठा अध्याय

ईश्वर के गुण—(१)

जिस महती सृष्टि मे हम रहते हैं उससे यह प्रकट होता है कि इसकी बनाने वाली एक ऐसी अदृष्ट सत्ता है जिसमे बुद्धि और इच्छा-शक्ति दोनो विद्यमान है। 'बिना बुद्धि और इच्छा-शक्ति के उस प्रबन्ध की रचना हो ही नही सकती जिसको अलग कर देने से सृष्टि सृष्टि ही नहीं रहती। जिस प्रकार घड़ी के पुर्जों को अलग २ कर देने से घड़ी नही रहती चाहे पुर्ज़े भले ही रहें, इसी प्रकार प्रकृति के समस्त परमाणु भी सृष्टि नहीं बना सकते जब तक उनको विचार-पूर्वक प्रबन्ध से बांधा न जाय।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि इस बुद्धि तथा इच्छा-युक्त सत्ता का अस्तित्व मान भी लिया जाय तो भी इसमे आस्तिकों अथवा धर्म-ध्वजो का काम नही चलता। क्योंकि ईश्वर के अनुयायी ईश्वर मे केवल उन्हीं गुणो का आरोपण नहीं करते जिनकी सृष्टि-रचना से सूचना मिलती है। बहुत-से गुण ऐसे हैं जिनके लिये आस्तिकों के पास कोई प्रमाण नही। कुछ गुण तो ऐसे भी हैं जिनको ईश्वर मे मानकर उसको सृष्टि-कर्त्ता कह ही नहीं सकते। ऐसा मालूम होता है कि यदि ईश्वर कोई सत्ता है और वह सत्ता किसी चीज़ को रचना करता है तो वह रचना हमारी सृष्टि से भिन्न किसी अन्य स्थान पर होगी जिसका हमको कोई ज्ञान नहीं

है। उदाहरण के लिये एक ओर तो यह कहा जाता है कि सृष्टि की समस्त घटनायें नियम-पूर्वक होती हैं इसलिये इन नियमों का एक कोई विचारशील नियन्ता अवश्य है। दूसरी ओर चमत्कार दिखाकर यह भी सिद्ध किया जाता है कि ईश्वर सभी कुछ कर सकता है अतः वह नियमोल्लङ्घन भी कर सकता है। वस्तुतः चमत्कारो का आस्तिकता से कुछ ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि जो पुरुष अपने को पैग़म्बर अर्थात् ईश्वर के भेजे हुये सिद्ध करना चाहते है उनको चमत्कार दिखाने ही पड़ते हैं। बहुत से चमत्कार इस्लाम धर्म के सस्थापक मुहम्मद के विषय मे बताये जाते हैं। ईसाई धर्म के संस्थापक ईसा के विषय मे यही कहा जाता है। अन्य धर्मावलम्बी भी "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" का राग अलापा करते हैं। नास्तिकवादी कहते हैं कि तुम या तो सृष्टि को नियमित मान लो या अनियमित। यह तो नहीं हो सकता कि अपने सिद्धान्त को प्रमाणित करने के लिये पहले नियमित मानो फिर अनियमित। यदि नियमो के कारण तुम ईश्वर का अस्तित्व मानते हो तो नियमोल्लङ्घन के कारण ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन करना पड़ेगा। चमत्कार नियमोल्लङ्घन को प्रकट करते हैं अतः वह कभी नियन्ता के अस्तित्व को सिद्ध नही कर सकते। नियन्ता का अस्तित्व उसी समय सिद्ध होगा जब सृष्टि को पूर्ण-नियम-बद्ध सिद्ध कर दिया जाय और पूर्णनियम-बद्ध सृष्टि उसी समय सिद्ध हो सकेगी जब इसमे चमत्कारो को स्थान न दिया जाय, और यह मान लिया जाय कि ईश्वर अपने नियमो का कभी उल्लङ्घन नही करता और न कर सकता है। अन्यथा अन्योन्याश्रय दोष आ जायगा।

इसी प्रकार "भ्रमवादी" जो "ब्रह्म-सत्य और "जगन्मिथ्या" मानते है आस्तिकता की सिद्धि मे क्या प्रमाण दे सकते हैं? यदि

जगत् मिथ्या या भ्रममात्र है तो उसको प्रमाण कोटि में कैसे रक्खा जा सकता है और उससे किसी प्रमेय की कैसे सिद्धि हो सकती है ? यदि मैं कहूँ कि अमुक यन्त्र बहुत विलक्षण है अतः उसका बनाने वाला भी बहुत बड़ा बुद्धिमान प्रतीत होता है और इसके साथ साथ मैं यह भी कहूँ कि यह यन्त्र सचमुच यन्त्र नहीं है केवल हमारी इन्द्रियों को धोखा हो गया है तो उस यन्त्र के आधार पर बुद्धिमान निर्माता की सिद्धि भी नहीं हो सकती। यदि वस्तुतः जगत भ्रममात्र है तो तुमको उसका उदाहरण या दृष्टान्त लेने का कोई अधिकार नहीं। परन्तु शङ्कराचार्य आदि सभी 'भ्रमवादियों' ने अपने सिद्धान्तों को सिद्ध करने के लिये इसी मिथ्या जगत् से उदाहरण लिये हैं। जैसेः—

(१) अस्मिन्वाक्ये जन्मस्थिति प्रलयानां क्रमदर्शनात्।

(२) अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्यानेककर्तृ-भोक्तृ संयुक्तस्य प्रतिनियत देशकालनिमित्तक्रियाफलाश्रयस्य मनसाप्यचिन्त्यरचनारूपस्य जन्म स्थितिभङ्गं यतः सर्वज्ञात् सर्व शक्तेः कारणाद् भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः—

वेदान्त दर्शन १।१।२

(३) अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेय व्यवहारः १।१।१

(४) वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये ॥ २।१।१

(५) यतस्तत्रापि पयोम्बुनोश्चेतनाधिष्ठितयोरेव प्रवृत्ति-रित्यनुमिमीहे। २।२।३

(६) धेन्वैव ह्युपयुक्तं तृणादि क्षीरीभवति।२।२।५

यह इनकी अनधिकार चेष्टा है। वस्तुतः यदि जगत मिथ्या है तो जगत् का कारण वह मस्तिष्क है जिसको भ्रम हुआ है न कि ब्रह्म । इस लिये ब्रह्म को जगत्के जन्म, स्थिति तथा भंग का कारण कहना नही बन सकता।

वस्तुतः जगत् को मिथ्या मान कर हम एक पग भी आगे नही रख सकते। समस्त ज्ञान अथवा विज्ञान का आदि मूल साधन हमारी इद्रियॉ ही हैं। इन पर बिश्वास करना हमारे लिये स्वभाविक है। यदि इद्रियॉ हमको धोखा देने या भ्रम मे डालने के लिये होतीं तो हमने ऐसा क्या अपराध किया था जो हमारा नैत्यक सम्बध इन धोखेबाजो के साथ कर दिया गया। ऐसे चोर डाकू हमारे पीछे क्यो लगा दिये गये कि जो हमको नित्य प्रति धोखा देते रहते हैं और हमारे सामने प्रत्येक वस्तु को विपरीत दशा मे ही दर्शाया करते हैं। वस्तुतः यदि इद्रियां हमारे ज्ञान का साधन नहो हैं तो फिर और क्या वस्तु है ? यदि इद्रियो पर विश्वास नहीं करते तो यह भी कैसे सिद्ध होगा कि जगत् मिथ्या ही है। इसी लिये गौतम मुनि ने न्यायदर्शन मे इंद्रियो की साक्षी को झूठी न बता कर केवल उसकी परीक्षा के निमित्त कुछ नियम स्थापित कर दिये हैं। इन नियमो द्वारा हम जान सकते हैं कि कौन सी बात सच है और कौन सी झूठी। इसी का नाम उन्होने प्रमाण-चतुष्टय अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द रक्खा है। इसमे संदेह नहीं कि बहुत सी बातो को हमारी इन्द्रियां नही जान सकती या यो कहिये कि हम बहुत सी बातो को इन्द्रियो द्वारा नहीं जान सकते। परन्तु जिन सूक्ष्म बातो का ज्ञान प्राप्त करने के लिये हमको सूक्ष्म-बुद्धि की आवश्यकता होती है उस बुद्धि का विकास भी तो उसी ज्ञान द्वारा होता है जो इन्द्रिय जन्य है। जैसे कल्पना कीजिये कि बीजगणित मे हम $\sqrt{-3}$

अथवा ३ √—५ आदि करणियो या सर्डो (Surd) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। प्रत्येक गणितज्ञ जानता है कि √—३ या ३ √—५ का क्या अर्थ है। परन्तु यदि उससे कहा जाय कि तुमने किस इन्द्रिय द्वारा यह ज्ञान प्राप्त किया तो वह नही बता सकेगा। फिर भी उसने ३, ५, वर्गमूल, घनमूल, शेष, धन आदि का ज्ञान पांच इन्द्रियो द्वारा ही प्राप्त किया है और उसी ज्ञान के आधार पर सम्पूर्ण गणित का विशाल भवन खड़ा किया गया है। इसी प्रकार न तो इन्द्रियां हमको धोखा देने वाली हैं न सब कुछ स्वप्न या भ्रम ही है। न भ्रम को मान कर हम आस्तिकवाद को ही सिद्ध कर सकते हैं। श्री शङ्कराचार्य का यह कहना कि :—

अविद्यावद्विषयाण्येव प्रत्यक्षादीनि
प्रमाणानि शास्त्राणि च ।

अर्थात् प्रत्यक्ष आदि प्रमाण तथा शास्त्र अज्ञान मात्र हैं ठीक प्रतीत नहीं होता। जिन शास्त्रो (वेद उपनिषद आदि) को शङ्करस्वामी अविद्या मानते हैं उन्ही को प्रमाण मान कर वह अपने मत की भी पुष्टि करते हैं। फिर इसमे जो उन्होने युक्ति दी है वह भी ठीक प्रतीत नही होती। वह लिखते हैं :—

पश्वादिभिश्चाविशेषात् । यथा हि पश्वादयः शब्दादिभिः श्रोत्रादीनां संबन्धे सति, शब्दादि विज्ञाने प्रतिकूले जाते, ततो निवर्त्तन्ते अनुकूले च प्रवर्तन्ते, यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषाभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखी-भवन्ति, एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरी-

तान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषाणां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। पश्वादीनां च प्रसिद्धोऽविवेकपुरःसरः प्रत्यक्षादि व्यवहाराः तत्सामान्य दर्शनाद् व्युत्पत्तिमतामपि पुरुषाणां प्रत्यक्षादि व्यवहारस्तत्कालः समान इति निश्चीयते ।

(शारीरिक भाष्य-भूमिका)

यहाँ उनको सिद्ध करना था कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या मात्र हैं। इसके लिये उन्होंने युक्ति दी कि जिस प्रकार पशु आदि किसी को लकड़ी लाते हुए देख कर उससे डर कर भागते हैं और घास आदि देख कर उससे प्रेम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य भी तलवार आदि को देखकर डर कर भागता है। इसलिये मनुष्य और पशु इस अपेक्षा से तुल्य हुये। और चूंकि पशु अज्ञानी प्रसिद्ध ही हैं अतः मनुष्य भी अज्ञानी सिद्ध हुआ।

यह ऐसी विलक्षण और असंगत युक्ति है कि यदि शङ्कराचार्य्य जैसे धुरन्धर दर्शनज्ञ के ग्रन्थ मे न होती तो कोई इसकी हंसी उडाये विना न रहता। पशु आदि को अज्ञानी (अविवेक पुरःसरः) कहने का यह कारण नही है कि वह लकड़ी वाले से भागते हैं। और घास वाले सेप्रेम करते हैं। मै समझता हूँ कि यदि वह लकड़ी वाले से प्रेम करते और घास वाले से डरते तो वह अधिक अज्ञानी कहलाते। इसी प्रकार मनुष्य भी इस लिये अज्ञानी नही कहलाया जा सकता कि वह प्रत्यक्षादि प्रमाणो पर विश्वास करके तलवार से डरता और मिठाई से प्रेम करता है। पशु को अज्ञानी कहने का कारण यह है कि वह अन्य अनुमान आदि प्रमाणो से यथोचित लाभ नही उठा सकता, न शास्त्र ज्ञान प्राप्त कर सकता है। मनुष्य और पशु मे

कुछ समानता अवश्य है। इस अश मे थोड़ा बहुत ज्ञान पशु और मनुष्य दोनो का है। परन्तु असमानता भी कई बातो मे है। ऊपर की इस युक्ति से न तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अविद्या सिद्ध होते है न इस बालू की भीत पर 'जगत् मिथ्यावाद' की छत रक्खी जा सकती है।

वस्तुत: इस प्रकार की युक्तियाँ मनुष्य को आस्तिकवाद से हटा कर नास्तिकवाद की ओर अधिक ले जाती हैं और कभी कभी मनुष्य का मस्तिष्क ऐसी उलझन मे पड़ जाता है कि वह न तो यह निश्चय कर सकता है कि ईश्वर है न यह कि नही है और अन्त मे गीता का यह वाक्य सार्थक हो जाता है कि—

संशयात्मा विनश्यति।

यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अयथार्थ आस्तिको ने संसार मे जितनी नास्तिकता फैलाई उसकी शतांश भी वैज्ञानिक नास्तिको की ओर से नही फैली। यह आस्तिक, नाम के तो आस्तिक रहे परन्तु ईश्वर के नाम पर अनेक प्रकार के अत्याचार भी करते रहे। ईश्वर के नाम पर नाच रङ्ग किये गये। ईश्वर के नाम पर बालहत्या, मनुष्यहत्या, गो हत्या और अनेक प्रकार की अन्य हत्यायें की गई। ईश्वर के नाम पर लोगो को जीवित जला दिया गया। उन्होने अपना मन माना और हाथ से गढ़ा हुआ ईश्वर अपने सम्मुख रक्खा और उस शक्ति को जो अपने नियमो द्वारा ससार पर शासन कर रही है सर्वथा भुला दिया। सायसवेत्ता नास्तिक लोगो ने यद्यपि अध्यात्मविभाग मे कुछ उन्नति नही की और ईश्वर के नाम का तिरस्कार किया परंतु उसके भौतिक नियमो को अवश्य आदर की दृष्टि से देखते रहे। परिणाम यह हुआ कि आस्तिक न दीन के रहे न दुनिया के, परन्तु नास्तिक थोड़े बहुत दुनिया मे सफल होते रहे।

हानि नास्तिकों को भी बहुत हुई। क्योंकि वह एक ऐसी महती सत्ता के सन्निकर्ष से वञ्चित रहे जो उनको वास्तविक शान्ति दे सकती थी। परतु यह शान्ति उन आस्तिकों को भी प्राप्त नहीं हो सकती जो नाम के तो आस्तिक हैं परंतु ईश्वर के विषय मे प्रत्यक्षादि प्रमाणो को छोड़कर मनमानी कल्पनायें कर लेते हैं।

हमने अब तक केवल एक बात सिद्ध की। वह यह कि सृष्टि हमको एक ऐसी सत्ता का पता देती है जो बुद्धि तथा इच्छा-शक्ति वाली है।

अब हम यह दिखाने का यत्न करेंगे कि इसी सृष्टि से हमको यह भी प्रतीत होता है कि यह सत्ता एक है अनेक नहीं अर्थात् यदि हम इस सत्ता का नाम ईश्वर रक्खे तो ईश्वर एक है अनेक नहो। इसमे सन्देह नहीं कि इस महती सत्ता के अतिरिक्त हमको अनेक छोटी छोटी सत्तायें भी दिखाई पड़ती है। जैसे मनुष्य तथा अन्य प्राणी यह अपने २ विभागो मे अलग अलग काम करते है। जैसे मै एक सत्ता हूॅ जो अपने शरीर को चलाता हूॅ। मेरा हाथ लिखता है। मेरा मुँह बोलता है मेरी आख देखती है। मै बहुत सी वस्तुओ को तोड़ मरोड़ कर मन मानी बना लेता हूॅ। इसी प्रकार मुझ जैसे करोड़ो मनुष्य है जो मुझसे कुछ कम या कुछ अधिक कार्य्य कर रहे है। फिर इनके अतिरिक्त अरबो पशु पक्षी तथा कीट पतङ्ग है, जो मेरे बराबर ही काम नहीं करते परन्तु अपनी अपनी सत्तायें अलग अलग भली भांति दिखाते है। इस प्रकार असंख्यो छोटी छोटी सत्तायें हमको मिलती हैं। परन्तु इन सत्ताओ और उस सत्ता मे भेद है जिसको हम समस्त सृष्टि मे शासन करता हुआ पाते है। यह छोटी छोटी सत्तायें विशेष नियमो के भीतर ही अपना प्रभाव जमा सकती है। वस्तुतः इन सत्ताओ को उन नियमो का पालन करना पड़ता है। वह नियमो की शासक नहीं किन्तु अनुचर है।

जैसे यदि मनुष्य चाहे कि मैं घर बनाऊं तो उसे उन नियमो को जानने की आवश्यकता है जो घर बनाने मे साधक होगे। यदि थोड़ी सी भी चूक हुई तो घर न बन सकेगा। इन छोटी सत्ताओं या चेतन वस्तुओं और जड़ वस्तुओ में केवल इतना भेद है कि जड़ वस्तुए बिना ज्ञान के सृष्टि के नियमो का पालन करती हैं। वह सृष्टि के वर्त्तमान नियमो मे से यह चुन नहीं सकती कि मै इसका पालन करूं और उसका न करूं। परन्तु चेतन सत्ताएं, कई नियमो मे से अपने लिये कुछ नियम चुन लेती हैं और उन्हीं के अनुसार काम करती हैं। जैसे मै यह जानता हूँ कि खेती के नियम पालने से मैं खेत मे गेहूँ पैदा कर सकूंगा और यान बनाने के नियम पालने से यान बना सकूंगा। इस लिये मै इन दोनो मे से अपने मन माने नियम चुन लेता हूँ। चाहे खेती करूं चाहे यान बनाऊं। परन्तु जड़ लकड़ी अपने लिये नियमो का निर्वाचन नहीं कर सकती उसका चुनाव नियम स्वयं करते हैं।

परन्तु जो सत्ता इन नियमो का सञ्चालन करती है वह एक बड़ी सत्ता है जिसका प्रभाव सृष्टि मे व्यापक है। अब देखना चाहिये कि यह सत्ता एक है या कई हैं? जब हम सृष्टि के नियमो का विचार कर रहे थे उस समय यह दिखलाया गया था कि संसार की वैयक्तिक घटनायें वस्तुतः एक दूसरे से अलग नहीं हैं किन्तु किसी नियम द्वारा सम्बद्ध है। उदाहरण के लिये यदि 'क' नामक गेहूँ एक खेत मे बोया जाता है और उसको 'ख' नामक परिस्थिति मे रक्खा जाता है तो उसमे गेहूँ उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार एक दूर देश में 'ग' नामक गेहूँ भी उसी 'ख' नामक परिस्थिति मे बोया जाता है तो उसमे भी गेहूँ उत्पन्न होते हैं। इससे पता चलता है कि 'क' और 'ग' गेहूँ के दोनो दाने किसी विशेष नियम 'घ, मे बँधे हैं। याद रखना चाहिये कि यह 'घ' नियम न तो 'क' दाने

के आश्रित हैं न 'ग' के। यदि यह 'क' के आश्रित होता, और 'ग' के भी आश्रित होता तो दो नियम होते क्योंकि 'क' और 'ग' में से कोई एक भी दूसरे के आश्रित नहीं, किन्तु देश और काल द्वारा एक दूसरे से पृथक् है। यदि कहो कि दो नियम अलग अलग मानने मे क्या हानि है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि व्यक्ति और नियम में क्या भेद रहेगा। 'क' एक व्यक्ति है वह स्वयं नियम का तदात्मक नहीं हो सकता, न 'ग' हो सकता है। नियम तभी कहलायेगा जब उसके अन्तर्गत कई घटनायें हों। इस लिये गेहूँ से दूसरा वृक्ष उत्पन्न होने का नियम न तो 'क' के आश्रित है न 'ग' के किन्तु 'क' और 'ग' उलटे उस नियम के आश्रित हैं। अब देखना चाहिये कि इस नियम की स्थिति कहां है? नियम अपने व्यक्तियों से भिन्न तो कहीं रह नहीं सकता और व्यक्तियां देश और काल की अपेक्षा से एक दूसरे से इतनी पृथक हैं कि यह नियम उनमें माला के दानों में सूत्र के समान ओत प्रोत भी नहीं हो सकता। अतः नियम की स्थिति केवल उस बुद्धि के भीतर हो सकती है जो व्यक्तियों को उस नियम के आश्रय रहने के लिये बाधित करती है। यह बात एक और उदाहरण से स्पष्ट हो जायगी। कल्पना कीजिये कि 'अ' नामक मनुष्य लन्दन में एक विशेष अपराध करता है और उसे 'स' नामक दण्ड मिलता है। कलकत्ते मे भी एक दूसरा 'ब' नामक मनुष्य जिसका 'अ' से कोई सम्बन्ध नहीं है वही अपराध करता है और उसे भी 'स' नामक दण्ड दिया जाता है। तो यह एक नियम हो गया। इस नियम की स्थिति न तो 'अ' मनुष्य मे है न 'ब' मे। यह नियम उस सत्ता या मस्तिष्क या मस्तिष्कों के एक समूह में है जिसको 'राज्य' कहते हैं और जिसके आधीन 'कलकत्ता' और 'लन्दन' दोनों हैं।

अब जिस प्रकार कई व्यक्तियाँ एक नियम के आश्रय हैं इसी प्रकार नियम स्वयं एक प्रकार की व्यक्तियाँ बन कर बड़े नियमों के

के आधीन हैं और यह नियम अन्य बड़े नियमों के। इस प्रकार समस्त सृष्टि अन्त को एक नियम के आधीन है जिसको वेद में 'ऋत' के नाम से पुकारा गया है। यह 'ऋतु' एक है। कई नही। इस 'ऋत' के आधीन समस्त सृष्टि है। छोटे छोटे नियम एक एक शास्त्र या साइन्स अलग अलग बनाते हैं। जैसे वनस्पति शास्त्र के नियम, ज्योतिष शास्त्र के नियम, रसायन शास्त्र के नियम इत्यादि इत्यादि। परन्तु जिस प्रकार गणित शास्त्र के अन्तर्गत कई छोटे छोटे शास्त्र हैं जिनको अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, त्रिकोणमिति आदि नामों से पुकारते हैं उसी प्रकार यह बड़े बड़े शास्त्र भी उस 'ऋत्' के आधीन हैं और यह 'ऋत' उस अपार बुद्धि मे निवास करता है जिसको आस्तिक लोग 'ईश्वर' कहते हैं। वेद के एक मन्त्र में लिखा है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

(ऋग्वेद १०।१९०।१)

'ऋत्' और 'सत्य' 'अभीद्ध' तथा 'तपस' से उत्पन्न हुये। हम ऊपर बता चुके कि 'ऋत' का क्या अर्थ है। 'ऋत्' वह विशाल नियम है जो समस्त सृष्टि पर शासन कर रहा है। 'सत्य' वह शक्ति है जो उस नियम के आधीन रहने के लिये संसार की प्रत्येक वस्तु तथा घटना को बाधित करती है। जिस प्रकार सांसारिक दरबारों मे न्यायाधीश निश्चय करता है कि अमुक मनुष्य को यह दण्ड दिया जाय और पुलिस उसको दण्ड देती है इसी प्रकार 'ऋत' को रखने वाली 'बुद्धि' का नाम 'अभीद्ध' है और 'सत्य' को रखने वाली 'शक्ति' का नाम 'तपस' है। यह बुद्धि तथा शक्ति सांसारिक न्यायाधीश तथा पुलिस के समान अलग अलग नही हैं किन्तु उस एक सत्ता के दो गुण हैं जिसको हम ईश्वर कहते है। इस प्रकार

'ईश्वर' एक ठहरता है। अनेक नहीं। ईश्वर की 'एकता' पर हम यथास्थान और यथाप्रसङ्ग आगे अधिक प्रकाश डालेंगे।

इस समय एक और प्रश्न है ? क्या ईश्वर सर्वव्यापक है ? जे० एस० मिल (J S Mill) महोदय ने अपने 'धर्म सम्बन्धी तीन लेखों' (Three Essays on Religion) मे इस प्रश्न की मीमांसा की है। प्रश्न वस्तुतः गूढ़ और विचारणीय है। घड़ी का बनाने वाला घड़ी मे व्यापक नहीं होता। जिस पुस्तक को मैं लिख रहा हूँ उसमे मैं व्यापक नहीं हूं। पुस्तक पाठकों के हाथ मे होगी और मैं कई कोसो दूर बैठा हूँगा। इञ्जन का बनाने वाला इञ्जन में कहां व्यापक होता है ? न कुम्हार ही घड़े मे रहता है। परन्तु क्या घड़ा, घड़ी, पुस्तक तथा इञ्जन अपना अपना काम नहीं करते ? यदि अल्प कुम्हार का बनाया घड़ा उसकी व्यापकता के बिना कई साल काम दे सकता है तो वह ईश्वर जिसकी शक्ति तथा ज्ञान अपार बताया जाता है सृष्टि के भीतर व्यापक रहने के लिये क्यो बाधित किया जाय। बहुत से वेदान्ती लोग इसीलिये ईश्वर को निमित्त कारण न मानकर उपादान कारण मानते हैं। श्री शंकराचार्य जी ने

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ वेदान्त २।१।१४

का भाष्य करते हुये छान्दोग्य उपनिषद् का यह वाक्य उद्धृत किया है :—

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

अर्थात् जिस प्रकार घड़े आदि मे मिट्टी व्यापक रहती है इसी प्रकार ईश्वर भी समस्त सृष्टि का कारण है। इस बात पर हम अलग विचार करेंगे। यहां केवल इतना दिखाना है कि न केवल 'मिल' आदि पाश्चात्य दार्शनिक ही कहते है कि यदि ईश्वर है तो

उसके व्यापक होने की आवश्यकता नहीं, किन्तु बहुत से धर्मों के मानने वाले भी इसी उलझन में हैं। वेदान्तियों ने ईश्वर की सर्व-व्यापकता का निषेध नहीं किया किन्तु उसके निमित्त कारण होने से इनकार कर दिया। यह भी एक प्रकार से सच्ची आस्तिकता की जड़ में कुल्हाड़ा ही मारना है। परन्तु जो मत मतान्तर ईश्वर को सातवें या चौथे आसमान या 'क्षीर सागर' आदि में मानते हैं उनकी विचित्र गति है। यह एक ओर तो यह भी कहते हैं कि ईश्वर हाज़िर नाज़िर अर्थात् सर्व व्यापक है और दूसरी ओर स्थान विशेष में भी मानते हैं। यदि उनसे पूछा जाता है कि तुम परस्पर विरुद्ध बातें कैसे मान सकते हो, चाहे सर्व व्यापक मानो चाहे एक देशी, तो वह इसकी व्याख्या बड़ी विलक्षण रीति से करते हैं और अपने सिद्धान्तों की संगति मिलाने के लिये बहुत सी ऐसी युक्तियों से काम लेते हैं जिनमें वाक् छल अधिक होता है। कुछ का तो यह मत है कि जिस प्रकार सूर्य्य एक विशेष स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त भूमण्डल पर जाता है उसी भांति ईश्वर विशेष स्थान पर है परन्तु उसका प्रकाश समस्त सृष्टि में उपस्थित है। इस प्रकार ईश्वर स्वत. तो व्यापक नहीं है किन्तु प्रकाश रूप से व्यापक है। वह चौथे या सातवें आसमान पर तो है परन्तु देख सभी चीज़ों को सकता है। कुछ कहते हैं कि जिस प्रकार पञ्चम जार्ज लन्दन में बैठे हुये समस्त भारतवर्ष पर शासन करते हैं इस प्रकार ईश्वर एक स्थान पर रहता हुआ भी अपनी शक्ति द्वारा समस्त सृष्टि में व्यापक है।

सबसे पहले हम इस बात की मीमांसा करते हैं कि निमित्त कारण कार्य्य में व्यापक होता है या नहीं। इतनी बात तो शायद सभी को माननीय है कि जहां कर्त्ता नहीं वहां वह कोई क्रिया भी नहीं कर सकता। मेरा उसी वस्तु पर वश और अधिकार

है जो मेरे हाथ मे है। जहां मेरी पहुँच नहीं, वहाँ मेरे द्वारा कोई क्रिया भी नही हो सकती। कभी कभी ऐसा होता है कि एक क्रिया मे कई छोटी छोटी क्रियायें सम्मिलित होती हैं। उनमें से एक क्रिया एक पुरुष करता है और शेष अन्य पुरुष। परन्तु कथन मात्र के लिये नाम एक का ही होता है। यह केवल कहने की शैली है। वास्तविक बात नही। जैसे कहते हैं कि ताजमहल का निर्माता शाहजहाँ था। ताजमहल का निर्माण एक क्रिया नही है किन्तु सहस्रों या लाखो छोटी छोटी क्रियाओ का एक समूह है। इच्छा शाहजहाँ ने की। रुपया देने के लिये आज्ञा शाहजहाँ ने दी। नकशा शायद एक या अनेक विश्वकर्माओं ने बनाया होगा। ईटें या पत्थर अन्य कर्त्ताओं ने सम्पादन किये होंगे। इस प्रकार यद्यपि शाहजहाँ का नाम है तथापि लाखों मनुष्यो ने क्रियायें की और तब ताजमहल बना। इन क्रियाओ मे से जो क्रिया शाहजहाँ ने की उस क्रिया के समय और देश मे शाहजहाँ उपस्थित था। जो अन्योने की उसके साथ वे अन्य उपस्थित थे। यदि उनमे से एक की भी उपस्थिति न होती तो वह क्रिया न होती और ताजमहल के निर्माण मे बाधा हो जाती। यही नही। कुछ क्रियाएं ऐसी हैं जिनका हमने विचार भी नही किया। जैसे शाहजहाँ ने ताजमहल बनाते समय केवल उन्ही क्रियाओ के लिये कर्त्ता ढूंढने का यत्न किया जो बिना मनुष्यो के नहीं हो सकती थीं। सैकड़ों ऐसी क्रियायें भी थी कि जो बिना मनुष्य की सहायता के हो रही थीं। उनका भी ताजमहल के निर्माण मे उतना ही सहयोग था जितना अन्य क्रियाओ का। यदि वह क्रियाये न होती तो उतने ही मनुष्य लगाकर भी ताज न बन सकता। जैसे समय पर सूर्य्य का न निकलना, वर्षा का होना, पृथ्वी का समस्त वस्तुओ को अपनी ओर आकर्षित करना आदि। इस प्रकार ताजमहल के निर्माण मे न केवल शाहजहाँ या उसके हजार दो हज़ार या दस हज़ार मनुष्यों का ही

हाथ है परन्तु उन शक्तियो का भी जिनके सहारे पर इन मनुष्यां की क्रियायें ठहर सकती है। जितने अंश के कर्त्ता यह मनुष्य हैं उतने अंश में यह अपनी क्रियाओ मे व्यापक थे। जितने अंश के कर्त्ता यह न थे किन्तु अन्य अदृष्ट शक्तियाँ थी उतने अश मे इन मनुष्यो के व्यापक होने की आवश्यकता भी न थी।

अब घड़ी को लीजिये। घड़ी निर्माण ताजमहल के समान एक क्रिया नही है किन्तु असख्यो क्रियाओ का समूह है। जिसको घड़ी-साज कहते हैं वह वस्तुत: अन्त की क्रिया का कर्त्ता है अर्थात् पुर्ज़ों का एक विशेष रीति से जोड़ देना। यह वह उसी स्थान पर कर सकता है जहाँ वह उपस्थित हो। इस अन्तिम क्रिया से पहले सैकडों अन्य क्रियाये होगई जिनके न होने की दशा मे घड़ीसाज़ कुछ नही कर सकता था। इनमे से कुछ क्रियाओ के कर्त्ता तो मनुष्य थे और कुछ अमानुषी क्रियायें थीं। जैसे खान से लोहा खोदना, उसको लाना, उसको गलाना, साफ़ करना, उसके भिन्न २ प्रकार के पुर्ज़े बनाना, एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये साधनों का सम्पादन करना इन सब में करोड़ो मनुष्यों का हाथ लगा। और यह सब अपनी अपनी क्रिया करते समय उस क्रिया मे व्यापक थे। परतु इसके अतिरिक्त सहस्रो अमानुषी क्रियायें भी थीं। जैसे एक लोहार ने एक पेंच बनाया। बनाने का केवल यही अर्थ है कि लोहे को एक रूप से दूसरे रूप मे कर दिया। परन्तु लोहे के परमाणु क्यो आपस मे एक विशेष समय पर्यन्त सयुक्त रहे? इसमे उस लोहार का हाथ न था। लोहार ने उस पुर्ज़े के बनाने के लिये लोहे को क्यो चुना? लकड़ी को क्यो नही चुना? इसलिये कि वह जानता था कि लोहे के परमाणु अमुक समय तक परस्पर सयुक्त रह सकेंगे और लकड़ी के नही। इसमे उसका कुछ वश नहीं। वह परमाणुओं के सयोग के लिये उत्तरदाता

नही वह परमाणुओं को न मिलाता है न उसके मेल को स्थित रखता है, वह केवल उस परिस्थिति से लाभ उठा लेता है। इस प्रकार यह कहना कि घड़ीसाज़ घड़ी में व्यापक न होते हुये भी उसे चला रहा है ठीक नही है। जितनी क्रिया का उत्तर-दायित्व घड़ीसाज़ के सिर पर है उतनी क्रिया मे वह अवश्य व्यापक था। घड़ी के उस रूप मे चलने मे जो नियम काम कर रहा है उसको घड़ीसाज़ ने नही बनाया। वह नियम स्वयं स्थित था और उसका संचालन भी एक अदृष्ट शक्ति के आधीन था। यदि घड़ीसाज़ को निर्माण के पश्चात् भी चलने का उत्तरदाता माना जाय तो घड़ी के टूट जाने की अवस्था मे किसको उत्तरदाता माना जायगा। घड़ीसाज़ केवल उसी सीमा तक उत्तरदाता है जहाँ तक ऐसी वस्तुओं या पुर्जों के चुनाव का सम्बध है जो अधिक या न्यून समय तक चलने वाले हैं। जैसे कल्पना कीजिये कि दो वस्तुएं हैं एक 'अ' और दूसरी 'ब'। 'अ' 'ब' से निर्बल है। घड़ीसाज़ अपने पुर्जे के लिये 'ब' को चुने या 'अ' को। यह उसका उत्तरदायित्व है। परंतु 'ब' क्यो 'अ' की अपेक्षा कम चलती है इसका घड़ीसाज से कोई सम्बध नही है। यदि वह शक्ति जो 'अ' के परमाणुओं को एक विशेष समय तक जोड़े रखती है अपना काम छोड़ दे तो घड़ीसाज़ का उस पर कुछ भी स्वत्व या वश नही होगा।

इस प्रकार जब हम कहते हैं कि निमित्त कारण के कार्य्य मे व्यापक होने की आवश्यकता नही तो हम कार्य्य के केवल एक अंग पर ही दृष्टि डालते हैं। सम्पूर्ण कार्य्य हमारी दृष्टि मे नहीं होता। इस बात को एक और दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। कल्पना कीजिये कि आप मेरी हथेली पर रेत के कणो से 'अ' अक्षर बना दें और कहें कि तुम इसको अमुक पुरुष को दिखा आओ। तो आप केवल 'अ' बनाने के कर्त्ता होंगे। हथेली पर उस अक्षर को

उसी रूप में स्थित रखना मेरा काम होगा। आप का नही। आप उसके निमित्त कारण न होगे। मै ही उसका निमित्त हूँगा। मुझे अधिकार होगा कि मै उसे बीच मे ही बिगाड़ दूं। हाँ आप मुझ पर विश्वास कर सकते हैं कि हमने ऐसे आदमी को चुना है जो उसे बिगाड़ने का नही। इसी प्रकार घडी के पुर्जों को एकत्रित या संगठित करने के लिये तो घड़ीसाज निमित्त है परतु उन पुरजो के घड़ीसाज़ की आज्ञा के अनुकूल चलने के लिये घड़ीसाज़ निमित्त नही है। उसका निमित्त अदृष्ट शक्ति है। इसलिये जब हम संसार मे मनुष्य की बनाई हुई वस्तुओ पर दृष्टि डालते हैं तो उन वस्तुओं मे केवल मनुष्य ही निमित्त कारण नही होता किन्तु अदृष्ट शक्ति भी निमित्त कारण होती है। मनुष्य केवल एक अङ्ग का निमित्त होता है। इसलिये यह सिद्ध है कि निमित्त कारण क्रिया के साथ रहता है अलग नही। वस्तुत: क्रिया उसी समय तक होती है जब तक कि निमित्त कारण उपस्थित है।

जब यह सिद्ध हो गया तो सृष्टि के ऊपर विचार करने से ईश्वर की सर्वव्यापकता स्वत. ही सिद्ध हो जाती है। क्योंकि सृष्टि केवल पहाड़ बनाने या नदी बहाने या सूर्य्य को उदय या अस्त करने का ही नाम नही है। दो परमाणुओ के परस्पर मिलने, मिले रहने या विशेष रीति से पृथक होने का कार्य्य भी सृष्टि के ही अन्तर्गत है। यह असंख्यो क्रियायें प्रत्येक क्षण मे प्रत्येक स्थान पर हुआ करती हैं। इनमे से बहुत सी तो अत्यन्त सूक्ष्म और बहुत सी अत्यन्त स्थूल हैं। सूर्य्य का निकलना स्थूल क्रिया है। परन्तु सूर्य्य की किरण मे सात रगो का मिलना और मिला रहना या भिन्न २ परिस्थितियो मे उनका अलग अलग होना यह अति सूक्ष्म क्रियायें हैं। इसलिये इन क्रियाओं के आरम्भ, स्थिति, तथा अन्त के लिये ऐसी सत्ता की आवश्यकता है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल

हो। इसलिये वस्तुतः घड़ी या इञ्जन का दृष्टान्त भी यही सिद्ध करता है कि ईश्वर सूक्ष्म से सूक्ष्म और सर्वव्यापक है। यदि घड़ीसाज के समान ईश्वर सृष्टि रूपी घड़ी से अलग होता तो उसको अन्य ऐसी सत्ताओं का आश्रय लेना पड़ता जो सृष्टि को हर समय चलाया करतीं, जैसे सम्राट जार्ज को अपने नौकरों की सहायता लेनी पड़ती है। सम्राट का अपने नौकरों के मस्तिष्क पर कुछ भी वश नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर का भी उन सत्ताओं पर वश न होता और वह उसकी सृष्टि को उलट पुलट कर डालते जैसा बहुधा सम्राट के चाकर कर देते हैं और जिसके लिये सम्राट को दण्ड देना पड़ता है। सम्राट के साम्राज्य मे सैकड़ों बातें ऐसी हो सकती हैं जो सम्राट की इच्छा के विरुद्ध होती हैं क्योंकि सम्राट प्रजा के घट के भीतर व्यापक नहीं होता।

सृष्टि के अवलोकन से इतनी बातों का पता चलता है—

(१) सृष्टि नियमानुकूल है।

(२) नियमो से अपार बुद्धि का परिचय होता है।

(३) नियम अटल हैं।

(४) यह नियम सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु पर भी शासन करते हैं। और कोई वस्तु इनका उल्लङ्घन नहीं कर सकती।

इस लिये सिद्ध है कि ईश्वर

(१) नियन्ता है।

(२) ज्ञानवान अर्थात् सर्वज्ञ है।

(३) एक रस है।

(४) सूक्ष्म से सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है।

पहली तीन बातो को तो सभी आस्तिक मानते हैं परन्तु चौथी बात मे बहुत मतभेद है। यह मतभेद दूसरे रूप मे उपस्थित किया जाता है। यो तो कोई आस्तिक इस बात का निषेध नहीं करता

कि ईश्वर सूक्ष्म और सर्वशक्तिमान् है। परन्तु इसके साथ साथ ही बहुत से लोग मानते हैं कि ईश्वर साकार है या साकार हो सकता है। निराकार वादियों और साकार वादियों का पुराना झगड़ा है और इस झगड़े के ऊपर ही अन्य बहुत से मतभेदों की नींव रक्खी गई है। मैं समझता हूँ कि यदि यह झगड़ा सुलझ जाय तो संसार के बहुत से आस्तिक परस्पर मिल जायं और बहुत से नास्तिक नास्तिकता छोड़ कर आस्तिक बन जायं। परन्तु भिन्न भिन्न मस्तिष्क भिन्न भिन्न रीति से सोचते हैं।

देखना चाहिये कि साकार का क्या अर्थ है? आकार या आकृति का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है। साकार वस्तु को आँख से देख सकते और हाथ से छू सकते हैं। जो ऐसी वस्तु नहीं है उसे निराकार कहते हैं। सृष्टि में दोनों प्रकार की वस्तुयें उपस्थित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१४।५।३।१) में लिखा है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्तं च

अर्थात् सृष्टि के दो रूप हैं एक साकार और एक निराकार। पानी जब भाप होकर उड़ जाता है तो निराकार हो जाता है क्योंकि दृष्टि में नहीं आता। परन्तु जब भाप जमकर बादल बन जाती है तो साकार हो जाती है। वायु निराकार है क्योंकि उसे देख नहीं सकते। आकाश निराकार है। अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर निराकार है या साकार। साकार वस्तु अवश्य स्थूल होगी। सृष्टि में जितनी स्थूल वस्तुयें हैं वह सूक्ष्म वस्तुओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये या तो ईश्वर को सर्वव्यापक न माना जाय या उसे साकार न माना जाय। साकार और सर्व व्यापक दोनों होना असम्भव है। यदि सर्वव्यापक नहीं मानते तो कर्त्ता भी नहीं मान सकते। यदि कर्त्ता नहीं मानते तो ईश्वर ईश्वर ही नहीं रहता और आस्तिकता की भित्ति धम से गिरकर चकना चूर हो जाती है। इसलिये

आस्तिकों का ईश्वर को साकार मानना स्वयं अपने मत का खण्डन करना और नास्तिको के सामने अपनी हंसी कराना है। यदि ईश्वर साकार होता तो अवश्य दीखता। दूसरे वह सूक्ष्म वस्तुओ से व्यापक न होता। तीसरी बात यह है कि नियम स्वयं सूक्ष्म है। सूक्ष्मो पर स्वत्व प्राप्त करने के लिये अवश्य अति सूक्ष्म अर्थात् निराकार सत्ता होनी चाहिये।

कुछ लोग समझते हैं कि निराकार वस्तुयें शक्ति वाली नहीं हो सकती, इस लिये सर्व-शक्तिमान होने के लिये ईश्वर को साकार भी होना चाहिये। ऐसे विचार यद्यपि दार्शनिकों के नही है परन्तु फिर भी व्यावहारिक रीति से बुद्धिमान पुरुष भी कभी कभी इनको मानने लगते हैं। लोग पूछा करते हैं कि क्यो जी यदि ईश्वर के हाथ नहीं तो कैसे बनाता होगा, आँख नही तो कैसे देखता होगा इत्यादि। परन्तु उनको मालूम नही कि साकार वस्तु निराकार की अपेक्षा बहुत निर्बल होती है। निराकार वस्तु का साकार पर शासन होता है साकार का निराकार पर कभी शासन नही होता। मेरी शक्ति निराकार है वह साकार हाथ को जिधर चाहती है चलाए फिरती है। कभी मै हाथ से लिखता हूं। कभी खाना खाने के लिये मुंह तक ले जाता हूँ। कभी सिर खुजलाता हूँ। परन्तु यह शक्ति हाथ मे व्यापक होते हुये भी हाथ से अलग है। जब यह शक्ति निकल जाती है तो हाथ अपने साकारत्व तथा स्थूलत्व के होते हुये भी कुछ कार्य्य नही कर सकता। शेर या हाथी मनुष्य से बहुत स्थूल होता है परन्तु उसमे वह सूक्ष्म बुद्धि नही होती जिसके कारण आदमी सैकड़ो शेरो और हाथियो को क़ैद करके अपने वश मे रखता है। यह बुद्धि न तो स्थूल मांस का नाम है, न रुधिर का, न नस नाड़ियों का। यह एक सूक्ष्म वस्तु है जो इन सब मे व्यापक है। विद्युत्तार के तार स्थूल हैं परन्तु विद्युत्शक्ति

परम सूक्ष्म है जो उन तारों को हिलाये फिरती है। लोहे मे चुम्बक शक्ति का प्रवेश कर देने से लोहा शक्ति सम्पन्न हो जाता है चुम्बक शक्ति सूक्ष्म होती है परन्तु लोहा स्थूल होता है। अतः स्थूल वस्तुओं को शक्ति सम्पन्न समझना और सूक्ष्मो को शक्ति रहित, बड़ी भारी भूल है। यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक है तो उसको अवश्य ही निराकार होना चाहिये।

कुछ लोग समझते है कि जैसे भाप निराकार है परन्तु बादल के रूप में साकार भी हो सकती है, इसी प्रकार यदि ईश्वर को आरम्भ मे निराकार और फिर साकार भी मान लिया जाय तो हानि क्या होगी ? जब ईश्वर अन्य वस्तुओ को निराकार से साकार बना सकता है तो स्वयं अपने को साकार क्यो नही बना सकता।

ऐसा कहने वाले लोग यथार्थ सोचना नही चाहते। जब भाप बादल बनती है तो क्या होता है ? भाप वस्तुतः एक वस्तु नही है किन्तु छोटे २ परमाणुओं का एक समूह है। यह परमाणु जब बिखरे रहते हैं तो दिखाई नही पड़ते इसीलिये हम कहते हैं कि भाप सूक्ष्म है। परन्तु जब यह परमाणु परस्पर मिलकर संगठित हो जाते हैं तो उनमे स्थूलता आ जाती है और बादल दिखाई पड़ने लगते हैं इन परमाणुओ के भिन्न २ परिमाण मे संयुक्त होने के कारण ही पानी की भाप, धुआं, बादल, ओला, बर्फ आदि भिन्न २ आकृतियाँ हो जाती हैं। लोहे के स्थूल गोले को भी हम इतने छोटे छोटे टुकड़ों में बखेर सकते हैं जो आँख से दिखाई न पड़ें। और फिर उनको मिलाकर स्थूल बना सकते हैं।

इसलिये एक बात और मालूम हुई। अर्थात् संसार में जितनी स्थूल या साकार वस्तुयें हैं वह सब अनेक परमाणुओं के परस्पर मिलने से बनी हैं। ईश्वर यदि एक है और एक रस है तो निराकार से साकार कभी नहीं हो सकता। भाप का परमाणु भाप को स्थूल नही बना सकता उसके लिये अनेक परमाणु चाहिये इसी प्रकार

एक ईश्वर साकार नही हो सकता, जब तक कई ईश्वर मिल न जावें। दूसरी बात यह है कि स्थूल वस्तु व्यापक नही रहती। जिस प्रकार भाप से इञ्जन चला सकते हैं उसी प्रकार बर्फ या ओले से नही चला सकते। इसलिये ईश्वर न साकार है न हो सकता है।

स्थूल वस्तुयें एक देशी भी होती हैं उनके दोनो ओर से किनारे होते हैं। कुछ निराकार वस्तुयें भी एक देशी हो सकती हैं परन्तु कोई स्थूल या साकार वस्तु सर्वदेशी नही हो सकती। इसलिए ईश्वर को साकार मानना वस्तुतः ईश्वर की सत्ता का निषेध करना है।

अब सर्वशक्तिमान् शब्द को लेते है। ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर वह सत्ता है जो सृष्टि की समस्त वस्तुओ को नियमों द्वारा अपने शासन मे रखती है। किसी वस्तु पर शासन करने के लिये उससे प्रबल शक्ति आवश्यक है। ईश्वर न केवल सृष्टि की जड़ वस्तुओं को ही अपने वश मे रखता है किन्तु सजीव वस्तुओ, को भी। यहाँ तक कि मनुष्य भी जो समस्त प्राणियो की अपेक्षा अपने को बलवान समझता है इसी शक्ति की उंगली पर नाचता है। हम "मनुष्य अल्प है' नामक अध्याय मे दिखा चुके हैं कि मनुष्य बलवान होते हुये भी बलहीन है और उससे कही अधिक शक्ति उसको अपने वश मे किये हुये हैं। जो ईश्वर सृष्टि के सभी पदार्थों से अधिक बलवान और उनपर शासक है उसके "सर्वशक्तिमान" होने मे सन्देह ही क्या है ? हम पिछले कई अध्यायो मे दिखा चुके हैं कि सृष्टि का प्रत्येक नियम एक शक्ति के आधीन है। एक प्रकार से तो हम कह सकते हैं कि यह भिन्न भिन्न शक्तियां हैं। और इस प्रकार यह वह सत्ता जो इन शक्तियो को रखती है "सर्वशक्ति सम्पन्न" अर्थात् सब शक्तियो वाली कहलायेगी। परन्तु यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो यह सभी शक्तियां वस्तुतः एक ही शक्ति के भिन्न भिन्न रूप हैं जो

ईश्वर मे रहती है। इसीलिये कभी ईश्वर को शक्ति नाम से भी पुकारते हैं। वस्तुतः ईश्वर शक्ति नही किन्तु "शक्तिमान्" है इस लिये सर्व शक्तिमान् के दो अर्थ हो सकते हैं:—

(१) **सर्वा शक्तयो अस्य सन्तीति सर्व शक्तिमान्** अर्थात् जिसमे सब शक्तियाँ रहती हो।

(२) जो सब शक्तिमान पदार्थों से अधिक हो।

ससार मे चींटी या उससे छोटे कीट पतङ्गो से लेकर सिह हस्ती तथा मनुष्य तक सभी प्राणी शक्ति वाले हैं। मै ईट उठा सकता हूं। जड़ वस्तुओ को मिला या पृथक कर सकता हूं। चींटी दानो को अपने विल मे ले जा सकती है। पतंगे उड़ सकते हैं। यह सब कुछ न कुछ शक्तियाँ रखने के कारण शक्तिमान् कहलाये जा सकते है। परन्तु सहस्रो वस्तुयें हैं जिनको मै वश में नही कर सकता। इसी प्रकार अन्य प्राणी भी कुछ कर सकते हैं और कुछ नहीं कर सकते। इसलिये शक्तिमान होते हुये भी यह अल्प हैं। ईश्वर इन प्राणियो को भी अपने वश मे रखता है। जिस हाथ से एक समय में मै लेखनी उठा सकता हूं। दूसरे समय मे उसी हाथ मे कुछ विघ्न हो जाने से लेखनी नही उठा सकता। जो पक्षी एक दशा मे अपने पङ्खों के सहारे उड़ सकता है दूसरी अवस्था मे नही उड़ सकता। इसलिये सब शक्तिमानो मे श्रेष्ठ होने अर्थात सर्व-शक्तिमानो पर शासन करने के कारण ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। जो दो अर्थ हमने ऊपर दिये हैं उनके तात्पर्य्यों मे बहुत भेद नहीं है। विचार के दो रूप हैं जिनका अन्तिम आशय एक ही है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि जिन शक्तियो से सम्पन्न ईश्वर को माना जाता है वह शक्तियाँ कौन कौन सी है। क्या वह अनन्त हैं या उनकी कोई सख्या भी है। क्या "सर्व" शब्द शक्तियों को संख्या की अपेक्षा 'सान्त' बना देता है या यह अनन्त वाची

शब्द है। हम सृष्टि के नियमों की व्याख्या करते हुये बता चुके हैं कि सृष्टि मे एक नियम नही हैं किन्तु असंख्यों नियम हैं। प्रत्येक नियम असंख्यों घटनाओ पर शासन करता है। फिर सृष्टि अनन्त है। भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनो कालो पर विचार किया जाय तो घटनाओ का कोई अत विचार मे नही आता। इसलिये अनन्त नियमो को यदि अनत शक्तियाँ मान लिया जाय तो जिन शक्तियो से ईश्वर को सम्पन्न माना जाता है वह अनत ही हुई। और इन शक्तियों का रूप यह हुआ कि नियमो के अनुसार घटनाओ तथा पदार्थों को वश मे रखना। किसी वस्तु पर शासन करने का अर्थ ही यह है कि उसको ऊपर उठा सकना, नीचे गिरा सकना, इधर उधर फेंक सकना, दो वस्तुओ को परस्पर मिला सकना, और उनको पृथक् २ कर सकना। इस प्रकार जितने परमाणु सृष्टि मे हैं चाहे सूक्ष्म रूप मे हो चाहे स्थूल मे ईश्वर उनको ऊपर उठा सकता, नीचे गिरा सकता, और मिला, और पृथक कर सकता है इसलिये वह सर्वशक्तिमान है। कोई पदार्थ ऐसा नही जो ईश्वर के इस प्रकार के शासन के बाहर हो।

सर्वशक्तिमान् शब्द के विषय मे आस्तिको मे बहुत भेद है। लोग प्रायः यह समझते है कि यदि ईश्वर को सर्वशक्तिमान् माना जाय तो यह भी मानना पड़ेगा कि ईश्वर "सब कुछ" कर सकता है। परन्तु जो ऐसा कहते हैं वह "सब कुछ" के अर्थों पर विचार नही करते। "सब कुछ" क्या वही सृष्टि के पदार्थों का उठाना, गिराना, मिलाना या पृथक करना। इसके अतिरिक्त "सब कुछ', का और कोई अर्थ नही लिया जा सकता। यदि यह अर्थ माना जाय तो यह ठीक ही है कि ईश्वर सब कुछ कर सकता है। अर्थात् सृष्टि का कोई परमाणु या जीव ऐसा नही जिसको वह संयुक्त या वियुक्त न कर सके। इसके अतिरिक्त "सब कुछ" का और क्या

'अर्थ हैं ? यदि किसी राजा के लिये कहा जाय कि उसका अपनी समस्त प्रजा पर पूर्ण अधिकार है तो इसका यही अर्थ होगा कि वह उस प्रजा को जिस प्रकार चाहे रख सकता है। इसी प्रकार यदि कहा जाय कि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है तो उसका यही अर्थ होगा कि सब परमाणु और प्राणी उसके वश में हैं।

परन्तु बहुत से लोग "सब कुछ कर सकने" का यह अर्थ नहीं लेते। यह बात उन्हीं के सिद्धान्तों से पाई जाती है। जैसे कोई कहता है कि ईश्वर अवतार ले सकता है। कोई कहता है "ईश्वर शून्य से वस्तुयें उत्पन्न कर सकता है"। कोई कहता है कि ईश्वर की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता। कोई कहता है कि यदि मनुष्य झूठ भी बोलते हैं तो ईश्वर ही उनको बुलवाता है क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। इस प्रकार ईश्वर की "सर्वशक्तिमत्ता" एक बाजीगर की झोली समझी जाती है जिसमें से बुरी भली सभी वस्तुयें निकल सकती हैं। उदाहरण के लिये "ईसा बिना पिता के कैसे उत्पन्न हो गया"? ईश्वर की शक्तिमत्ता से। मुहम्मद ने चांद के दो टुकड़े कैसे कर दिये? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी उङ्गली पर कैसे उठा लिया? ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से? ईश्वर ने नृसिंह का रूप कैसे धारण किया? अपनी सर्वशक्तिमत्ता से? वस्तुतः ईश्वर की इस प्रकार की सर्व-शक्तिमत्ता से ईश्वर को विहीन कर दिया जाय तो बीसियो ऐसे मजहब या धर्म हैं जिनका तिरोभाव हो जाय। अनेको प्रकार की पूजायें हैं जो संसार से उड़ जायँ और लाखो पुजारी ऐसे हैं जिनकी जीविका नष्ट हो जाय। इसलिये इतने मतमतान्तरो को स्थित रखने और इतने पुजारियों का पेट भरने के लिये आवश्यक प्रतीत होता है कि ईश्वर की इस प्रकार की सर्वशक्तिमत्ता की पुष्टि ही की जाय, चाहे ऐसा करने से सत्य का गला ही क्यों न घुटता

हो। जिस प्रकार अनियमित तथा उच्छृङ्खल पुरुषों को शक्तिशाली कहने का प्रचार है इसी प्रकार ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता से भी यही तात्पर्य्य समझा जाता है कि कोई काम ऐसा नहीं जिसको वह न कर सकता हो या जिसको उसने न किया हो। लोग समझते हैं कि यदि ईश्वर नियमो के आधीन हुआ तो वह सर्वशक्तिमान् या स्वतत्र न रहेगा। वह यह नहीं जानते कि नियमों के अनुकूल चलना ही स्वतन्त्रता है। जो नियमों के आधीन नहीं होता वह अनियमता का दास होगा। ऐसी सत्ता की तो सम्भावना ही नहीं हो सकती जो न नियमो के आधीन हो, न अनियमता के आधीन हो। अनियमता का आधीन होना बल-हीनता का चिह्न है। शक्ति का चिह्न नही। अनियमित होने का अर्थ ही यह है कि नियमो के अनुकूल कार्य्य करने की शक्ति नहीं। नियमानुकूल कार्य्य करने के लिये शक्ति चाहिये। नियमो के उल्लङ्घन करने से निर्बलता और अज्ञानता दोनो की सूचना मिलती है। संसार मे बहुत से मनुष्य हैं जो नित्य प्रति किसी न किसी नियम का उल्लङ्घन किया करते हैं। क्यो? इसलिये कि कुछ तो इतने अज्ञानी हैं कि उनको यही नही मालूम कि किन नियमो का पालन करना उनका कर्त्तव्य है। कुछ को यह तो ज्ञान है कि हमारा यह कर्त्तव्य है परन्तु फिर भी उसका पालन नही कर सकते। सैकड़ो यह जानते हुये भी कि असत्य बोलना बुरा है असत्य बोलते है, चोरी करना बुरा है, चोरी करते है, शराब पीना हानिकारक है, शराब पीते हैं। बहुत से तो ऐसे भी हैं जो प्रतिदिन नियमानुकूल चलने की प्रतिज्ञा करते हैं और प्रति दिन उसका उल्लङ्घन करके पश्चाताप करते है। कितने ऐसे हैं जिनको हमने यह कहते सुना है "क्या करें। हमारी निर्बलतायें हमको नियमों का पालन नही करने देती"। वस्तुतः! नियम बनाना "ज्ञान" का काम है और उनका अक्षरशः पालन करना

"शक्ति" का। जिसमें "ज्ञान" है शक्ति नहीं वह नियमों को तो बनायेगा परन्तु उनका पालन नहीं कर सकेगा। जिसको ज्ञान नहीं, शक्ति है वह ऐसे नियमों को ही न बना सकेगा जो अधिक समय तक उपयोगी प्रमाणित हो सकें। जिसमें न 'ज्ञान' है न "शक्ति" उसका तो कुछ कहना ही नहीं।

हम कई बार इस बात पर बल दे चुके हैं कि ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण भी यही है कि सृष्टि में हम अटल नियमों का अवलोकन करते हैं। यदि यह नियम अटल न हों तो उनको नियम ही न कह सकेंगे और न केवल सायंस-वेत्ताओं को ही अपनी समस्त-साधन-सम्पत्ति भाड़ में झोंकनी पड़ेगी किन्तु सद् पुरुषों का समस्त व्यवहार बन्द हो जायगा। यदि गेहूँ बोने से कभी चना भी उत्पन्न हो जाया करे तो कौन मूर्ख है जो गेहूँ बोने का परिश्रम उठाये। यदि जिस राजा के राज में कोई ज्ञात या विज्ञात नियम नहीं है उसके राज्य को अराजकता तो कह सकते हैं, कभी उसको शक्तिशाली नहीं कह सकते। इसी प्रकार यदि ईश्वर अपनी सर्वशक्तिमत्ता, स्वतन्त्रता अथवा उच्चता दिखाने के लिये कभी कभी अपने नियमों का उल्लङ्घन भी कर सकता है तो उसका दो में से एक कारण अवश्य होगा। या तो उसने नियम बनाते समय यह सोचा होगा कि अमुक नियम आगे चल कर लाभ के स्थान में हानि पहुँचावेगा, जैसे ईसाई धर्म ग्रन्थ बाइबिल में लिखा है कि जब सृष्टि में पाप बढ़ गया तो ईश्वर को खेद हुआ कि मैंने ऐसी सृष्टि ही क्यों बनाई जिसमें इस प्रकार के पाप बढ़ जायँ? इस दशा में ईश्वर के अज्ञान की सूचना मिलेगी। या नियमों का पालन करते करते थक गया और अब उसको परिवर्त्तन करने की आवश्यकता पड़ी। यदि ऐसा मान लिया जाय कि नियमों का उल्लङ्घन ईश्वर के अधिकार में है तो कभी ऐसे ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के सब कुछ कर सकने के विरुद्ध दो प्रश्न किये हैं:—

(१) क्या ईश्वर अपने को नष्ट कर सकता है ?

(२) क्या ईश्वर अपने बराबर दूसरा ईश्वर बना सकता है ?

चाहे किसी धर्म का मानने वाला क्यों न हो वह यही कहेगा कि यह दोनो काम ईश्वर की शक्ति से बाहर हैं। फिर भी ईश्वर सर्व शक्तिमान् है। जो सत्ता समस्त संसार मे व्यापक है वह अपने को नष्ट कैसे कर सकती है ? किसी वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान में चला जाना तो सम्भव है परन्तु उसका "शून्य" हो जाना सम्भव नहीं। ईश्वर सर्वव्यापक होने से कहाँ जायेगा और कहाँ आयेगा ? उसके लिये 'आना' और 'जाना' दोनों ही असम्भव और अचिन्तनीय हैं। जो "है" वह "न है" कैसे होगा ? रही अपने समान दूसरा ईश्वर बनाने वाली बात। सो भी अचिन्तनीय ही है। क्योंकि कल्पना कीजिये कि उसने एक ऐसा ही ईश्वर बना दिया जो उसी के समान शक्तिवाला है तो भी इस बने हुये ईश्वर और उस बनाने वाले ईश्वर मे इतने भेद अवश्य रहेंगे:—

(१) यह ईश्वर बना हुआ होगा और पुराना ईश्वर बिना बना हुआ।

(२) इस ईश्वर की आयु आज से आरम्भ होगी और पुराना ईश्वर अनादि होगा।

यह दो भेद ऐसे हैं जिनसे छुटकारा हो ही नहीं सकता। इस लिये यह कहना कि "ईश्वर अपने समान एक और ईश्वर बना सकता है" बड़ी भारी मूर्खता है। यदि ऐसा होता तो आज तक उसने एक दो ईश्वर अवश्य बनाये होते।

एक ईसाई विद्वान् ने स्वामी दयानन्द के इन दो प्रश्नो के साथ साथ एक और प्रश्न किया है जो सर्वथा सुसङ्गत है। कई सौ वर्ष

पहले ईसाई जगत् मे इसी प्रकार का प्रश्न उठा था। इस पर उस विद्वान् ने कहा "क्या ईश्वर एक वेश्या को कुमारिका (Virgin) कर सकता है"? कुमारिका वह है जो आज तक ब्रह्मचारिणी हो। इसलिये वेश्या का किसी अवस्था मे भी कुमारिका होना अचिन्तनीय है। इसके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी बातें बताई जा सकती है जिनका करना ईश्वर की शक्ति के बाहर है। क्यो? केवल इसलिये कि वह ईश्वर है। ईश्वर वही काम कर सकता है जो ईश्वर को करना चाहिये। जो काम ईश्वर को नही करना चाहिये उसे वह कैसे कर सकता है?

यहा एक प्रश्न हो सकता है? क्या ईश्वर एक त्रिकोण को वृत्त बना सकता है? यदि नही तो क्यो? क्योकि उसके आधीन सृष्टि के सभी परमाणु है। इसका उत्तर यह है कि यह माना कि ईश्वर के आधीन सृष्टि के सभी परमाणु है। परन्तु यदि उसने उनको त्रिकोण के रूप मे रक्खा तो त्रिकोण बनेगा। यदि वृत्त के रूप मे तो वृत्त। त्रिकोण के रूप में रखते हुये वृत्त कभी नही बन सकता। ईश्वर ऐसा त्रिकोण नही बना सकता जिसके सब कोण मिलकर दो समकोण से बड़े या छोटे हो क्योकि जो त्रिकोण बनेगा उसके कोणो का योग अवश्य ही दो समकोणो के बराबर सिद्ध होगा। और जिस क्षेत्र के तीनो कोण दो समकोणो से बड़े या छोटे है वह कभी त्रिकोण हो ही नहीं सकता।

कुछ लोगो ने एक नई युक्ति निकाली है। जब उनसे पूछा जाता है कि क्या ईश्वर चोरी भी कर सकता है. या दूसरा ईश्वर भी बना सकता है तो वह कह देते हैं कि "हां चोरी कर सकता है परन्तु करता नही।" उसमे प्रत्येक काम करने की शक्ति तो है परन्तु वह करता वही है जो उचित होता है, जो अनुचित होता है उसको नही करता।

यह उत्तर वस्तुतः उनकी सहायता नही करता। हाँ कुछ देर के लिये उनका जी बहलाव हो जाता है। क्योंकि यदि कुछ काम ऐसे हैं जिनको ईश्वर ने न कभी किया न अब करता है न आगे कभी करेगा तो उनका किसी प्रकार से ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना ही व्यर्थ है। वस्तुतः यदि खोज की जाय कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" यह प्रश्न क्यों उठा, और कब उठा, तो विदित होगा कि कुछ धर्मावलम्बी आस्तिक यह सिद्ध करना चाहते थे कि "ईश्वर ने अमुक कार्य्य किया"। उसी की सिद्धि के लिये उन्होंने साधन यह दिया कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है।" इसलिये "वह अमुक कार्य्य भी कर सकता है।" यदि साधन का रूप "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" से बदलकर "ईश्वर ने उचित काम ही किया है, उचित ही करता है, उचित ही करेगा, कभी अनुचित नही किया न करता है न करेगा।" ऐसा कर दिया जाय तो जो लोग ईश्वर की सर्व शक्तिमत्ता से अपने हर एक साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं वह अपने परिश्रम मे सर्वदा विफल रहेगे। फिर प्रश्न यह नही होगा कि "ईश्वर सब कुछ कर सकता है" इसलिये "ईश्वर ने यह काम भी किया"। इसके विरुद्ध प्रश्न यह होगा कि ईश्वर को ऐसा करना उचित था-या नही। जो लोग यह कहते हैं कि "शक्ति तो है पर करता नही" वह भी अन्त को एक ही आशय पर पहुँचते है। हम भी कह सकते है कि ईश्वर सर्व शक्तिमान है "सर्व क्रियामान्" नही है। यदि ईश्वर "सर्व क्रियामान्" होता तो सब कुछ कर सकता था। वस्तुतः अनुचित कार्य्य का करना ईश्वर को ईश्वरत्व से वंचित कर देता है। किसी भले आदमी से पूछो कि क्या तुम अमुक पाप कर सकते हो। तो वह कहेगा "नही। मुझमे सामर्थ्य ही नही"। इसी प्रकार ईश्वर मे चोरी आदि करने का सामर्थ्य ही नहीं। किसी काम के करने के लिये केवल शारीरिक शक्ति की ही

आवश्यकता नहीं होती। शक्तियाँ अभौतिक और पारलौकिक भी होती है। इस लिये जब हम किसी कार्य्य का ईश्वर से सम्बन्ध जोड़ना चाहते है तो उसकी सभी बातों पर विचार करना पड़ेगा। नहीं तो विचार अधूरा रह जायगा।

सातवां अध्याय

ईश्वर के गुण (२)

पाप और दुःख की विकट समस्या

ईश्वर को सर्व-नियन्ता और सर्वशक्तिमान् समझ लेने के पश्चात् ही उसकी कल्याण कारिता पर ध्यान जाता है। नियम और कल्याण का एक घनिष्ठ सम्बन्ध है। नियम कल्याण के लिये ही बनाये जाते हैं। यदि कल्याण का विचार न हो तो किसी नियम की आवश्यकता नहीं है। संसार के कड़े से कड़े नियमो के भीतर भी कुछ न कुछ और किसी न किसी का कल्याण छिपा होता है। अनियमता ही कल्याण की शत्रु है। हम ऊपर कई बार इस बात पर बल दे चुके हैं कि सृष्टि मे संगठन तथा प्रयोजन दोनों है। इन्ही के द्वारा हमने यह भी सिद्ध किया था कि ईश्वर बड़ा बुद्धिमान् है। बुद्धिमान् और शक्तिमान् दोनो के लिये संस्कृत मे एक शब्द **चेतन** आता है। चेतन वह है जिसमे **ज्ञान** और **प्रयत्न** अर्थात् **बुद्धि** और **शक्ति** दोनो हो। इसलिये आस्तिक लोग ईश्वर को **चेतन स्वरूप** कहा करते हैं। परन्तु ज्ञान युक्त प्रयत्न का कारण ही यह है कि किसी विशेष **प्रयोजन** की सिद्धि

हो। प्रयोजन कल्याण रूप ही हो सकता है। यदि कल्याण का भाव संसार में न हो तो समस्त जीव प्रयोजन रहित हो जायं। प्रयोजन न होने से शक्ति तथा नियम दोनों का आविर्भाव नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वर कल्याणकारी है। कल्याणकारी का ही दूसरा नाम भला, सत् अथवा दयालु या न्यायकारी है। यह सब गुण भलाई से ही सम्बन्ध रखते हैं। वस्तुतः भाव एक ही है। अवस्थाओं के भेद से शब्द भिन्न भिन्न हो गये है। इनकी व्याख्या आगे की जायगी।

सृष्टि के नियमो से भलाई का इतना प्रवल प्रमाण मिलता है कि बहुत से विचारशील पुरुष इसी को ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मानते है। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश मे लिखा है:—

"जब आत्मा, मन इन्द्रियों को किसी विषय में लगाता वा चोरी आदि बुरी वा परोपकार आदि अच्छी बात के करने का जिस क्षण में आरम्भ करता है उस समय, जीव की इच्छा ज्ञानादि उसी इच्छित विषय पर झुक जाता है। उसी क्षण में आत्मा के भीतर से बुरे काम करने मे भय, शङ्का, और लज्जा तथा अच्छे काम के करने में अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है। और जब जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनों प्रत्यक्ष होते हैं" (सप्तम समुल्लास)

यहाँ ईश्वर सिद्धि का प्रकरण था। अतः ज्ञात होता है कि स्वामी दयानन्द ईश्वर के अस्तित्व का एक प्रमाण यह भी समझते थे कि मनुष्य के अन्तःकरण मे उचित और अनुचित मे भेद करने की एक शक्ति है जो ईश्वर-प्रदत्त है। अगरेजी में इसी को कॉन्शेन्स (conscience) के नाम से पुकारते हैं।

‡"कुछ ग्रन्थकारो ने सदाचार सम्बन्धी नियम को जो मनुष्य के अन्तःकरण (conscience) द्वारा ज्ञात हो सकता है ईश्वर अस्तित्व का सब से बड़ा प्रमाण माना है। उनकी दृष्टि मे अन्य प्रमाणो की आवश्यकता ही नही रहती। जिस काण्ट (Kant) ने अपनी तर्क बुद्धि से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि जितना मनुष्य अपनी तर्कशक्ति का ईश्वर विषय मे प्रयोग करता जाय उतना ही वह भूल भुलइयो में फंसता जायगा, उसी काण्ट को यह भी मानना पड़ा कि व्यावहारिक बुद्धि और अन्तःकरण द्वारा ईश्वर की ऐसी साक्षी मिलती है कि सन्देहवाद के लिये कोई स्थान नहीं रहता। सर विलियम हैमिल्टन ने भी यही माना है कि ईश्वर अस्तित्व तथा जीव के अमर होने का यही उत्तम प्रमाण है कि

---

‡"The moral law which reveals itself to conscience has seemed to certain authors so decisive a witness for God, that all other witnesses may be dispensed with Kant, who exerted his great logical ability to prove that the speculative reason in searching after God inevitably loses itself in sophisms and self contradictions, believed himself to have found in the practical reason or moral faculty an assurance for the Divine existence and Government capable of defying the utmost efforts of scepticism. Sir William Hamilton has also affirmed that the only valid arguments for the immortality of the human soul, rest on the ground

मनुष्य मे आचार सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता है। डाक्टर जौन न्यू मैन अन्त.करण को धर्म का मूलाधार बताते हैं। उनका आग्रह है कि प्राकृतिक धर्म के सिद्धान्तो को इसी मुख्य नियम के आधार पर निश्चित करना चाहिये। जर्मनी के जीवित आस्तिक-वादी डाक्टर शैंकिल ने अपने समस्त आस्तिकवाद की आधार-शिला अन्तःकरण पर ही रक्खी है। उनका आरम्भिक सिद्धान्त यह है कि अन्त करण आत्मा की धर्म सम्बन्धी इन्द्रिय है। और उसी से हम ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर सकते है (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० २१०-११)

‡"शायद ईश्वर का कोई व्यावहारिक विश्वास ऐसा नही जिसका अन्तःकरण से आरम्भ नही होता। न कार्य्य कारणवाद न सृष्टि द्वारा सूचित बुद्धिमत्ता की प्रशंसा ही मनुष्य के हृदय मे ईश्वर के ध्यान को हरदम बनाये रहने के लिये पर्य्याप्त है। प्राकृतिक जगत् या मनुष्य समाज की किसी घटना के विचार से मनुष्य के

---

of man's moral nature.' Dr John Newman has insisted that conscience is the creative principal of religion, and endeavoured to show how the whole doctrine of natural religion should be worked out from this central principle A well-known living theologian of Germany, Dr Schenkel, has attempted to build up a complete theology on conscience as a basis, starting from the position that conscience is "the religious organ of the soul—the faculty through which alone we have an immediate knowledge of God."

(Flint's Theism pp 210-11)

‡"There is probably no living practical belief in God which does not begin with the conscience. It is not reasoning on a first cause, nor even admiration of the wisdom displayed in the universe, which makes the thought of God habitually

हृदय मे ईश्वर के प्रत्यक्ष तथा उसके अपने साथ सम्बन्धो का इतना ध्यान नही रह सकता। केवल उत्तेजित तथा विकसित अन्त:करण द्वारा ही हम इस बात का प्रत्यक्ष कर सकते है कि हम ईश्वर के समीप हैं। वह हमसे सम्बन्ध रखता है और हम उससे सम्बन्ध रखते हैं। यदि हमसे सदाचार सम्बन्धी ज्ञान न होता तो हम कभी न जान सकते कि ईश्वर का स्वभाव तथा साम्राज्य भला है या बुरा। यह सम्भव था कि हम उसकी शक्ति के सामने कांप जाते या उसकी बुद्धिमत्ता की प्रशंसा करने लगते। परन्तु उसकी भलाई हमसे छिपी नही रहती, उसके सदाचार सम्बन्धी नियमो को समझ ही न सकते और उसकी इच्छा हमारे लिये प्राकृतिक हानि लाभ से अधिक कुछ न होती। परन्तु कल्याण-कारिता-शून्य ईश्वर ईश्वर ही नही और न सदाचार शून्य उपासना उपासना है। केवल अन्त:

---

and efficaciously present to the mind It is not any kind of thinking nor any kind of feeling executed by the physical universe or by the contemplation of society, which gives us an abiding and operative sense of God's presence, and of his relationship to us It is only in and through an awakened and active conscience that we realise our nearness to God—His interest in us and our interest in him. Without a moral nature of our own, we could not recognise the moral character and moral Government manifested by Him. We might tremble before His power, or we might admire His skill, but his righteousness would be hidden from us. His moral laws would be meaningless to us and their sanctions would be merely a series of physical advantages & physical disasters But a God without righteousness is no true God and the worship which has no moral element in it is no true worship. And then, it is only through the glass of conscience that the righteousness of God can be discerned and as that attribute alone can call forth, in addition to the

करण के दर्पण मे ही ईश्वर की कल्याणकारिता के दर्शन हो सकते है, शक्ति तथा बुद्धिमत्ता आदि गुण हममे डर या औत्सुक्य उत्पन्न कर सकते हैं। परन्तु प्रेम, श्रद्धा तथा भक्ति जो सच्ची उपासना के लिये आवश्यक हैं केवल अन्तःकरण द्वारा ही उत्पन्न हो सकती हैं। वस्तुतः ईश्वर-अस्तित्व-सिद्धि से अन्तःकरण का बहुत गूढ़ सम्बन्ध है।" (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० २११-१३)

यद्यपि ईश्वर के बहुत से गुणो का वर्णन किया जा चुका है तथापि हमारा घनिष्ट सम्बन्ध ईश्वर से इसलिये है कि वह कल्याण-कारी है और यदि हम उसकी उपासना करेंगे तो हमारा कल्याण होगा। वस्तुतः हम ईश्वर के विषय मे कभी इतना सोचने के लिये तैय्यार न होते यदि हमारे स्वभाव के भीतर ईश्वर की कल्याण-कारिता का बीज न होता। हम बहुत सी ऐसी वस्तुओ को देखकर आश्चर्यमय हो सकते हैं जो हमारे लिये दुःखदाई हैं जैसे बिजली का चमकना या ज्वालामुखी पर्वत से ज्वाला का प्रज्वलित होना। परन्तु हमारे हृदय मे इनके प्रति कभी प्रेम उत्पन्न नहीं होता न हम इनसे सम्बन्ध ही जोड़ना चाहते हैं। बलवान् शत्रु हमारे हृदय मे भय उत्पन्न कर सकता है परन्तु श्रद्धा उत्पन्न नही कर सकता। ईश्वर के प्रति मनुष्य समाज आदि सृष्टि से ही इसलिये आकर्षित होता रहा है कि ईश्वर भला है और हमारे साथ भलाई करता है। नास्तिको का सबसे बड़ा साधन जो उन्होंने आस्तिको को ईश्वर से

---

fear, wonder and admiration evoked by power and intelligence, the love, the sense of spiritual weakness and want and the adoring reverence, which are indispensable in true worship—such worship as God ought to receive and man ought to render—the significance of the moral principle in the theistic argumentation is vast indeed"

(Flint's Theism pp. 211,-12,—13)

विमुख करने के लिये रचा, वह यह है कि सृष्टि दुःखो से पूर्ण है। यदि ईश्वर दयालु होता तो इस प्रकार की सृष्टि कभी नहीं बनाता। भूकम्प, ज्वालामुखी पर्वत, नदियो की बाढ़, अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा अनेक प्रकार के रोगो के उदाहरण इस बात को दिखाने के लिये दिये जाते हैं कि ईश्वर कुछ नहीं। सृष्टि के नियम मनुष्यों को नष्ट करने के लिये है। उनको सुख पहुँचाने के लिये नही। इत्यादि इत्यादि। परन्तु इतना होने पर भी इतिहास इस बात का साक्षी है जब कि व्यक्तियो या समाज पर अधिक विपत्ति पड़ती है तो वह ईश्वर की उसी प्रकार शरण लेते है जैसे एक दुखी बालक दूसरों से त्रास पाकर मा की गोद के लिये दौड़ता है। यह सब क्यों है ? इसीलिये कि मनुष्य के अन्तःकरण मे उचित अनुचित पहचानने की शक्ति है और वह अपने लिये कल्याण करने वाली शक्ति की ओर आकर्षित होने के लिये उसे बाधित करती है।

वस्तुतः यदि सृष्टि का कुछ प्रयोजन न होता, या ऐसा प्रयोजन होता जो हमारे कल्याण के लिये न होता तो उचित और अनुचित मे कौन सी भेदक भित्ति होती ? औचित्य और अनौचित्य की कसौटी क्या है ? यह शब्द किस भाव को प्रकट करते हैं ? यदि सृष्टि का बनाने वाला किसी विशेष प्रयोजन के बिना सृष्टि बनाता, तो वह सृष्टि न केवल अनियमित ही होती किन्तु उसमे उचित और अनुचित के लिये भी कोई स्थान न होता। क्योकि उचित का भाव ही यह है कि वह प्रयोजन मे साधक हो और अनुचित का अर्थ ही यह है कि वह प्रयोजन का बाधक हो। यदि प्रयोजन के ऊपर दृष्टि न रक्खें तो उचित और अनुचित गधे के सींगो के समान अभाव को प्राप्त हो जाते हैं। यदि उचित और अनुचित संसार मे कोई वस्तु नहीं तो उनके जानने के लिये मनुष्य के अन्तःकरण मे शक्ति ही क्यों है ? यदि प्रकाश न होता तो आंख की आवश्यकता न

थी ? यदि शब्द न होता तो कान क्यो बनाया जाता ? यदि स्पर्श न होता तो त्वक् इन्द्रिय के वनाने से क्या लाभ था ? हमारी इन्द्रियाँ सिद्ध करती है कि उनसे ग्रहण होने वाले विषय भी अस्तित्व रखते हैं। इसी प्रकार हमारी अन्तःकरण रूपी इन्द्रिय सिद्ध करती हैं कि उचित और अनुचित भी कोई चीज़ है जिनसे किसी प्रयोजन की सिद्धि होती है और जिस प्रयोजन से ईश्वर के कल्याणकारी होने का प्रमाण मिलता है।

यहाँ दो बड़े भयानक प्रश्न उपस्थित होते हैं—प्रथम तो यह कि यदि ईश्वर दयालु और कल्याणकारी है तो दुःख संसार मे क्यों होता है ? क्या सम्भव है कि सूर्य्य चमकता रहे और अधेरा बना ही रहे ? आग जलती रहे और शीत निवारण न हो ? इस बात का कौन निषेध कर सकता है कि ससार दुःख और पीड़ा का स्थान है ? बड़े से बड़े आस्तिक तक यही कहते है कि संसार असार है, ससार दुःखमय है। यदि संसार दुःखमय है और संसार ईश्वर का बनाया हुआ है तो दुःख भी ईश्वर ने ही बनाया होगा। फिर उसको कल्याणकारी कैसे कह सकते हैं ? संसार मे सुख है कहाँ ? कोई पुत्र के शोक मे रो रहा है, कोई विधवा पति के वियोग मे चिल्ला रही है, कोई पुत्र अनाथ होकर विकलता फिरता है। यदि संसार के साक्षात् नरक होने की साक्षी देखनी हो तो प्रातःकाल ही अस्पतालो की सैर कर आया करो। कैसी कैसी भयानक बीमारियाँ मनुष्य के शरीर मे उत्पन्न हो सकती और हुआ करती हैं। फिर कही रोग है, कहीं दरिद्रता है, कहीं कलह है, कही मित्र-वियोग है। इस पर भी आस्तिक कहते है कि ईश्वर कल्याणकारी है तो यह दुःख किसने उत्पन्न कर दिया था ! दुःख की उत्पत्ति किसी और ने की और सुख की किसी और ने ? क्या सचमुच आधी सृष्टि अकल्याणकारी शैतान बनाता है और आधी कल्याणकारी ईश्वर ? क्या ईश्वर इतना

निर्बल है कि शैतान ईश्वर की इच्छा के बिना भी दुःख का प्रचार और प्रसार कर ही जाता है और ईश्वर की कुछ बनाये नहीं बनती। क्या जिस प्रकार दुर्बल राजा के राज्य में विद्रोही छापा मारे बिना नहीं रहते इसी प्रकार ईश्वर की प्रजा में शैतान की दाल गल ही जाया करती है ?

दूसरा प्रश्न यह है कि पाप इतना अधिक क्यों है ? क्या आस्तिक लोग स्वयं इस बात की साक्षी नहीं देते कि संसार में धर्मात्मा कम और अधर्मी अधिक हैं ? सच्चे कम और झूठे अधिक हैं ? ईमानदार कम और बेईमान अधिक है ? आस्तिक लोग कहते हैं कि धर्म पर चलना और तलवार की धार पर चलना बराबर है। ऐसा क्यों है ? दयालु परमेश्वर ने धर्म पथ को फूलों का मार्ग क्यों नहीं बनाया कि सभी धर्मात्मा हो सकते ? क्या ईश्वर को मनुष्यों से ऐसा वैर था कि वह उनको धर्मात्मा होते देख नहीं सकता था ? क्या पौराणिक इन्द्रपुरी के इन्द्र के समान ईश्वर को उन लोगों से ईर्ष्या होती है जो धर्म पथ पर चल कर इन्द्रासन ग्रहण करना चाहते हैं ? वस्तुतः सोचना चाहिये कि समस्या क्या है ? क्या पाप भी दुःख के समान शैतान की कारीगरी है ? फिर ईश्वर ने उस शैतान को बनाया क्यों जिसने ईश्वर की समस्त कल्याणकारिता पर पानी फेर दिया ? या शैतान भी ईश्वर के समान ही शक्ति सम्पन्न है जिसके आगे ईश्वर महाशय की कुछ चलती चलाती नहीं ?

यह दो बड़े जटिल प्रश्न हैं। नास्तिक तो इनको यह कह कर टाल देते हैं कि ईश्वर कोई चीज नहीं। यह सब मूर्ख लोगों के मस्तिष्क की कल्पना है। परन्तु आस्तिक इसको इस प्रकार टाल नहीं सकते। न टालने से कोई लाभ ही है। वस्तुतः नास्तिकों के लिये भी उचित यही है कि वह अपने प्रश्नों पर फिर विचार करें। चाहे नास्तिक हों चाहे आस्तिक, रहना तो उनको भी इसी ईश्वर की

सृष्टि मे है। केवल नास्तिक बनने से कोई छुटकारा नही पा सकता। सृष्टि के नियमो का पालन तो करना ही होगा।

यदि गूढ़ विचार की दृष्टि से देखा जाय तो प्रश्न इतने जटिल नहीं है जितने समझ लिये गये हैं। सब से पहले हम दूसरे प्रश्न को लेते है। सृष्टि मे पाप क्यों है? और इस पाप के लिये ईश्वर कहां तक उत्तरदाता है? पहले सोचना चाहिये कि पाप किस को कहते है। वस्तुत: जो जो काम मनुष्य कर सकता है उनमे से प्रत्येक कभी पाप और कभी पुण्य कहलाये जा सकते है। स्वत: कोई काम न पाप ही है न पुण्य। उदाहरण के लिये पाठशाला के परीक्षार्थियो पर ध्यान दीजिये। कल्पना कीजिये कि प्रयाग विश्व-विद्यालय की बी. ए. क्लास की परीक्षा होनेवाली है। प्रश्न-पत्र रजिष्ट्रार महोदय के पास है। अमुक तिथि को अमुक समय पर वह इन प्रश्न-पत्रो का वितरण परीक्षार्थियो मे करेंगे। कल्पना कीजिये कि १० बजे का समय नियत था। रजिष्ट्रार ने एक विद्यार्थी को वह प्रश्न-पत्र आध घंटा पहले दे दिया। सभी कहेंगे कि रजिष्ट्रार ने पाप किया। परन्तु यदि १० बजने पर भी वह रजिष्ट्रार उस विद्यार्थी को प्रश्न-पत्र नही देता तो भी वह पाप का भागी होता है। काम एक ही है अर्थात् स्वीकृत परीक्षार्थी को स्वीकृत प्रश्न-पत्र देना। परन्तु एक अवस्था मे प्रश्न-पत्र देना पाप है और न देना कर्त्तव्य पालन अर्थात् पुण्य और दूसरी अवस्था में प्रश्न-पत्र देना पुण्य है और न देना पाप। एक ही काम के लिये दो प्रकार की व्यवस्थायें क्यो?

यह व्यवस्थाओ का भेद केवल पाठशालाओं या विश्व-विद्यालयो तक ही परिमित नही है। मनुष्य जीवन के समस्त विभागो मे उनके प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। मनुष्य जीवन के आरम्भ से लेकर अन्त तक कुछ न कुछ कार्य्य किया ही करता है उनमे से

प्रत्येक कर्म या तो पुण्य होता है या पाप। कोई कर्म ऐसा नहीं है जो पाप न हो न पुण्य। कभी कभी साधारण पापों के लिये नम्र शब्दों का प्रयोग किया गया है, अर्थात् किसी पाप को केवल निर्बलता कह कर टाल देते हैं किसी को दोष कह कर, किसी को अपराध और किसी को पाप। परन्तु हैं यह सब पाप के ही भिन्न २ प्रकार। बहुत से ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनसे च्युत होने पर मनुष्य समाज ध्यान भी नहीं देता। कुछ ऐसे कर्त्तव्य हैं जिनके न पालन करने पर मनुष्य समाज का ध्यान तो आकर्षित हो जाता है परन्तु वह दण्ड नहीं देता। किसी किसी के लिये समाज की ओर से या राज्य की ओर से दण्ड मिलता है और कोई ऐसी भयानक त्रुटियां हैं जिनका दण्ड राज भी नहीं दे सकता और उसको सीधा संसार भर के राजा ईश्वर के ही समर्पित कर दिया जाता है। परन्तु यह सब काम "पाप" के अन्तगत आजाते हैं। जो बात पाप के विषय में कही जाती है वही पुण्य के विषय में भी कही जा सकती है। पुण्य के उसी प्रकार छोटे छोटे भेद हैं जैसे पाप के हैं। और वही काम जो एक समय या एक अवस्था में पाप है दूसरे समय या दूसरी अवस्था में पुण्य।

अब देखना चाहिये कि यदि किसी काम में स्वतः पुण्य या पाप नहीं है तो कौन सी ऐसी चीज़ है जो उसे पुण्य या पाप बनाती है? बात यह है कि कोई काम अपनी स्वतन्त्र स्थिति नहीं रखता। उसका किसी नियम के साथ सम्बन्ध होता है जिस प्रकार कामों का भी एक दूसरे के साथ सम्बन्ध है। मेरी नाक या मेरी आंख स्वतः अपने ही लिये नहीं बनाई गई। उसके कर्त्तव्य शरीर की आवश्यकताओं की अपेक्षा से है। यदि शरीर न होता तो आंख भी न होती। यदि शरीर के अन्य अङ्गों से स्वतंत्र स्थिति रखती होती तो वह उस प्रकार की न होती जैसी इस समय है।

इसी प्रकार किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये कामों की एक शृङ्खला की आवश्यकता होती है। संसार में जितने प्रकार के नियम हैं उतने प्रकार के प्रयोजन हैं और जितने प्रयोजन हैं उतनी ही काम की शृङ्खलायें हैं? जब एक काम अपनी शृङ्खला के भीतर रहता है तो पुण्य कहलाता है। जब उस शृङ्खला से बाहर हो जाता है तब उसी को पाप कहने लगते हैं। जिस प्रकार लोहे की सांकर होती है और उसमें कड़ियां होती हैं उसी प्रकार यह कामों की शृङ्खला या सांकर होती है और प्रत्येक काम उस सांकर की कड़ी है। उस कड़ी की उपयोगिता इसी में है कि वह सांकर सुदृढ़ रहे और अपना काम कर सके। यदि एक कड़ी बहुत सुन्दर, बहुत चमकीली और बहुमूल्य है परन्तु अपनी सांकर में नहीं रह सकती तो उस कड़ी का होना व्यर्थ है, वह उपयोगी नहीं किन्तु अनुपयोगी है। उसको निकाल कर तोड़ देना चाहिये। इसी प्रकार हमारे प्रत्येक काम का हाल है। **जो काम हमारे नियम रूपी सांकर की कड़ी बन सकता है वह पुण्य है, जो नहीं बन सकता वह पाप है।** उदाहरण के लिये एक माता अपने बच्चे को कोई अनुचित या हानिकारक काम करते देखती है और उससे उसको बचाने के लिये उसके एक थप्पड़ मार देती है तो वह पुण्य करती है। पाप नहीं करती। यदि वह न मारती तो पाप करती। परन्तु यदि वही स्त्री बिना कारण किसी के एक थप्पड़ लगा देती है तो पुण्य के स्थान में पाप करती है। एक राजा एक घातक को प्राण-दण्ड देता है तो वह पुण्य करता है। यदि वह घातक को पारितोषिक देता है तो पाप करता है। इसी प्रकार यदि वह किसी व्यक्ति को बिना कारण के मार देता है तो पाप करता है। यदि अधिकारी की रक्षा करता है तो पुण्य करता है।

एक बात और है जिसका पाप और पुण्य से घनिष्ठ सम्बन्ध

है। वह है काम करने वाले की स्वतंत्रता। पाणिनि मुनि की अष्टाध्यायी का एक सूत्र है "स्वतन्त्रः कर्त्ता"। कर्त्ता वह है जो स्वतन्त्र हो। जो स्वतन्त्र नहो वह 'कर्त्ता' नहीं, करण है। करण और कर्त्ता में यही भेद है कि कर्त्ता स्वतन्त्र होता है और करण कर्त्ता के हाथ में परतन्त्र। मैं हाथ से लिखता हूँ। या यों कहिये कि मेरा हाथ लिख रहा है। दोनों प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं। परन्तु हाथ लिखने में स्वतन्त्र नहीं है। मैं जब हाथ को आज्ञा देता हूँ तब वह लिखता है। जब आज्ञा नहीं देता तब रुक जाता है। इसलिये कर्तृत्व इसी में है कि वह स्वतन्त्र हो। यदि स्वतन्त्रता न हो तो कर्तृत्व के स्थान में करणत्व आ जाता है जैसे फांसी देने वाला राजा की आज्ञा से किसी को फांसी देता है। तो वह उचित या अनुचित के लिये दोष का भागी नहीं बनता। उसका तो केवल यही कर्त्तव्य है कि राजा की आज्ञा पाते ही फांसी देदे। यदि कोई पुरुष निर्दोष भी हो परन्तु फांसी देने वाला राजा की आज्ञा पाकर उसे फांसी न दे तो वह दोषी समझा जायगा, क्योंकि फांसी देना या न देना राजा के अधिकार में है। वह केवल राजा का करण या साधन मात्र है। उसका यह कर्त्तव्य नहीं है कि किसी पुरुष के दोषी या अदोषी होने की विवेचना करे। हां एक बात में वह स्वतन्त्र है अर्थात राजा की आज्ञा पालन करे या न करे। यदि करेगा तो अदोष और न करेगा तो दोष। इस प्रकार जहां तक फांसी देने वाले की स्वतन्त्रता का सम्बन्ध है वहां तक उसमें कर्तृत्व है और वहीं तक उसमें पुण्य या पाप है। जहां उसको स्वतंत्रता नहीं वहां कर्तृत्व नहीं अत: वहां पाप या पुण्य भी नहीं। एक पुरुष किसी अंश में स्वतन्त्र होता है और किसी में परतंत्र। जिस अंश में स्वतन्त्र है उसी में उसका कर्तृत्व और पाप पुण्य है: जिसमें परतंत्र है उसी में उसका करणत्व है और इसलिये पाप पुण्य का

विचार नहीं। कल्पना कीजिये कि राजा के जेलखाने में एक कैदी है। उसको किसी अपराध में २ वर्ष की सजा मिली है। कैदी होने की अपेक्षा से वह उन सब कामों के करने में परतन्त्र है जो कैदियों से लिये जाते हैं। जैसे दरी बुनना, चक्की पीसना पाखाना साफ करना इत्यादि इसलिये इन कामों में पुण्य और पाप या दोष और अदोष का भागी नहीं। जेलर ने कहा "आज चक्की पीसनी पड़ेगी"। उसने कहा 'अच्छा'। जेलर ने कहा "नहीं आज दरी बुनना है"। उसने कहा "अच्छा"। इस अंश में कैदी कर्त्ता नहीं किन्तु 'करण' है। यदि जेलर ने "दरी बुनने" के स्थान में चक्की पिसवाने का काम लिया तो इसमें दोष जेलर का है कैदी का नहीं। इसलिये उसके लिये दण्ड की भी व्यवस्था नहीं। परन्तु कैदी एक बात में स्वतंत्र है अर्थात् चाहे वह जेलर की आज्ञा पाले चाहे न पाले। इसलिये इस स्वतन्त्रता के साथ साथ ही उसका 'कर्तृत्व' भी है। यदि आज्ञा पालेगा तो अदोषी और यदि न पालेगा तो दोषी ठहराया जायगा। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि **यदि एक पुरुष किसी काम के करने या न करने में स्वतंत्र है और वह उस काम को प्रयोजन की सिद्धि के लिये उचित समझता है और नहीं करता तो यह पाप है** इसके विपरीत पुण्य।

यहां एक प्रश्न उठता है। बहुत से नास्तिक लोग कह बैठते हैं कि तुम मनुष्य समाज के प्रबन्धों के उदाहरणों को ईश्वर पर क्यों घटाते हो? क्या ईश्वर के यहां भी पाप पुण्य उसी प्रकार से हैं जैसे मनुष्यों के यहाँ। परन्तु इसका सीधा उत्तर यह है कि जब तुम "पाप पुण्य" का प्रश्न उठाते हो तो तुम भी तो मनुष्य समाज से ही उदाहरण लेते हो। जब तुमने प्रश्न किया कि "संसार" में पाप का आधिक्य क्यों है?" तो तुम्हारे पास मनुष्य समाज की घटनाओं से

इतर पुण्य पाप की कौन सी कसौटी थी ? वस्तुतः पाप पुण्य का जो तात्पर्य हमने यहां अनेकों उदाहरणों द्वारा दर्शाया है उससे इतर अन्य कोई तात्पर्य इन शब्दों का किसी काल, किसी देश, या किसी अवस्था में लिया ही नहीं गया। जब कभी और जहां कहीं किसी ने पाप पुण्य शब्दों का प्रयोग किया है वहाँ यही अर्थ किया गया है। इस लिये यदि हम मनुष्य समाज से उदाहरण लेकर तुम्हारे प्रश्न की विवेचना करते हैं तो कोई पाप नहीं करते।

हमने ऊपर 'पाप' 'पुण्य' के जो लक्षण दिये हैं उनसे दो बातों का पता चलता है.—

(१) मनुष्य अपने कामों का प्रयोजन रूपी शृङ्खला में स्थान ढूंढ सकता है, अर्थात उसको इतना ज्ञान है कि यह मालूम कर सके, कि अमुक काम अमुक प्रयोजन की सिद्धि करेगा या नहीं।

(२) मनुष्य को स्वतन्त्रता है कि अमुक काम करे या नहीं।

पहली बात के विषय में एक प्रश्न उठ सकता है। उसको इसी स्थान पर स्पष्ट कर देना चाहिये। यदि उसी काम का नाम 'पुण्य' है जो किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि में सहायक हो और उसी का नाम 'पाप' है जो इसमें बाधक हो तो प्रत्येक कर्म के उचित या अनुचित होने का लक्षण उसके परिणाम के आश्रित होगा और धर्म तथा सदाचार सापेक्षिक होगा न कि निरपेक्षिक। और प्रत्येक अधर्मी पुरुष अपने अधर्म को भी इसलिये धर्म समझेगा कि वह उसके प्रयोजन की सिद्धि करता है। अङ्गरेजी की कहावत है, कि साध्य ही साधन की कसौटी है। (End Justi-fies the means)। इस लोकोक्ति का संसार में इतना दुरुपयोग होता है कि यह बदनाम हो गई है। यदि सर्वसाधारण को यह ज्ञान हो गया कि पुण्य वही है जो अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि करे तो बड़े से बड़े झूठ, बड़े से बड़े हत्याकाण्ड, बड़े से बड़े अत्याचार 'धर्म' में

गिने जाने लगेंगे और मनुष्य समाज पर एक भयानक पशुपन का राज हो जायगा।

इस स्थान पर इस प्रश्न की विस्तार पूर्वक मीमांसा करनी अप्रासांगिक है। परन्तु इतना उत्तर प्राप्र्याप्त होना चाहिये कि धर्म अधर्म की व्यवस्था क्षुद्र प्रयोजन के द्वारा नही होती। कभी कभी असत्य भाषण भी छोटे छोटे प्रयोजनो का साधक और सत्य भाषण बाधक हो जाता है। परन्तु छोटे प्रयोजन बड़े प्रयोजनो का अंश मात्र है। यदि कोई काम छोटे प्रयोजनो की सिद्धि करे भी और मुख्य प्रयोजनो में बाधा डाले तो उसे अधर्म कहेगे। जैसे एक मनुष्य रोग ग्रसित है। उसका अभीष्ट रोग निवृत्ति है परन्तु उसका मन किसी हानिकारक वस्तु को खाने के लिये भी चल पड़ा। अब 'रोग निवारण' रूपी मुख्य अभीष्ट के अन्तर्गत एक गौण अभीष्ट आ पड़ा। परन्तु गौण के लिये मुख्य का हाथ से दे बैठना पाप होगा पुण्य नही। पाप पुण्य की व्यवस्था वस्तुत' जीवन के अन्तिम उद्देश्य की अपेक्षा से की जाती है। 'पाप' 'पुण्य' निरपेक्षिक नहीं है। हैं तो यह सापेक्षिक परन्तु अपेक्षा ऐसी वस्तु की है जो सर्वसाधारण के दृष्टि-पथ से बहुत दूर है। वह इसे समझ ही नही सकते। इसलिये साधारण मनुष्यों के पथप्रदर्शन के लिये निरपेक्षिक धर्म का ही उपदेश किया जाता है। अन्तिम प्रयोजन को दृष्टि मे रखकर धर्म अधर्म का निश्चय करना प्रत्येक मनुष्य का काम नही है। अतः यह काम अत्यन्त ज्ञानी और निष्पक्ष पुरुषो को सौंपा गया है जिनको शास्त्र-कार 'आप्त' के नाम से पुकारते हैं।—

आप्तोपदेशः शब्दः

आप्त वह हैं जो अन्तिम उद्देश्य पर ही सदा दृष्टि रखते हैं। मैत्रेयी उपनिषद् मे कहती है:—

येनाहं नामृतास्यां तेनाहं किं कुर्याम्

जो काम मुझे अन्तिम प्रयोजन की सिद्धि नहीं कराता उसका मैं क्या करूँगी। परन्तु संसार मे सभी मैत्रेयी नही हैं। अतः उनके लिए तो निरपेक्षिक धर्म का ही उपदेश किया गया है अर्थात

सत्यंवद धर्मं चर इत्यादि।

परन्तु जब हम संसार मे प्रचलित दुख या पाप की मीमांसा करेंगे तो हमको अवश्य प्रश्न की तह तक पहुँचना होगा। इसीलिए हमने कहा कि पुण्य वह है जो जीवन के अन्तिम उद्देश्य की पूर्ति करता हो यदि कर्त्ता को स्वतन्त्रता भी हो। यह दोनो शर्तें आवश्यक हैं, और स्वतन्त्रता इन दोनो मे परम आवश्यक है।

अब मौलिक प्रश्न की ओर आइये। आक्षेप यह है कि

ईश्वर ने संसार में पाप को क्यों उत्पन्न किया ?

इस प्रश्न का रूपान्तर यह होगा,—

ईश्वर ने मनुष्य को अन्तिम उद्देश्य का ज्ञान और उसके साधन प्राप्त करने या न करने की स्वतन्त्रता क्यों दी ?

कल्पना कीजिये कि सृष्टि बनाने से पूर्व हमारे आक्षेप करने वालों से ईश्वर पूछ लेता कि मैं किस प्रकार की सृष्टि बनाऊं जिससे आप सन्तुष्ट रहेंगे ? प्रतीत होता है कि 'स्वतंत्रता' से तो यह अप्रसन्न और असन्तुष्ट हैं। फिर अर्थापत्ति से सिद्ध होता है कि यह परतन्त्रता के पक्ष में हैं। क्योंकि 'स्वतन्त्रता' और 'परतन्त्रता' के मध्य में कोई अन्य मार्ग है ही नहीं। या स्वतन्त्रता दी जाय या परतन्त्रता।

साधारण लोग तो यही कह उठेंगे, कि ईश्वर ऐसी सृष्टि बनाता जिसमें पाप होता ही नहीं, पुण्य ही पुण्य होता। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर मनुष्य को न स्वतन्त्र छोड़ता और न यह महाशय

अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करते। परन्तु और विचार पूर्वक देखा जाय तो उस सृष्टि से भी हमारे नास्तिक मित्र सन्तुष्ट न होते। उस समय भी उनको यह आक्षेप करना पड़ता कि ईश्वर कैसा अत्याचारी है कि सृष्टि को जेलखाना बना रक्खा है। हमको न आंख से देखने की स्वतन्त्रता है न पैरों से चलने की। जिस प्रकार इक्के का टट्टू आंख बन्द किये नाक की सीध दौड़ता जाता है, उसे नहीं मालूम कि मुझे कहां जाना है और क्यों जाना है उसी प्रकार मनुष्य महाशय भी होते। उस दशा में शायद नास्तिक वर्ग को यह प्रश्न करने की भी स्वतन्त्रता क्यों नहीं दी गई। उनकी अवस्था उस देशी राज्य के समान होती जहां स्वराज्य प्राप्ति के लिये सोचने या प्रश्न करने की भी आज्ञा नहीं है। जहाँ प्रजा को आँख कान खोलकर चलने का स्वभाव भी नहीं है।

सम्भव है ऐसी दशा कुछ लोगों को प्रिय हो। यदि परतन्त्रता सभी को अप्रिय होती तो संसार इसका सहन भी न करता। परन्तु विलास प्रियता और आलस का अभ्यास करते करते मनुष्य परतंत्रता को भी प्रिय समझने लगता है। बहुत से दीर्घ-कारावास के अभ्यस्त पुरुष कारावास से निकलने पर बड़े दुःखी होते हैं। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि मनुष्य स्वभावतः परतन्त्रता-प्रिय नहीं है। यदि वह परतन्त्रता को सहन करता है तो किसी निमित्त से। मनुष्य क्या पशु पक्षी भी परतन्त्र रहने के लिये तैयार नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि आप गहरे जावें तो एक विलक्षण प्रश्न उपस्थित होगा। यदि मनुष्य परतन्त्र होगया तो उसके जीवन का उद्देश्य ही क्या होगा? और वह किसकी अपेक्षा से होगा? मनुष्य की अपनी अपेक्षा से या ईश्वर की अपेक्षा से? ईश्वर अपने लिये तो इस समय भी कुछ नहीं करता। इससे ईश्वर का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। फिर परतन्त्र मनुष्य के प्रयोजन की कसौटी

क्या होगी और उसकी सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी ? यदि प्रयोजन न रहा तो काम किस लिये किये जायंगे ? यदि मुझे किसी विशेष स्थान पर जाना नहीं है तो मैं यात्रा का कष्ट क्यों सहन करने लगा ? एक और उदाहरण लीजिये। अध्यापक शिष्यों को शिक्षा देता है। वह नित्य परीक्षा लिया करता है। कक्षा में पचास विद्यार्थी हैं। उनको प्रश्न-पत्र दे दिया गया। पचासों को स्वतन्त्रता है कि चाहे प्रश्नों के उत्तर लिखें, चाहे न लिखें, चाहे उचित उत्तर दें, चाहे अनुचित, केवल इतना नियम है कि जो उचित उत्तर देगा वह उत्तीर्ण होगा, जो अनुचित वह अनुत्तीर्ण। पचास विद्यार्थी भिन्न २ प्रकार के उत्तर लिखते हैं, कोई ठीक, कोई बेठीक। किसी के उत्तर में कोई त्रुटि नहीं। कोई सैकड़ों चूकें करता है। किसी का उत्तर-पत्र अशुद्धियों से भरा पड़ा है। हमारे नास्तिक महाशय कहते हैं :—कैसा बुरा नियम है, परीक्षार्थियों को उचित उत्तर लिखने या न लिखने की स्वतन्त्रता ही क्यों है ? अध्यापक इनको केवल उचित उत्तर ही क्यों नहीं लिखवा देता ? जिससे अशुद्धि होने ही न पावे।

मैं पूछता हूं कि क्या यह आक्षेप उचित होगा ? क्या परतन्त्रता से सम्पादित किये हुये सब के सब शुद्ध पत्र विद्यार्थियों के हितकारक होंगे ? इसमें सन्देह नहीं कि विद्यार्थी पढ़ने और सोचने के परिश्रम से बच जायेंगे परन्तु क्या हम उनको विद्यार्थी कह सकेंगे ? क्या वह पत्थर के टुकड़े के समान ज्ञान रहित और क्रिया रहित न होंगे। उनमें और उस तिपाई में क्या भेद होगा जिस पर वह बैठे हुये हैं। ज्ञान की तो इसीलिये आवश्यकता पड़ती है कि वह धर्म और अधर्म दो मार्गों में से एक का त्याग और दूसरे का अवलम्बन कर सकें। यदि यह दशा ही नहीं तो ज्ञान और क्रिया के अस्तित्व पर ही पानी फिर जाता है। यदि पाठशाला में

परीक्षार्थी को स्वतन्त्रता नहीं, यदि अध्यापक उत्तम से उत्तम उत्तर उनको लिखवा देता है तो पाठशाला खोलने, परीक्षायें लेने या उत्तर लिखवाने की ही क्या आवश्यकता है? वस्तुतः यदि हमको स्वतन्त्रता न होती, तो भेद भी न होता, न हमको ज्ञान होता, न हमारी काम करने मे रुचि ही होती, फिर हमी क्यो होते और यह सृष्टि ही क्यो होती ?

जो लोग यह प्रश्न करते हैं कि ईश्वर मनुष्य को पाप करने की आज्ञा क्यो देता है वह यह नहीं समझते कि ईश्वर न तो हम को पाप करने की आज्ञा देता है न पाप को सहन ही करता है। यदि परीक्षार्थी किसी प्रश्न का अनुचित उत्तर देता है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि अध्यापक अनुचित उत्तर लिखने की आज्ञा देता है अथवा उसका सहन करता है। आज्ञा देना या सहन करना उस समय कहा जाता है जब वह अनुचित उत्तर लिखने पर भी परीक्षार्थी को उसी प्रकार उत्तीर्ण कर देता जैसे उचित उत्तर लिखने वाले को करता है। जब वह अपनी वाणी और कर्मो द्वारा पुकार पुकार कर कह रहा है कि जो अनुचित उत्तर देगा वह अनुत्तीर्ण होगा तो अध्यापक पर अनुचित उत्तर देने की आज्ञा देने या सहन करने का दोष नहीं लगाया जा सकता।

इसी प्रकार यदि ईश्वर मनुष्य को पाप पुण्य का ज्ञान प्राप्त करने के साधन देता है। यदि वह पाप करने पर दुःख रूपी दण्ड देता है और पुण्य करने पर सुख रूपी पारितोषिक, तो ईश्वर पर पाप की आज्ञा देने अथवा पाप सहन करने का दोष लगाना अन्याय और तर्कशास्त्र का दुरुपयोग करना है। मनुष्य कर्म करने मे स्वतन्त्र और फल पाने मे परतन्त्र है। स्वतन्त्रता उसकी उन्नति के लिये आवश्यक है, फल की परतन्त्रता यह प्रकट करती है कि ईश्वर उसके पापो का सहन नहीं कर सकता। अतः कर्म करने में स्वतन्त्र

होना और फल पाने मे परतन्त्र होना दोनो ही मनुष्य के हित के लिये है !

कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर ने जीव को सर्व प्रकार से धर्मात्मा ही क्यों न बनाया। न अन्धे को बुलाते न दो आदमी आते। वस्तुतः इस प्रश्न ने बहुत से आस्तिको को भी चक्कर में डाल दिया है। फ्लिगट महोदय इस पर लिखते है—

*"यदि तुम यह पूछो कि ईश्वर ने सब धर्मात्मा क्यों नहीं बनाये तो इसका मेरे पास कोई उत्तर नही हैं। यह ऐसा प्रश्न है कि इसका उत्तर हो ही नहीं सकता और न इससे कुछ लाभ भी है। यदि तुम कहो कि ईश्वर ने लोगो को फरिश्तो के समान क्यों नहीं बनाया तो तुम यह भी प्रश्न कर सकोगे कि उसने फरिश्तों से भी ऊपर ऐसे उत्तम प्राणी क्यो नहीं बनाये जितने फरिश्ते जगली आदमियों से उच्च हैं। इस प्रकार अनवस्था दोष आवेगा।"

फ्लिगट महाशय ने अपनी निर्बलता का यह उत्तर इसलिये दिया है कि वह एक विशेष प्रकार की आस्तिकता मानते हैं जिसका

*But if questioned as to why He has not done the latter, I feel no shame in confessing my ignorance. It seems to me that when you have resolved the problem of the origin of moral evil into the question, why has God not originated a moral universe in which lowest moral being would be as excellent as the archangels are? You have at once shown it to be speculatively incapable of solution and practically without importance. The question is one which would obviously give rise to another, why has God not created only moral beings as much superior to the archangels as they are superior to the Australian aborigines? and still another of the same kind and so on ad infinitum?

(Flint's Theism p. 256)

उनके पास कोई प्रमाण नहीं है। उनका सिद्धान्त है कि ईश्वर ही अनादि है। उसी ने जीव आदि समस्त सृष्टि को बनाया। यदि ऐसा है तो नास्तिकों का यह प्रश्न उचित ही होगा कि ईश्वर को ऐसी सृष्टि बनाने की क्या आवश्यकता थी जिसमे नित्य कलह और पाप का प्रचार है। ईश्वर को स्वयं तो किसी बात की कमी न थी और ईश्वर के अतिरिक्त और कोई वस्तु थी नही। यदि ईश्वर ने अपना गौरव जताने के लिये सृष्टि बनाई तो गौरव किसको जताता। उसके अतिरिक्त अन्य कोई था ही नहीं। अपनी बनाई हुई वस्तुओं को अपना गौरव जताना हसी की बात है। ऐसे ईश्वर के अस्तित्व का ससार मे कोई प्रमाण ही नही मिलता। न हमने ऐसे ईश्वर की सिद्धि इस पुस्तक मे की है। हमने तो सृष्टि के नियमों द्वारा यह सिद्ध किया है कि परमाणुओं और जीवो को सृष्टि के रूप मे परिवर्त्तित करने वाली सत्ता का नाम ईश्वर है। ईश्वर जीवों को बनाता नहीं। वह उनकी भलाई के लिये सृष्टि रचता है। वह उनकी उन्नति के लिये साधन उत्पन्न करता है। वह उनके आत्मा मे धर्म के लिये प्रेरणा करता है। और सन्मार्ग से बहकने पर सच्चे पिता के समान उनको दुःख रूप दण्ड देता है जिससे वह सचेत हो जायं और दुष्ट मार्ग का परित्याग कर दें। इसमे ईश्वर का अपना कोई अभीष्ट नही है। न उसने अपने आनन्द गौरव या अन्य स्वार्थ के लिये सृष्टि बनाई है। जीव और परमाणु ईश्वर के समान ही अनादि हैं परन्तु ईश्वर अधिपति है और यह सब उसके आधीन हैं। परमाणु तो जड़ हैं परन्तु जीव चेतन हैं। उन्नति या अवनति का प्रश्न न तो ईश्वर के लिये है क्योंकि उसमे कोई अपूर्णता नही और न परमाणुओ के लिये है क्योंकि वह जड़ हैं। यह केवल जीवों के लिये है, जो पुण्य करते हुये उन्नति कर सकते हैं और पाप मार्ग का अव-

लम्बन करने पर अवनति को प्राप्त करते है। इन परमाणुओं द्वारा जीवों के लिये शरीर तथा उनके पालन पोपण आदि के लिये अन्य वस्तुये बनाना ही ईश्वर का काम है। यही सृष्टि का प्रयोजन है। यही ससार रचना का उद्देश है। जे० एस० मिल० महोदय के एक वाक्य को हम तीसरे अध्याय मे उद्धृत कर चुके है जिसमें उन्होंने बताया है कि—

"There is in nature a permanent element and also a changeable"

अर्थात् संसार मे एक स्थायी तत्व है और दूसरा अस्थायी। जीव, तथा प्रकृति के परमाणु स्थायी हैं परन्तु जीवित शरीर अस्थायी हैं। ईश्वर स्थायी वस्तुओ का बनाने वाला नही किन्तु उन पर शासन करने वाला है। न उसने इनको बनाया है न नष्ट कर सकता है। जिसको बनाता है उसको नष्ट भी कर सकता है। इस सिद्धान्त के मानने से यह प्रश्न उठ ही नहीं सकता कि ईश्वर ने सबको धर्मात्मा ही क्यो नही उत्पन्न किया। जब जीव उसी के समान अनादि थे तो वह उनकी प्रकृति ही कैसे बदलता? वह तो केवल यही कर सकता था कि उनके लिए ऐसी सृष्टि बनावे जिसके द्वारा वह परम उन्नति को प्राप्त हो सकें। यदि वह इस सामग्री से जिसका एक मात्र देने वाला ईश्वर है और जो उसने सर्वथा उनकी उन्नति के लिये ही बनाई है, कुछ लाभ नही उठा सकते तो इसमे ईश्वर का क्या दोष है?

वस्तुतः यदि हम विचारपूर्वक देखें तो इस सृष्टि से अधिक उपयोगी भी कोई सृष्टि हो ही नही सकती जो जीवो की उन्नति का साधन हो सके। जीव को ज्ञान की आवश्यकता थी। इसलिये उसको पांच ज्ञानेन्द्रियाँ दी गई। ज्ञानेन्द्रियो के लिये उन्हीं के अनुकूल विषय दिये गये। सृष्टि मे जो कुछ रचा गया है सब हमारे

भले के लिये है। यह स्वतंत्रता जिस को लोग पाप का बीज कहते हैं वस्तुतः पुण्य की आधार शिला है। इसी स्वतत्रता के सहारे मनुष्य धर्मात्मा होने के लिये उद्यत होता है। यह असत्य है कि ससार मे धर्मात्मा होने के लिये पर्य्याप्त प्रेरणा सूचक साधन नहीं है। वस्तुतः समस्त संसार हम को धर्मात्मा होने के लिये प्रेरित करता है। स्वतंत्र करते हुये भी ईश्वर ने हमारे मार्ग के चारो ओर कांटो की ऐसी बाढ़ लगा रक्खी है जिससे न तो हम अपने मार्ग से बहुत दूर ही भाग सकते हैं, न बहकाने वाली शक्तियां ही हम पर सीमा के बाहर आक्रमण कर सकती हैं।

हम को सत्पथ पर रखने के लिये सब से पूर्व तो हमारा अन्तःकरण ही है जिसको महर्षि दयानन्द परमात्मा की ओर से उपदेश बताते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण कितना बड़ा रक्षक है? संसार के कितने आत्मा इसी अन्तःकरण के शब्दो को सुनकर कुपथ पर विचलित होने नही पाते। संसार सागर मे तैरते हुये जीवन के लिये यह एक बड़ा भारी ज्योतिस्तभ (Light-house) है जिसको देखकर हम पापरूपी चट्टान पर टकरा न जायं। गिरतो का सहारा अन्तःकरण ही है। यदि अन्त.करण हमको धर्म अधर्म का उपदेश न करता होता तो हम न जाने कितने बड़े गढ़े में गिर गये होते? जिस समय संसार के सभी उपदेष्टा थक जाते हैं, जब समस्त प्राकृतिक प्रकाश छिप जाता है, अन्धेरी रात मे, घोर जङ्गल मे मनुष्य का अन्तःकरण अपने अतुल प्रकाश द्वारा सन्मार्ग बताता है। यदि हिसाब लगाया जाय तो सौ मे दो चार ही निकलते हैं जो इस प्रकाश को न देख सकें, इसके शब्द को न सुन सकें। अधिक ऐसे ही हैं जो इसके उपदेशो को सुन कर असत्य मार्ग से हट जाते हैं।

हे अन्तःकरण की ज्योति का तिरस्कार करने वालो! हे इस

संसार को पाप पूरित मानने वालो ! क्या तुमने कभी पापियो के हृदय मे घुस कर देखा है कि वहां क्या हो रहा है ? क्या तुमने कभी निर्बल से निर्बल और दुष्ट से दुष्ट मनुष्य की मनोगति का निरीक्षण किया है ? यदि किया है तो सच बताना कि क्या अन्तःकरण उनको कभी पाप से नही बचाता और क्या वह इतने ही पापी होते यदि उनके पास अन्त.करण रूपी अस्त्र न होता ? लोग भूल करते हैं जो समझते है कि ससार मे पाप का राज्य है। पापी से पापी मनुष्य भी अपने अधिक समय को पाप मे नही लगाता। जिस पुरुष के दस प्रतिशतक काम भी पापमय होने लगते है उसके प्रति समस्त संसार को घृणा हो जाती है और उसका जीवित रहना दुस्तर हो जाता है। क्यो ? इसलिये कि सृष्टि बनाई ही इसलिये गई है कि धर्म का प्रचार हो। जो लोग बाग के चारो ओर काटे की बाढ़ देखकर यह समझ लेते हैं कि यह बाग़ काटो से ही भरा हुआ है वह कितनी भूल करते हैं ? अरे मूर्ख प्राणी ! यदि इस ससार मे कांटे है भी तो वह तुझे पाप से बचाने के लिये है। पाप मे रत करने के लिये नही। व्यक्ति या समाज के हृदय मे पाप से इतनी घृणा क्यो है ? क्यो एक पापी को प्रबल होते हुये देखकर भी हम विद्रोह करने लगते है ? इसीलिये कि संसार सदाचार का इच्छुक है। सदाचार पर ही उसकी स्थिति है। सदाचार ही सृष्टि-रचना का उद्देश्य है। संसार के समस्त नियम हमको सदाचार की ओर ले जा रहे है। यदि ससार स्वतन्त्रता है तो वह इसीलिये कि लोग धर्म के मूल्य को पहचान सकें। यदि कुछ पाप है भी तो इस लिये कि उससे तुलना करके पुण्य की ज्योति का तत्व भली भांति प्रकाशित हो सके।

जिस प्रकार पाप के विषय मे लोगो की अत्युक्ति है। इसी प्रकार दुःख के विषय मे भी है। लोग समझते हैं कि यदि ईश्वर भला है तो उसकी सृष्टि मे दुःख होना नहीं चाहिये था। पाप के

विषय में जो कुछ कहा गया है उससे पाठकगण समझ गये होंगे कि ईश्वर भला है । इसीलिये ससार में दुःख है । यह दुःख ईश्वर की भलाई का द्योतक है। बुराई का नही । उसकी दया का सूचक है निर्दयता का नही । यह दुःख ही है जो मनुष्य को पाप से बचाता है । यदि पाप का परिणाम दुःख न होता तो पुण्य की उन्नति ही कैसे होती ? अच्छे राजा के राज्य मे यदि जेलखाने या दण्डालय उपस्थित हैं तो उनका कारण राजा की निर्दयता नहीं किन्तु सदयता है । यह अवश्य है कि उनका परिमाण सीमा से बढ़ न जावे । जिस प्रकार सब प्रकार के दण्डो के अभाव मे अराजकता आ जाती है उसी प्रकार सब प्रकार के दुखों के अभाव मे भी उन्नति कम हो जाती है ।

यदि हम दु.ख की मीमांसा पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि दु.ख दो प्रकार का है । एक उन्नति करने की प्रेरणा करता है । दूसरा पाप से बचाता है । पहले प्रकार का दुःख वस्तुतः दुःख नही है कभी कभी मनुष्य आवश्यकताओ का नाम दुःख रख लेता है । जैसे भूख लगती है प्यास सताती है, वस्त्रो की आवश्यकता होती है । यदि इनकी पूर्ति की सामग्री अनायास ही उपस्थित रहती है तो मनुष्य कहता है कि मै सुखी हूँ । यदि उसे इसके सम्पादन में हाथ पैर मारना पड़ता है तो वह समझता है कि मै दुखी हूँ । आवश्यकताओ की पूर्त्ति की सामग्री की अनुपस्थिति को दुःख समझना भूल ही तो है क्योकि यदि इनके सम्पादन के लिये हाथ पैर मारना न पड़े तो मनुष्य कार्य क्यो करे ? और यदि काम न करें तो उसकी शक्तियो का विकास कैसे हो ? मनुष्य की शक्तियो का विकास तो तभी होता है जब उनको प्रयोग करने की आवश्यकता पड़े और प्रयोग करने की आवश्यकता तभी पड़ती है जब सामग्री उपस्थित न हो, और प्रयत्न द्वारा उपस्थित हो सकती हो ।

जिन लोगो के घर की सम्पत्ति होती है वह विषयों में फंस कर शीघ्र ही अपनी शक्तियो का ह्रास कर बैठते हैं। चाहे व्यक्तियो के उदाहरण लो, चाहे जातियो के, चाहे साम्राज्यों के, चाहे व्यापारियों के। इतिहास इस बात का सूचक है कि मरता क्या न करता। उन्नति उन्ही लोगो ने की है जिनका जीवन संग्राम के सकट मे फॅसा है। जो चैन की नीद सोते हैं वह सोने के अतिरिक्त और कुछ करने के भी योग्य नही रहते। धनाढ्यो के धनाढ्यपन का इतिहास देखो, पता चलेगा कि उनके पूर्वज निर्धनता से तग आकर परिश्रम शील हुए और उन्होने घोर प्रयत्न द्वारा धन को एकत्रित किया। अब सन्तान की क्या दशा है? क्या उनमे अपने पूर्वजों के समान तपोबल है? क्या वे उतना पुरुषार्थ कर सकते हैं? क्या यह अवनति नही उन्नति है? यदि ससार मे सभी सुख अनायास मिल जाया करे तो उसमे उन्नति करन का कोई साधन नही रहेगा। विजय उसी को मिलती है जो सग्राम मे लड़ता है। यश उसी को प्राप्त होता है जो कष्ट सहता है। संग्राम मे लड़ना और कष्ट सहना दुःख नही है किन्तु सुखों का पेशवा है। इसको दुःख कहना बड़ी भारी भूल है। आलफ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) ने अपनी जीवन जगत् (The World of Life) मे दुःख की बहुत विस्तृत मीमांसा की है। वह नास्तिकों के आक्षेपो पर विचार करते हुये कहते हैं।

‡ "हम को संसार के दुःख देखकर प्राय. घृणा हो जाती है और हम कहने लगते हैं कि यह सृष्टि सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और दयालु सत्ता की बनाई नही हो सकती।" परन्तु वह इस मत को

---

‡ All this is so utterly abhorrent to us that we cannot reconcile it with an author of the universe who is at once all-wise, all-power, and all-good. — (P 369)

स्वीकार नहीं करते। जो विकासवादी ईश्वर के पीछे लाठी लिये फिरते हैं और जिनको इस वर्त्तमान सृष्टि मे दया की एक किरण भी दिखाई नहीं पड़ती उन्हीं के विषय में उक्त महोदय कहते हैं :—

†"इन लेखकों (अर्थात आक्षेप करने वालों) और विकासवादियों ने कभी दुःख की जड़ तक पहुँचने का यत्न नही किया। उन्होंने यह नहीं सोचा कि दुःख विकास के लिये बड़ी आवश्यक वस्तु है और प्राणिवर्ग मे दुःख के उत्पन्न करने का एक विशेष-प्रयोजन है। वस्तुतः दुःख उसी परिमाण मे पाया जाता है जिसमे उसका उपयोग है" (जीवन-जगत् पृ० ३७२)

इसके पश्चात् वह लिखते हैं:—

‡"डार्विन ने एक नियम पर बड़ा बल दिया है। वह यह है कि कोई इन्द्रिय, शक्ति या वेदना किसी प्राणी मे उस समय तक नही उत्पन्न होती जब तक उसका उसकी जाति के लिये उपयोग न हो। इस लिये प्रत्येक प्राणि वर्ग मे दुःख भी उतना ही उत्पन्न हुआ होगा जितनी उसके लिये आवश्यकता है। उससे अधिक कदापि नही।" (जीवन-जगत पृ० ३७९)

---

†None of these writers, however, nor, so far as I know, any evolutionist, has ever gone to the root of the problem, by considering the very existence of pain as being one of the essential factors in evolution, as having been developed in the animal world for a purpose as being strictly subordinated to the law of utility, and therefore never developed beyond what was actually needed for the preservation of life, (P. 372)

‡"One of these principles, much insisted on by Darwin, is, that no organ, faculty, or sensation can have arisen in animal except through its utility to the species The sensation of pain has been thus developed, and must therefore be proportionate in each species to its needs, not beyond those needs." (P. 379.)

इसी विषय को फ़िज़रएट महोदय इस प्रकार लिखते हैं:—

†"दुःख परिश्रम के लिये प्रेरणा करता है और परिश्रम द्वारा ही हमारी शक्तियाँ नियमित तथा विकसित हो सकती हैं। इच्छा आवश्यकता का अनुभव कराती है। आवश्यकता का अनुभव ही दुःख है। परन्तु यदि जीवो मे इच्छायें न हो और उन इच्छाओं द्वारा उत्पन्न हुये प्रयत्न न हो तो फिर जीव रहेंगे ही क्या? क्या वह ऐसे ही विशाल और सुन्दर होंगे जैसे अब हैं? यदि खरगोश को भय न हो तो क्या वह इतनी ही तीव्रगामी होगा जैसा अब है? यदि शेर को भूख न लगे तो क्या वह उतना ही बलिष्ट होगा जैसा अब है? यदि मनुष्य को किसी के साथ झगड़ना न पड़े तो क्या वह ऐसा प्रयत्न-शील, ऐसा बुद्धिमान्, ऐसा चतुर और ऐसा शिक्षित होगा जैसा अब है? दु:ख ही प्राणियो की पूर्णता का साधन है। अर्थात् इसका परिणाम अच्छा होता है। इस परिणाम से ही इसकी उपयोगिता स्पष्ट होती है। यह उपयोगिता उस समय भी सिद्ध होती यदि पूर्णता का अन्त आनन्द न होता। मै समझता हूँ कि पूर्णता स्वयं एक उच्चकोटि का साध्य (प्रयोजन) है। और जो दुःख इस

"Pain is a stimulus to exertion, and it is only through exertion that the faculties are disciplined and developed. Every appetite originates in the experience of a want, and the experience of want is a pain : but what would the animals be without their appetites and the activities to which these give rise? Would they be the magnificent and beautiful creatures, so many of them are? If the hare had no fear, would it be as swift as it is? If the lion had no hunger, would it be as strong as it is? If man had nothing with which to struggle, would he be as strong as ingenious, as variously skilled and educated as he is? Pain tends to the perfection of the animals It has, that is to say, a good end . an end whith justifies its use ;

प्रयोजन की सिद्धि करता है वह कभी बुरा नही हो सकता। इस आक्षेप के लिये चिन्ता करना व्यर्थ है। मेरी समझ मे नही आता कि प्राणि-वर्ग के जीवन का आदर्श वह सुअर हो जिसको भली भांति खिलाया पिलाया जाता हो, जिसे कुछ काम न करना पड़ता हो और वध करने के लिये न बनाया गया हो। प्राणि वर्ग की शक्तियो के विकास तथा उनकी प्रकृति की उन्नति के लिये जितन दुःख की आवश्यकता थी उतना ही दिया गया है। जब हम कहते है कि प्राणियों का मुख्य उद्देश्य सुख की प्राप्ति है तो हम ईश्वर के सृष्टि-रचना के प्रयोजन की अवहेलना करते है। यदि दुःख केवल पूर्णता का ही साधन होता और सुख का साधन न होता तो भी यह ईश्वर की परम दया का सूचक होता। परन्तु इससे तो और भी अधिक दया का परिचय मिलता है कि दुःख न केवल पूर्णता का ही साधन है अपितु सुख का भी। जो दुःख प्रयत्न के लिये प्रेरणा करता है और जो दुःख प्रयत्न करने मे होता है यह दोनो ही अन्त मे आनन्द को प्राप्त कराने वाले होते है।

one which would do so even if perfection should not be conducive to happiness Perfection, it seems to me, is a worthy aim in itself, and the pain which naturally tends to it is no real evil, and needs no apolgy. I fail to see that the nearest approximation to the ideal of animal life is the existence of a well-fed hog, which does not need to exert itself, and is not designed for the slaughter Whatever pain is needed to make the animals so exercise their faculties, as to improve and develop their natures, has been wisely and rightly allotted to them We assign a low aim to providence when we affirm that it looks merely to the happiness even of the animals It would be no disproof of benevolence in the creator if pain in the creatures tended simply to perfection and not to happiness, while it must be regarded as a proof

शायद सुख के अनुभव के लिये दुःख का अनुभव आवश्यक है। शायद प्राणियो के शरीर ही ऐसे बने हैं कि यदि वह दुःख का अनुभव न करते तो सुख का अनुभव भी न कर सकते। चाहे यह सत्य हो या नही परन्तु एक बात तो स्पष्ट ही है कि समस्त जीवन-जगत् से वह दुःख परम आनन्द का साधन होता है जो प्राणियों को परिश्रम लिये उत्तेजित करता है। दुःख की उपयोगिता का परिचय इतना छोटे प्राणियो मे नहीं मिलता जितना मनुष्य मे मिलता है। इतना शारीरिक बातो मे नही मिलता जितना मानसिक बातों में मिलता है। यह आत्मा के परिशोधन और शिक्षण मे परम सहायक है। दुःख से हृदय की कठोरता कम हो जाती है, दुःख से अभिमान का दमन होता है, दुःख से साहस और धैर्य बढ़ता है, दुःख से सहानुभूति का अभिवृद्धि होता है दुःख से धर्म के लिये श्रद्धा उत्पन्न होती है।

---

of His benevolence if the means which lead to perfection lead also to happiness And this they do. The pain which gives rise to exertion and the pain which is involved in exertion are, as a rule, amply rewarded even with pleasure, Perhaps susceptibility to pain is necessary condition of susceptibility to pleasure, perhaps the bodily organism could not be capable of pleasure and insensible to pain, but whether this be the case or not, it is a plain and certain matter of fact that the activities which pain originates are the chief sources of enjoymont throughout the animal creation The perfecting power of suffering is seen in its highest form not in the brute, but in man; not in its effects on the body, but in its influence on the mind. It is of incalculable use in correcting and disciplining the spirit. It serves to soften the hard of heart, to subdue the proud, to produce fortitude and patience, to expand the sympathies, to exercise the religious affections, to refine.

सारांश यह है कि इससे सम्पूर्ण मानवी प्रकृति परिशोधित, सुदृढ़ तथा उच्च हो जाती है। शुद्ध स्वर्ण तभी होगा जब दुःख की भट्टी मे से होकर निकले। और जिस किसी ने दु.ख का ठीक ठीक सहन किया है उसको कभी यह शिकायत नहीं हुई कि मुझे आवश्यकता से अधिक दुःख सहना पड़ा। इसके विरुद्ध मनुष्य जाति के रत्नो ने अपने जीवन के अनुभव से यही सीखा है कि दुःख बुरा नहीं है किन्तु दुःख भाग्य से ही मिलता है। अमर यश की प्राप्ति का एक मात्र साधन यही है कि दु.खो के पवित्र तथा उन्नत करने वाले प्रभावो से लाभ उठाता हुआ मनुष्य उनमे से निकलने का प्रयत्न करे"। (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ०२४७-२५०)

अब तक हमने उन दुःखो का वर्णन किया है जो भूख प्यास आदि इच्छाओं के रूप मे हमारी आवश्यकताओं की सूचना देते हैं। यह वस्तुतः दुख नही हैं किन्तु कर्म परायणता के लिये प्रेरणा मात्र हैं। परन्तु बहुत से दुख ऐसे हैं जिनको हम इस कक्षा मे नहीं रख सकते। वह प्राणियो का सर्वनाश करके ही जाते हैं। मृत्यु उनका एक छोटा सा रूप है। उनके कारण मनुष्य अपने कर्त्तव्यों से भी च्युत हो जाता है, उसका साहस टूट जाता है और वह निराशा तथा आलस्य का जीवन व्यतीत करने लगता है। समस्त

---

strengthen, and elevate the entire disposition. To come out pure gold, the character must pass through the furnace of affliction And no one who has borne suffering aright has ever complained that he had been called on to endure too much of it On the contrary, all the noblest of our race have learned from experience to count suffering not an evil but a privilege, and to rejoice in it as working out in them, through its purifying power an eternal weight of glory."

(Flint's Theism p. 247—250).

तापो या दु.खों के भारतवासियों ने तीन विभाग किये हैं—(१) आध्यात्मिक अर्थात् जो अपने ही मन या शरीर से उठते हैं जैसे सहस्रों प्रकार की घोर पीड़ायें या रोग जो मनुष्य को कुछ करने नहीं देते, अनेक प्रकार के भयानक ज्वर, अन्धापन, बहरापन, तथा अन्य कष्ट। सैकड़ों प्रकार के मानसिक रोग जैसे ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध आदि (२) आधिभौतिक जो एक प्राणी को दूसरे प्राणियों से होते हैं (३) आधिदैविक जो प्रकृति की अन्य शक्तियों द्वारा पहुँचते हैं।

पहले प्रकार के बहुत से मानसिक और कुछ शारीरिक दु:खो को हम प्रयत्न-प्रेरक समझ सकते हैं। परन्तु शरीर के अनेक रोग और दूसरी तथा तीसरी कोटि के दु:ख इतने भयानक हैं कि इनका उपयोग समझ मे नही आता और एक बार तो बडे से बड़े आस्तिक और दयालु पुरुष के मुँह से निकल ही जाता है कि यदि ईश्वर है तो बड़ा क्रूर है। छोटे छोटे जन्तुओं से लेकर जन्तुओ के शिरो-मणि मनुष्य-महाशय तक सब एक दूसरे के रक्त के प्यासे दिखाई देते हैं। छोटी मछली बड़ी मछली को खा जाती है, बड़ी को उससे बड़ी हड़प कर जाती है। एक एक ह्वेल के एक समय के भोजन के लिये सैकड़ो छोटी मछलियां अपनी जान से हाथ धो बैठती हैं। एक एक मगर मुंह फाड़ते ही सैकड़ो मछलियो को निगल जाता है। भगत बगला एक पैर से खड़ा हुआ मछली प्राप्ति के लिये ही गायत्री जपता रहता है। फिर मनुष्य महाशय क्या कुछ कम हैं? यदि एक जङ्गल मे एक दो शेर रोज एक दो जानवरो की आहुति करते हैं तो एक नगर के हजारो मनुष्यों के लिये सैकड़ो बकरियां, भेड़ें, सुअर तथा गायें अपने प्राणों को न्यौछावर कर देती हैं। बिल्ली को चूहे प्राप्त करने या छिपकली को पतगे प्राप्त करने या

चील तथा बाज को छोटी छोटी चिड़ियायें प्राप्त करने में तो देर भी लगती है क्योंकि इनका आहार कुछ निश्चित सा है परन्तु सभ्य और सुशिक्षित गृद्ध राज की तीव्र दृष्टि से चौपायों में खाट और उड़ने वालों में पतङ्ग भी नहीं बचने पाती। बड़ी मछलियों के पञ्जे से छोटी मछलियां बच भी सकती हैं। परन्तु दो पैर और दो हाथ वाले मगर मच्छ जब अपना जाल बिछाते हैं तो समुद्र के समुद्र शीघ्र ही खाली कर देते हैं। सभ्य और सुशिक्षित देश के उच्च महानुभावों के नाश्ते के लिये एक एक नगर में ऐसी ऐसी कलें बनाई गई हैं कि सैकड़ों पशुओं के सिर मिनटों में धड़ों से पृथक् कर दिये जाते हैं। सभ्य देशों के होटलों पर दृष्टि तो डालिये। यदि मृत्यु-पीड़ा संसार में सब से बड़ी पीड़ा समझी जा सकती है तो यह होटल प्राणिवर्ग को अधिक से अधिक कष्ट पहुँचाने के सबसे बड़े साधन हैं। यदि प्राणियों के दुःखों का वायु मण्डल पर कोई चिह्न बन सकता है तो कहना चाहिये कि समस्त भूमण्डल का वायुमण्डल क्रन्दन और चीख पुकार से भरा हुआ है। होटलों में जाइये, अस्पतालों की सैर कीजिये, कालिजों की ओर दृष्टि डालिये, ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य दूसरे प्राणियों को प्राणी ही नहीं समझता, जिसको चाहा काट डाला, जिसके चाहा छुरी घुसेड़ दी, जिसको चाहा अधमुआ करके तड़पते छोड़ा।

आधिदैविक ताप भी आधिभौतिक तापों से कुछ कम नहीं हैं। वर्षा आती है तो एक ही मेह में सैकड़ों प्राणी मर जाते हैं। एक बाढ़ आई तो सहस्रों की जान ले गई। एक भूकम्प आया तो नगर के नगर उजड़ गये। एक ज्वालामुखी मचल गया तो गाँव के गाँव तबाह कर गया। समुद्र की एक लहर उठी तो उसने जहाज़ों के टुकड़े कर डाले। मृत्यु देव चील और कौओं की तरह हमारे सिरों पर मंडलाते ही रहते हैं। इनकी एक सेना हो तो उसका सामना

किया जाय। कहीं यह सूखा के रूप में आ विराजते हैं, कहीं ताऊन और हैजा का वेष रखकर आ धमकाते हैं। कहीं बिजली के रूप में आ चमकते हैं और कहीं सुषुप्ति रोग (Sleeping disease) का बाना रखकर ऐसे दबे पांव आते हैं कि सोने वाले को कराहने का अवसर भी नहीं देते।

"इतने दुःख होते हुये भी आस्तिकों का क्या अधिकार है कि 'दयालु ईश्वर' की दयालुता की दुन्दुभि बजाते रहें? यदि 'दयालुता' इसी का नाम है तो क्रूरता का क्या अर्थ होगा? शायद इसी विचार से नास्तिक कहता है कि "या तो ईश्वर दुःख निवारण करना चाहता है परन्तु कर नहीं पाता इसलिये निर्बल ठहरता है, या दुःख निवारण कर तो सकता है पर चाहता नहीं इसलिये क्रूर ठहरता है, या न निवारण करना चाहता है न कर सकता है अतः क्रूर और निर्बल दोनों है या निवारण करने से योग्य भी है और इच्छुक भी है फिर भी दुःख बना रहता है।"

हमसे पूछिये तो ईश्वर न निर्बल है न क्रूर। वह चाहता भी है कि दुःख न रहे और उसको निवारण कर भी सकता है। परन्तु जैसा हमने 'पाप' के विषय में कहा वह यह नहीं कर सकता कि जीवों की स्वतन्त्रता छीन ले और न ऐसा करना जीवों के लिये कल्याणकारक ही है।

यदि एक प्रकार के दुःख प्राणियों को परिश्रम के लिये प्रेरणा करके उनकी उन्नति का कारण होते हैं तो दूसरे प्रकार के अनेकों दुःख उनको पाप के लिये दण्ड देते हैं। शोक तो यह है कि जिस प्रकार हम दुःखों पर विचार करते हैं उस प्रकार सुखों पर नहीं करते। जिन्होंने निष्पक्ष होकर विचार किया है उनको संसार में दुःख के स्थान में सुख का ही राज प्रतीत होता है। स्वामी दयानन्द सत्यार्थ-प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखते हैं—

"जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं" (सत्यार्थ प्रकाश, अठारहवाँ बार, पृ० २१४)

मनुष्य दुःखों के लिये जितना ईश्वर को दोष देता है उतना सुखों के लिये उसका कृतज्ञ नहीं होता। यह मनुष्य की भूल है। यदि वह अपने जीवन के साधनों पर विचार करे तो उसे ईश्वर का कृतज्ञ ही होना चाहिये। हम शरीर के रोगों के लिये तो ईश्वर को उलहना देते हैं परन्तु क्या कभी यह भी सोचा है कि जो कुछ आनन्द हम संसार में भोगते हैं वह ईश्वर के ही दिये हुये हैं। यह आंखें हमारे लिये कितनी सुखदायी हैं इसका हाल तो किसी अन्धे से ही पूछना चाहिये। मनुष्य को आनन्द के साधनों की बहुमूल्यता उस समय प्रतीत होती है जब वह उन साधनों से वंचित कर दिया जाता है। साधारणतया तो वह सृष्टि के आनन्द में इतना मग्न होता है कि स्वयं आपको और अपने कर्त्तव्यों को भी भूल जाता है। आंख से कैसे उत्तम उत्तम रूप दिखाई पड़ते हैं? पहाड़ और नदियों के दृश्य, आकाश का अनेक रङ्गों वाला स्वरूप, वृक्ष तथा पुष्पों का अपार सौन्दर्य्य, पुष्पों पर रङ्ग बिरङ्गी तितलियों की आनन्ददायक मूर्त्तियां, यह सब कैसे सुख कर होतीं यदि ईश्वर आंख न बनाता? जीभ से क्या क्या अच्छा स्वाद चखते हैं? क्या यह जीभ मैंने बनाई है? क्या हमको और चखने के पदार्थों को ईश्वर ने ही नहीं बनाया? क्या यह सब हमको आनन्द नहीं देतीं कानों से भी तो पूछो? वह क्या कहते हैं? क्या बहरा और कानों वाला दोनों एक से हैं? क्या कान आनन्द का साधन नहीं है? मनोहर राग और चित्ताकर्षक बाजे, यह सुरीले शब्द कैसे सुनाई देते यदि कान न होते? मनुष्यों ने कानों के लिये जो अनेक साधन

इकट्ठे किये हैं वह सब ईश्वर की ही तो कृपा है। यह उसी सृष्टि का अंश है जिसे लोग दु:खमय बताते है। फिर यह तो सोचो कि ससार मे दुख की मात्रा कितनी है? किसी दु:खी से दु:खी पुरुष का उदाहरण लो, और उसके चौवीस घण्टो का हिसाब लगाओ। क्या उसके बारह से अधिक घण्टे दुख मे व्यतीत होते हैं? कल्पना करो कि वह ३० वर्ष का होकर मरा? क्या उसका १५ वर्ष से अधिक दु:ख मे व्यतीत हुआ? कदापि नहीं। दु:ख होता अवश्य है परन्तु उसकी मात्रा उतनी ही होती है जितनी दाल मे नमक। और यह दु:ख उन पापो का दण्ड मात्र होता है जो उसने इससे पूर्वजन्म मे किये होते हैं यदि यह दण्ड न हो तो जीव मे जो कुसस्कार या अशुद्धि आ जाती है उसका भी निवारण न हो सके। बहुत से दु:खों का उपयोग तो हमको इसलिये नही मालूम होता कि हम इस छोटे से जीवन को ही जीवन समझ लेते हैं। वस्तुत: यह हमारे अनादि और अनन्त जीवन का एक छोटा सा अश है। जो लोग पुनर्जन्म को नही मानते उनके लिये यह जटिल समस्या है। फ्लिण्ट महाशय ने इसीलिये पशु पक्षियो के दु:खो और उनके पापो मे किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं ढूंढ पाया। वह लिखते हैं:—

‡"मनुष्य के दु:खो की अपेक्षा पशु पक्षियों के दु:ख अधिक अनिर्वचनीय हैं, क्योकि मनुष्यो के दु:खो का तो पाप से कुछ सम्बन्ध भी है परन्तु पशु-पक्षियो के दु:खो का नही। और दु:ख प्रत्येक प्राणी को होता है" (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० २४६)

---

‡"The suffering of the animals is, in fact, more mysterious than the suffering of man, just because so little of the former and so much of the latter can be traced, directly or indirectly, to sin. But every animal is made subject to suffering."
(Flint's Theism p 246)

इस प्रश्न का फ्लिण्ट के पास कुछ उत्तर नहीं है। वह हताश होकर कहते हैं :—

*"मनुष्य का मस्तिष्क शायद इस प्रश्न का पूरा उत्तर दे ही नहीं सकता।" (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० २४६)

नास्तिक लोग शायद इसको अपनी सब से बड़ी विजय समझेंगे और वस्तुत. यदि फ्लिण्ट महोदय का आस्तिकत्व ही सच्चा आस्तिकत्व होता तो अवश्य इस प्रश्न का उत्तर देना असम्भव था। उन्होंने आगे चलकर पशुओं आदि के दुःखों की जो उपयोगिता दिखलाई है अर्थात् संरक्षण (Preservative use) वह केवल उसी कोटि के दुःखों के विषय मे हो सकती है, जिनको हमने आवश्यकताओं के नाम से पुकारा है। अर्थात् भूख, प्यास, भय आदि जो उन्नति करने और आत्म रक्षा मे उपयोगी होते हैं। परन्तु इनसे भी घोर तर अत्याचार जिनका उन पशु-पक्षियों के जीवन मे कोई उपयोग ही नहीं है इस प्रकार समझाये नहीं जा सकते।

आल्फ्रेड रसेल वालेस (Alfred Russel Wallace) ने इस दुःख की इस प्रकार मीमांसा की है :—

"इस प्रकार हम देखते हैं कि समस्त जीवन जगत् का प्रबन्ध यह है कि छोटे जन्तु बड़े जन्तुओं के लिये भोजन पहुँचावें। इस प्रबन्ध का बड़ा आश्चर्यजनक और उत्तम परिणाम यह निकला है

---

*"The human mind may very probably be unable fully to answer this question."
(Flint's Theism p 246)

‡We find, then, that the whole system of life development is that of the lower providing food for the higher in ever expanding circles of organic existence That system has succeeded morvellously, even, gloriously, in as much as it has prduced,

कि इससे एक ऐसी उच्चतम जाति "मनुष्य" की उत्पत्ति हो गई जो जीवन-जगत के भांति भांति के सौन्दर्य्य का अनुभव कर सकता है और भिन्न भिन्न प्रकार की उत्पत्तियों का प्रयोग कर सकता है"।

(जीवन जगत पृ० ३७३)

वालेस महाशय सृष्टि को दुःख दायिनी या क्रूर तो नहीं मानते परन्तु उनका मत है कि छोटे छोटे प्राणियों को दुःख पहुँचाने का प्रयोजन यह है कि मनुष्य का विकास हो। उनके विचार से सृष्टि का एक उद्देश्य मनुष्य की उत्पत्ति है। यह संसार भर को मनुष्य के भोग के लिये मानते हैं। भोग के लिये न सही तो विकास के लिये। परन्तु बात एक ही है। अर्थात् "मनुष्य" ही सृष्टि रचना का अन्तिम प्रयोजन है।

परन्तु वालेस महाशय का वह कथन अंधेरे की अटकल (groping in the dark) के समान है। उन्होंने एक पुस्तक और लिखी है जिसका नाम है "मैन्स प्लेस इन दी यूनीवर्स" (Man's place in the Universe) अर्थात् "मनुष्य का सृष्टि मे स्थान।" इसमें भी उन्होंने यही दिखाने का यत्न किया है कि "मनुष्य" के लिये ही समस्त सृष्टि की रचना की गई है।" दी वार्ल्ड आफ़ लाइफ या "जीवन जगत्" की भूमिका मे वह लिखते है :—

*"विकास का विचित्र और दुर्ज्ञेय घटनाओं का एक ही

---

as its final outcome, man, the one being who can appreciate the infinite variety and beauty of the life-world, the one being who can utilize in any adequate manner the myriad products of its mechanics and its chemistry.

(The World of Life p, 373).

*"This purpose, which alone throws light on many of the mysteries of its mode of evolution, I

प्रयोजन है अर्थात् मनुष्य का विकास। क्योंकि समस्त जीवन जगत् का बहुमूल्य रत्न मनुष्य ही है।"

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य सृष्टि भर में उच्चतम प्राणी है। कम से कम मनुष्यो का तो ऐसा ही मत है। पशु-पक्षियो का क्या मत है यह जानना कठिन है और न मनुष्य को यह जानने की चिन्ता ही है। परन्तु सत्य यह है कि यदि पशु-पक्षियो से हम पूछ सकते तो वह हमको यही बताते कि जो मनुष्य उनको खा जाता है या जिस मनुष्य के विकास के लिये इतने प्राणियो की हत्या करनी पड़ती है वह कभी सृष्टि का उच्चतम और बहुमूल्य रत्न नही हो सकता। बगाल के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक बंकिम चद्र ने अपने एक उपन्यास मे शेरो की एक सभा का वर्णन किया है जिसमे एक शेर ने व्याख्यान देते हुये "मनुष्य" को अति तुच्छ, भीरु और चालाक तथा सृष्टि के क्षुद्रतम प्राणियों मे बताया है। शेर तो यह भी कह सकता है कि जिस प्रकार बकरी सुअर आदि को मनुष्य अपने खाने के लिये उत्पन्न हुआ बताते हैं उसी प्रकार मनुष्य भी शेरो के खाने के लिये बनाया गया है।

यदि हम शेरो या अन्य प्राणियो की साक्षी न भी लें और वालेस महाशय के इस विचार से सहमत हो जायं कि मनुष्य सृष्टि का उच्चतम रत्न है तो भी हम यह नही मान सकते कि समस्त सृष्टि रचना का एक मात्र प्रयोजन मनुष्य है और मनुष्य-रचना का कोई अन्य प्रयोजन नही।

वालेस महाशय ने अपने जीवन-जगत मे एक अध्याय लिखा है जिसका शीर्षक है 'Is nature cruel ?" "क्या सृष्टि निर्दयी है ?" इसकी बहुत सी बातो से हम सहमत है और इनका आगे

---

hold to be the development of man, the one crowning product of the whole cosmic process of life-development." (p. vii)

उल्लेख भी करेंगे। इसमे उन्होंने यह दिखाने का यत्न किया है कि सृष्टि इतनी निर्दयी नहीं है जितनी समझी जाती है। वस्तुतः यह ठीक भी है। परन्तु यदि प्राणियो को विना किसी अपराध के केवल 'मनुष्य' के विकास के लिये कुछ भी पीड़ा दी जाती है तो सृष्टि की निर्दयता मे सन्देह नही रहता। इतना तो हम समझ सकते हैं कि किसी प्राणी को उसी की उन्नति के लिये दुःख देना निर्दयता नहीं है जैसे बहुधा माता अपने पुत्र को उसके भले के लिये मार बैठती है। परन्तु यदि प्राणियो को विना उनके अपने लाभ के दूसरे प्राणियो की उन्नति तथा विकास के लिये दुःख दिया जाय तो इसको हम सदयता न कह कर निर्दयता ही कहेंगे। वालेस महाशय के इस नियम को यदि कहीं मनुष्य समाज की आधार शिला बना लिया जाय जैसा कि पाश्चात्य देशो के बहुत से विद्वानों का मत है तो ऐसा अनाचार उत्पन्न हो जाय कि सृष्टि का समस्त प्रबन्ध अस्त व्यस्त हो जाय। यदि मनुष्य समस्त प्राणियों को अपने भोग या विकास के लिये ही समझता है तो एक सुशिक्षित मनुष्य अन्य मनुष्यों को अपने विकास का साधन मात्र समझ सकता है। बहुत सी जातियो मे तो यह बात प्रायः मान ली गई है कि अन्य जातियाँ उनके विकास और भोग का साधन मात्र है। परन्तु उन जातियो मे भी यह सर्वतंत्र सिद्धान्त नहीं है। हां यदि विकासवाद का अधिक प्रचार हुआ तो यह बात भी अधिक प्रचलित हो जायगी।

वस्तुतः बात यह है कि इस प्रश्न का उत्तर केवल पुनर्जन्म का सिद्धान्त ही दे सकता है। इस सिद्धान्त का कथन है कि प्रत्येक प्राणी अपने पिछले कार्य्यों द्वारा ही दुःख भोगता है। जब हम यह मान लेते है तो किसी प्रकार का दुःख भी सृष्टि की निर्दयता को नही सिद्ध करता। क्योंकि अपराध के लिये दण्ड देना न्याय

और दया का सूचक है अन्याय या निर्दयता का नहीं।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि ईश्वर प्राणियों को इस प्रकार दण्ड क्यों देता है जिससे उनको इतना कष्ट हो? सभ्य जातियों की दण्ड प्रथा का मूलाधार यह नियम है कि दण्ड सुधार के लिये दिया जाय न कि घृणा या बदले के लिये। हम कहते हैं कि सृष्टि का भी यह नियम है वस्तुत: सभ्य जगत् ने नियम सीखा भी जगत् से ही है। जिन जातियों ने सृष्टि का ठीक ठीक निरीक्षण नहीं किया था उनमें दण्ड देने के लिये भयानक प्रथायें थीं। परन्तु शिक्षित जातियों को भली भांति ज्ञात हो गया कि सृष्टि का नियम उनको सहृदय होने के लिये उपदेश करता है। अथर्ववेद का एक मंत्र कहता है।

सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं करोमि वः।
अन्योऽन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या

अर्थात् हे मनुष्यो! मैंने तुमको सहृदय और बुद्धिमान् तथा द्वेष रहित बनाया है। तुम एक दूसरे के साथ इस प्रकार बर्त्ताव करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चे के साथ करती है।

वस्तुत: सृष्टि में भी यही नियम है। प्राणियों को दण्ड मिलता है परन्तु निर्दयता के साथ नहीं। दया से और सुधार के लिये। वस्तुत. यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो कोई नर्म से नर्म दिल राजा भी अपने अपराधियों को इतनी दया के साथ दण्ड नहीं दे सकता जितना सृष्टि अपने अपराधियों को देती है। कोई कोमल से कोमल हृदय वाली माता भी अपने प्रिय से प्रिय पुत्र को उसके सुधार को दृष्टि में रखती हुई ऐसी दयालुता से दण्ड नहीं देती जैसी दयालुता से ईश्वर अपने नियम तोड़ने वालों को दण्ड देता है। भेद केवल इतना है कि जिस प्रकार मोह में फँसी हुई मूर्ख मातायें

अपनी सन्तान को कुपथ मे चलने का साहस दे बैठती है ईश्वर उस प्रकार नही करता। यह ईश्वर का सच्चा प्रेम है जो उसे हमको सुधारने तथा दण्ड देने के लिये बाधित करता है। उसके जितने नियम हैं वे सब हम जीवो की भलाई के लिये हैं अपने लिये कुछ नही। इसलिये जो लोग सृष्टि पर क्रूरता का दोष लगाते हैं वह केवल एक अंश पर ही विचार करते हैं। उनकी दृष्टि सृष्टि के सभी अङ्गो पर नही जाती।

हम कहते हैं कि ईश्वर क्रूर नही किन्तु दयालु है। कैसे ? प्रथम तो दण्ड की प्रथा को लीजिये। जीव पाप करते है। नित्य सृष्टि के नियमों का उल्लङ्घन करते हैं। इससे इनमे आलस्य प्रमाद और अभिमान बढ़ता जाता है। इनका ज्ञान कम होता जाता है। और इनमे दूसरे जीवो को सताने की प्रवृति बढ़ती जाती है। जब सृष्टि के समस्त नियम जीवो के कल्याण के लिये है तो इनका तोड़ना उनके दु:ख का साधन होगा। यही पाप है। तभी तो कहा है कि "अहिसा परमोधर्म.।" केवल दूसरो को मार डालना ही हिसा नही है, सृष्टि के नियमो का उल्लङ्घन करना भी बहुत बड़ी हिंसा है क्योंकि इस उलङ्घन का अन्तिम फल जीवों का दु.ख ही होगा। इसलिये सृष्टि का एक नियम यह भी है कि जो जीव सृष्टि के नियमो का उल्लङ्घन करे उसको दण्ड मिलना चाहिये।

अब देखिये कि सृष्टि मे दण्ड के लिये कैसे उत्तम नियम है ? जो लोग पुनर्जन्म को नही मानते वह इस रहस्य को समझ ही नही सकते। उनको पग पग पर ठोकरें खानी पड़ती है। उनकी समझ मे ही नही आ सकता कि एक छोटे से जीवन मे मनुष्य अपने अन्तिम उद्देश्य की कैसे पूर्ति कर सकता है ? वह जान ही नही सकते कि सृष्टि एक बहुत बड़ी पाठशाला के ही समान है जिसमे जीव को शिक्षा देने के लिये भिन्न भिन्न श्रेणियाँ हैं। वस्तुत:

लाखों प्रकार की योनियां जो ससार मे देखी जाती हैं वह इस पाठ-शाला की कक्षायें है और इनको इस प्रकार से रचा गया है कि प्रत्येक जीव चाहे वह अधम से अधम या उच्च से उच्च क्यों न हो किसी न किसी श्रेणी के अवश्य योग्य हो सके। सृष्टि अपने किसी विद्यार्थी को इस शाला से बहिष्कृत नहीं करती और न अयोग्य विद्यार्थियो को एक ही कक्षा मे रखती है। जिस प्रकार हमारे स्कूलों मे बुरे और भले दोनो प्रकार के विद्यार्थी मिल कर एक दूसरे को हानि पहुँचाते है, यदि बुरो के अनुकूल पाठ दिया जाता है तो भलों का समय नष्ट होता है, यदि भलो के अनुकूल पाठ पढ़ाया जाता है तो बुरे समझते नहीं, इस प्रकार की अवस्था सृष्टि मे नहीं है। प्रत्येक योग्यता के जीव के लिये एक श्रेणी है, इन्हीं का नाम योनियां हैं। हिन्दुओं मे तो चौरासी लाख योनियाँ बताई जाती हैं। वालेस ने "जीवन जगत्" के ९२ वें पृष्ठ पर ए० ई० शिपले (A. E Shipley) एफ० आर० एस० के एक व्याख्यान के आधार पर जो उन्होने १९०९ ई० मे दिया था जीवित प्राणियो की ७ लाख ९० हजार ५ सौ ३३ श्रेणियाँ गिनाई हैं। हम पाठको के मनोविनोदार्थ उनको यहां दिये देते हैं:—

Mammalia (दूध पिलाने वाले जन्तु)	९९५५
Birds (पक्षी)	१३८३५
Reptiles, Batrachia (रेंगनेवाले)	७१८०
Fishes (मछलियां)	१४९९६
Mollusca (मोलस्का)	६२०००
Biyazoa (ब्रियोजोआ)	२२२
Crustacea (क्रस्टेशिया)	१३९५२
Spiders (छिपकलियां आदि)	२५८७०
Myriapods (बहु-पद)	८७२५

Insects (मकोड़े)	४४५९७८
Echins-derms (कठोर त्वक्)	१५०९७
Worms (कीट)	८७१६
Coelenterata (सीलेंटरटा)	५००८
Sponges (स्पंज)	२९६५
Protozoa (प्रोटोजोआ)	६०००
योग	७९०५३३❀

यह सूची भी ठीक नही है। गूंथर (Gunther) महाशय ने १८८१ ई० में इनकी संख्या ३ लाख ११ हज़ार ६ सौ ५० ही बताई थीं २८ वर्ष में पता चला कि यह आधे से भी कम थी। इस पर भी मिस्टर डी शार्प (Mr D. Sharp) का मत है कि इंसेक्ट (मकोड़े) जिनकी संख्या शिपले ने साढ़े चार लाख के लगभग बताई है कम से कम इससे पञ्चगुनी अर्थात् बीस लाख से भी अधिक होगी। गूंथर ने दूध पिलाने वालों की संख्या २३०० लिखी थी। शिपले ९९५५ अर्थात् चौगुनी बताते हैं।‡ यदि इसी प्रकार अन्य अन्वेषण किया जाय तो ८४ लाख तक पहुँचना कोई कठिन बात नही है। परन्तु यदि ऐसा न भी हो और योनियो की

❀ ऊपर की सूची में कोई जाति रह गई है। क्योंकि इन सब का जोड़ ६,४१,५०० आता है। वालेस ने ७९०५३३ दिया है।

‡ भारतवासियों ने ८४ लाख संख्या का कहा से और किस प्रकार पता लगाया इसका हमको इस समय ज्ञान नहो है। न हम यही कह सकते हैं कि उनके किस प्राचीन ग्रन्थ में यह संख्या गिनाई गई है। परन्तु आजकल के जन्तु शास्त्रज्ञों के हिसाब पर विचार करने से ८४ लाख बिलकुल गप्प नही मालूम होती। न जाने कितनी योनिया नष्ट हो गईं या पृथ्वी के भीतर छिपी पडी हैं अथवा वायु मण्डल में विचरती हैं। सम्भव है कुछ जातिया अति सूक्ष्म हों।

संख्या ६३ लाख भी मान ली जाय तो भी हमारे सामयिक प्रयोजन के लिये पर्य्याप्त है। फिर यह श्रेणियां समस्त सृष्टि की नहीं हैं। केवल पृथ्वी के ऊपर की हैं। पृथ्वी सौर्य्य मण्डल का एक छोटा सा अंश है इसके अतिरिक्त अन्य भी सौर्य्य मण्डल हैं जिन सब का हिसाब लगाना मनुष्य की शक्ति से बाहर है।

यह लाखों योनियाँ लाखों श्रेणियाँ हैं जिनमे जीव शिक्षा पाते हैं। सृष्टि का ऐसा अच्छा प्रबन्ध है कि जब तक जीव एक विशेष श्रेणी के योग्य रहता है उस समय तक वह उसमें रहने पाता है। ज्यों ही अपनी उन्नति या अवनति के कारण उसके अयोग्य हुआ, उसको वहा से निकाल कर दूसरी श्रेणी मे भेज दिया जाता है। यह कक्षा-परिवर्तन ऐसे चातुर्य से होता है कि जीव को मालूम भी नहीं होता कि मै कहाँ से कहाँ आ गया? पहले कहाँ था? कौन मेरे मित्र थे? किस प्रकार रहता था? इत्यादि इत्यादि। यदि कहीं उसको मालूम हो जाता कि मै अमुक श्रेणी से निकाल कर यहाँ भेजा गया हूँ तो वह नई परिस्थिति से लाभ भी न उठा सकता। पुराने मित्रों की स्मृति उसका पीछा न छोड़ती, पुराने सस्कार जागते रहते और शोक के मारे वह नया पाठ न सीख सकता। बहुत से लोग आक्षेप किया करते हैं कि यदि पुनर्जन्म है तो पिछले जन्म की याद क्यों नहीं रहती। मै कहता हूँ कि यदि याद रहा करे तो जीव के परिशोधन मे कोई सहायता न मिले। मानवी दण्डालयो पर विचार करो। एक व्यभिचारी किसी सती का सतीत्व भङ्ग करता है। उसे जेल में ठूंस देते हैं। राजों के लिये यही सम्भव है। परन्तु उसके पुराने सस्कार उसके मन मे अपना काम करते रहते हैं। इसलिये जेल मे भी वह अपनी पुरानी परिस्थिति को सोचा करता है और कभी कभी जेल से निकलते ही फिर अपने पुराने पापमय व्यापार मे लग जाता है। यदि राजो के लिये यह

सम्भव होता कि वह अपराधियों की स्मृति बदल सकते तो कितना अच्छा होता और उनका सुधार कितनी शीघ्रता से हो सकता ?

यह सब ईश्वर की व्यवस्था मे ही संभव है। और हो रहा है। बहुत से दुःख जो मनुष्य को साधारण दृष्टि से दुःख मालूम होते हैं दु.ख नही हैं। प्रत्येक मृत्यु दुःखदायी नहीं होती। कम से कम मरने वाले को तो होती नही। उसे मालूम भी नही पड़ता और उसकी श्रेणी बदल जाती है। और उसी श्रेणी मे जीव बड़े सन्तोष के साथ नया पाठ सीखने लगता है। इन श्रेणियो मे दो काम होते हैं—पुराने संस्कारो को धोना और नये संस्कार उत्पन्न करना। इस प्रकार यह श्रेणियां एक प्रकार का साबुन हैं जिसके द्वारा पुराने कुसस्कार धुल कर जीव फिर नये संस्कारो के योग्य बन जाता है।

दूसरे जीवों के अत्याचारो से बचाने के लिये भी ईश्वर ने पर्य्याप्त सामग्री सम्पादित कर दी है। जन्तु शास्त्रज्ञ बताते हैं कि जीवो के शरीरो का रंग उनकी परिस्थिति के अनुकूल होता है। तोते जिनको बाग़ों मे वृक्षों पर रहना पड़ता है हरे होते हैं और वह पत्तो मे भली भांति छिप जाते है। झाड़ियो का निवासी खरगोश झाड़ियों के इतने समान होता है कि आप चुप चाप बैठे हुये खरगोश को पहचान भी नही सकते। फूलो पर रहने वाली तितलियो को पहचानना तो और भी कठिन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टि ने प्रत्येक प्राणी के बचाने का पर्य्याप्त साधन कर रक्खा है।

‡"इनका प्रबन्ध ऐसी उत्तमता से किया गया है कि वह स्वाभाविक अवस्था मे आकस्मिक दुर्घटनाओ से पीड़ित नही हो

---

‡"These are all so wonderfully adjusted to their environments, that, in a state of nature, they

सकते। चिड़ियों, चूहों, गिलहरी आदि के ऊपर से गिरने में चोट नहीं लगती जैसे हमारे लगती है। उनको अपनी शक्ति से अधिक न चढ़ने, न कूदने और न उड़ने की शिक्षा ऐसी सुगमता से मिल जाती है कि उनको शायद ही कभी कोई हानि पहुँचती है। हां कुछ को बिजली गिरने, ओला पड़ने या जंगल मे दावानल भड़कने या स्वयं लड़ बैठने से कुछ क्षति पहुँचती है परन्तु वह इतनी कम है कि ध्यान देने योग्य नहीं। आपस मे लड़ने मे जो घाव लगते हैं वह बहुत कठोर नहीं होते और इतनी जल्दी अच्छे होते हैं कि जो कुछ कष्ट होता है वह बहुत थोड़ी देर तक रहता है।"

(जीवन जगत् पृ० ३७६)

अब थोड़ा सा उस दुःख पर भी विचार कीजिये जो हिंसक जीवों द्वारा पहुँचता है। जहां भिन्न भिन्न प्राणियों को सुरक्षित परिस्थिति मे रक्खा गया है वहां यह भी प्रबन्ध है कि यदि कोई प्राणी पकड़ कर मार डाला जाय तो मारे जाने मे भी उसे बहुत कष्ट न हो। इस विषय मे भी हम अल्फ्रेड रसेल वालेस की ही साक्षी पर्य्याप्त समझते हैं :—

---

can hardly suffer at all from what we term accidents. Birds, mice, squirrels, and the like, do not get limbs broken by falls, as we do. They learn so quickly and certainly not to go beyond their powers in climbing, jumping, or flying, that they are probably never injured except by rare natural causes, such as lightning, hail, forest fires etc, or by fighting among themselves, and those who are injured without being killed by these various causes form such a minute fraction of the whole as to be reasonably negligible. The wounds received in fighting seem to be rarely serious & the rapidity with which such wounds heal in a state of nature shows that whatever pain exists is not long continued" (The World of Life p. 376).

*"सृष्टि की क्रूरता की शिकायत इन छोटी छोटी बातों के कारण नहीं है। वस्तुत: अधिक शिकायत उन भयानक साधनों की है जो सृष्टि ने अन्यान्य प्राणियों को दे रक्खे हैं। जैसे विडाल वंश के भयानक दांत और पंजे, शिकारी चिड़ियों की नोकदार चोंच और झट पकड़ लेने वाले पंजे, सांपों के विषैले दांत, भिड़ों के डंक इत्यादि इत्यादि। यह कहना कि यह सब साधन दु:ख देने के लिये हैं भ्रममूलक है। वस्तुत: इनका भी उपयोग है। इनसे शिकार को कम कष्ट पहुँचता है। यदि यह न हो तो शिकार घायल होकर छूट जाय। उस दशा मे उसे अधिक दु:ख हो और घायल होने से फिर भी पकड़ा जा सके। नुकीले दांत और कठोर पंजे शिकार को भली भांति पकड़ लेते हैं। सांप के विषैले दांत शिकार को बेहोश कर देते हैं। भिड़ के डंक से शिकार पर मुर्दनी छा जाती हैं और इनसे भिड़ की भी बड़े जन्तुओं के अत्याचारों से रक्षा होती है। जब चिड़ियों को भिड़ो के डंक का अनुभव हो जाता है तो वह फिर इनके खाने की चेष्टा नही करती। शेर, पूमा, जङ्गली बिल्ली

---

*"But it is undoubtedly not these lesser evils that have led to the outcry against the cruelty of nature, but almost wholly what is held to be the widespread existence of elaborate contrivances for shedding blood or causing pain that are seen throughout nature, the vicious looking teeth and claws of the cat-tribe, the hooked beak and prehensile talons of birds of prey, the poison fangs of serpents, the stings of wasps, and many others. The idea that all these weapons exist for the purpose of shedding blood or giving pain is wholly illusory As a matter of fact, their effect is wholly beneficient even to the sufferers, inasmuch as they tend to the diminution of pain Their actual purpose is always to prevent the escape of captured food... . of a wounded animal, which would,

या भेड़िये के पकड़ने से तो शिकार को बहुत ही कम दुःख होता है। झट से पकड़ लेने, तुरन्त पञ्जे मारने, और साथ ही दांत गड़ा देने से या तो तुरन्त ही मौत आ जाती है या शिकार इतना बेहोश हो जाता है कि उसे मरने में कुछ दुःख प्रतीत नही होता। एक बात और ध्यान मे रक्खी जाय। **मांसाहारी जन्तु केवल भूख लगने पर ही मारते हैं। मनोविनोद के लिये नहीं।** पालतू बिल्लियां और चूहों के जो उदाहरण दिये जाते हैं वे भ्रम मूलक हैं। मनुष्यों का शरीर दुःख को बहुत जल्दी अनुभव करता है। क्योंकि उसकी रक्षा के लिये शरीर पर पट्टियाँ आदि नहीं

---

then, indeed, suffer useless pain, since it would certainly very soon be captured again and be devoured. The canine teeth and retractile claws hold the prey securely, the serpent's fangs paralyse it, and the wasp's sting benumbs the living food stored up for its young, or serves as a protection against being devoured itself by insect eating birds ? which latter, probably, only feel enough pain to warn them against such food in future. The evidence that animals which are devoured by lion or puma, by wolf or wild cat, suffer very little, is, I think conclusive. The suddenness and violence of the seizure, the blow of the paw, the simultaneous deep wounds by teeth and claws, either cause death at once, or so paralyse the nervous system that no pain is felt tilldeath very rapidly follows It must be remembered that in a state of nature the carnivora hunt and kill to satisfy hunger, not for amusement; and all conclusion derived from the house-fed cat and mouse are fallacious. Even in the case of man, with his highly sensitive nervous system, which has been developed on account of his unprotected skin and

होती। फिर भी जिन मनुष्यों को शेर आदि ने पकड़ लिया है और वह बच आये हैं उनका कहना है कि उनको इससे मानसिक या शारीरिक दुःख नही पहुँचा"।

(जीवन जगत पृ० ३७६-७७)

इन सब उदाहरणो से ज्ञात होता है कि सृष्टि के नियम बड़े दयालु है। वह जीव को एक सीमा के बाहर दुःख होने नही देते। यदि अधिक दुःख देने के साधन उपस्थित भी होते हैं तो बेहोशी आ जाती है। इस बेहोशी का उपयोग यही है कि दुःख कम हो। यदि ससार मे सबसे अधिक दुःख देने वाला जन्तु है तो वह मनुष्य ही है। शेर अपने शिकार को झट मार डालता है परन्तु मनुष्य ने ऐसे ऐसे साधन निकाले हैं कि तड़पा तड़पा कर मारता है। इस विषय मे डाक्टर लोग तो अकथनीय अत्याचार करते हैं। हमने ऐसे ऐसे उदाहरणो के चित्र देखे हैं जिनमे शरीर के विशेष अवयवो को अधूरा काट कर छोड़ दिया गया है और भिन्न भिन्न परीक्षायें की जा रही है। जन्तु तड़पे या न तड़पे, उसे दुःख कितना ही क्यों न हो, यह अपने ज्ञान या दूसरे शब्दो मे क्रूरता की भूख बुझाने के लिये उसको अत्यन्त पीड़ा देते रहते हैं। परन्तु इस दशा मे भी परमात्मा इन प्राणियो को किसी न किसी प्रकार सान्त्वना देता ही है और मनुष्यो को उन अत्याचारो के लिये दण्ड !

हमने ऊपर साढ़े छः लाख योनियो का वर्णन किया है। प्रत्येक योनि मे करोड़ों व्यक्ति होते हैं। अकेले मनुष्य की इस भूमण्डल की गणना डेढ़ अरब के लगभग पहुँचती है। एक एक बिल मे लाखो चीटियां होती हैं। इस प्रकार केवल पृथ्वीस्थ प्राणियों की

---

excessive liability to accidental injury, seizure by a lion or tiger is hardly painful or mentally distressing, as justified by those who have been thus seized and have escaped (The World of Life p. 376—77).

संख्या ही इतनी अधिक है कि मनुष्य की गणना मे नही आ सकती। यदि इतनी बड़ी संख्या का बिजली, बाढ़, दावानल आदि प्राकृतिक विपत्ति से मरने वालो की संख्या से तुलना की जाय तो दुःख का परिणाम बहुत ही कम सिद्ध होगा। जिस समय हम प्राणियो के दुःखो की गणना करते है उस समय हम उनके सुखो की संख्या को भूल जाते है। यदि मृत्यु सब से बडा दण्ड है तो वह जीवन मे एक बार से अधिक नही आती। और आती भी है तो भयङ्करता से नही। इसीलिये हमने कहा था कि ईश्वर अपने जीवो को उतना ही दण्ड देता है जितना उनके सुधार के लिये आवश्यक है। सृष्टि के नियम जीवों को न केवल दुःखो से बचने मे ही सहायक होते है किन्तु पापो से भी रोकते हैं।

इसलिये नास्तिको की पाप तथा दुःख सम्बन्धी शङ्का मे कुछ भी सार नही।

आठवां अध्याय

ईश्वर के गुण (३)

अनन्तता

पिछले अध्यायों में यह दिखाया गया है कि ईश्वर एक है, सर्वव्यापक है, चेतन है, सर्वशक्तिमान् है और इसके साथ साथ भला और दयालु भी है। कम से कम हमारी सृष्टि तथा हमारा अन्तरात्मा दोनो इसके साक्षी हैं।

परन्तु आस्तिक लोग ईश्वर मे एक और गुण मानते हैं अर्थात् अनन्तता।

प्रश्न यह है कि यह अनन्तता केवल चतुर मनुष्यों के मस्तिष्कों की उपज है या इसके लिए कुछ युक्ति भी है।

सब से बड़ा आक्षेप यह है कि मनुष्य सान्त है उसका मस्तिष्क भी सान्त ही है। फिर सान्त मनुष्य ईश्वर की अनन्तता को कैसे जान सकता है?

जानने के लिये दो बातें होती हैं एक तो किसी वस्तु को तर्क द्वारा सिद्ध करना और दूसरा मन द्वारा अनुभव करना। पहली बात तर्क-शास्त्र (Logic) से सम्बन्ध रखती है और दूसरी मनोविज्ञान (Psychology) से। यह दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध तो नही जाते क्योंकि तर्कशास्त्र का मूलाधार भी मनोविज्ञान ही है और होना चाहिये। परन्तु ऐसा बहुधा होता है कि मनुष्य किसी वस्तु का मन द्वारा अनुभव तो कर सके परन्तु तर्क द्वारा सिद्ध न कर सके। या तर्क द्वारा सिद्ध कर सके परन्तु उसके मन

को शान्ति न हो। जिस बात को अनुभव और तर्क दोनो पुष्ट करते हैं उस पर मनुष्य का दृढ़ विश्वास हो जाता है।

हम यहा "अनन्तता" के भाव की मीमांसा करते है। प्रश्न यह उठाया गया है कि 'अनन्तता' के भाव मे क्या आपत्ति है जो वह सान्त मस्तिष्क मे न आ सके? इसमे तो कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य का मस्तिष्क सान्त है। इसकी सीमा का सभी अनुभव करते हैं। जो अद्वैतवादी वेदान्ती लोग मनुष्य के मस्तिष्क (अर्थात् जीव) को ब्रह्म ही मानते है वह तो कह देंगे कि जो व्यवहार मे अल्प प्रतीत होता है वह तत्त्वत: अनन्त है। इसलिये अनन्त को अनन्तता का अनुभव करने मे कुछ कठिनाई नही होती। परन्तु जीव को ब्रह्म मानने मे इतनी आपत्तियां है कि हम उन लोगो से सहमत नहीं हो सकते और न अन्य सभी लोग उनका अनुकरण कर सकते हैं। इसलिये इस प्रश्न का उत्तर जीव की अल्पता को मान कर ही देना होगा।

वस्तुत: अनन्तता का भाव निषेधात्मक है। अर्थात् हम उस वस्तु को अनन्त कहते हैं जिसके अन्त का या तो हम अनुभव नही कर सकते या तर्क से सिद्ध नही कर सकते। यह दोनो बातें सान्त मस्तिष्क के लिये किसी प्रकार असम्भव नही हैं। हम नित्य ससार मे अन्त वाली वस्तुयें देखा करते हैं। कोई देश की अपेक्षा से परिमित हैं। कोई काल की अपेक्षा से। कोई दोनो की अपेक्षा से। जिस कलम से मै लिखता हूँ वह एक छोटी से वस्तु है। उसके किनारे हैं, उसमे लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई है। इसलिये देश की अपेक्षा वह अन्त वाली है। वह सान्त प्रदेश को घेरे हुये है। यह कलम अनादि नहीं है। इसको किसी ने बनाया था। इसको मै अभी तोड़ कर जला सकता हूँ। फिर वह क़लम नही रहेगी। इस प्रकार काल की अपेक्षा से भी यह सान्त है। मुझे क़लम की

सान्तता का अनुभव है। मेरे मस्तिष्क ने भली प्रकार जान लिया है कि कलम सान्त वस्तु है। कुछ वस्तुयें ऐसी हैं जो कलम से तो बड़ी है परन्तु फिर भी उनका अन्त है जैसे पहाड़। मै पहाड़ की ओर देखता हूँ। मुझे उसकी चोटी दिखाई पड़ती है। मै समझता हूँ कि यह चोटी ही पहाड़ का अन्त है। काल की अपेक्षा से भी मुझे अनुभव होता है कि यह पहाड़ कभी न कभी बना है। तर्क-शास्त्र भी यही कहता है कि इस पहाड़ का कभी न कभी अन्त होगा। इस प्रकार पहाड़ की सान्तता का भी मुझे ज्ञान है। परन्तु जब कलम मेरे सामने आती है तो उसकी सान्तता मुझे प्रत्यक्ष होती है। पहाड़ के सम्मुख खड़ा होकर जब देखता हूँ तो उसकी लम्बाई चौड़ाई का अन्त भी नही दिखाई देता। उस समय मेरे मन मे यह भाव उत्पन्न होता है कि यद्यपि पहाड़ सान्त है तो भी देखने मे मुझे उसके अन्त का पता नही चलता। यदि मै तर्क न कर सकता तो शायद यह कहने के लिये तैयार हो जाता कि पहाड़ अनन्त है। अब देखना चाहिये कि वह कौन सी बात है जो मुझे पहाड़ को अनन्त कहने के लिये बाधित करता है ? अन्त का न होना या अनुभव न होना ! सान्त मस्तिष्क के लिये यह स्वाभाविक बात है कि वह अन्त का अनुभव न कर सके। जितना सान्त मस्तिष्क होगा उतना ही वह छोटी से छोटी वस्तु के भी अन्त को अनुभव न कर सकेगा। जो बात मुझे पहाड़ के विषय मे प्रतीत होती है वही एक चीटी को मेरे मकान की दीवार के विषय मे प्रतीत होगी। जिस प्रकार हिमालय पहाड़ के तले खड़ा हो कर मै न तो पहाड़ की चोटी देख सकता हूं न उसके सिरे ; इसी प्रकार चीटी को मेरे घर की दीवार के तले खड़ा हो कर उसकी चोटी या सिरो का अनुभव न होगा।

इससे यह सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क की सान्तता अनन्तता के

भाव को समझने मे साधक है बाधक नहीं। बहुत से निषेधात्मक शब्द जिनका हम प्रयोग करते हैं इसी अपेक्षा से प्रयुक्त होते हैं और उनके निर्माण का कारण भी यही भाव है। उदाहरण के लिये हम समुद्र के तट पर खड़े होकर दृष्टि डालते हैं तो हमको पानी ही पानी दिखाई पड़ता है। कहीं उसका अन्त नहीं दीखता तो हम कहने लगते हैं कि अपार समुद्र है। 'अपारता' का अनुभव ही पार के न देखने से होता है। यदि हमारा शरीर इतना बड़ा होता और हमारी दृष्टि इतनी तीव्र होती कि बम्बई के पोत स्थल पर खड़े हो कर हम अफ्रीका का तट देख सकते तो हमारे मन में अरब सागर की अपारता का उसी प्रकार भाव न होता जैसे यमुना के तट पर खड़े होकर उसकी अपारता का भाव नहीं होता। यमुना के दोनो तट दीखते हैं परन्तु समुद्र के नहीं दीखते। इसीलिए एक को अपार कहते हैं। और दूसरे को अपार नहीं।

वस्तुतः जब बच्चा उत्पन्न होता है उसी समय उसकी इच्छा वस्तुओं का पार या अन्त जानने की होती है। जब तक वह किसी चीज का अन्त नहीं जान पाता उस समय तक वह उसको अनन्त ही समझता है। इस प्रकार अनन्तता का भाव स्वभावतः ही हमारे हृदय में होता है। सान्तता ज्ञान के साथ बढ़ती है। इसलिये सान्त मस्तिष्क के लिये अनन्त वस्तु की अनन्तता का अनुभव करना दुष्कर नहीं। हाँ, अनन्त वस्तु को भली प्रकार समझ लेना न केवल दुस्तर ही है किन्तु असम्भव भी। क्योंकि जो वस्तु भली प्रकार समझ मे आ गई वह सान्त हो गई अनन्त कहाँ रही? सैकड़ो सान्त वस्तुयें ऐसी हैं जिन को सान्त मस्तिष्क अनन्त समझ सकता है परन्तु ज्ञान की वृद्धि पर उनको सान्त मानने लगता है। हाँ, जो वस्तु वस्तुतः अनन्त है उसकी अनन्तता ज्ञान के बढ़ने पर और भी अधिक अनुभव होने लगती है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह मान लेने पर भी कि सान्त मस्तिष्क अनन्तता का अनुभव कर सकता है यह कैसे सिद्ध हो कि ईश्वर अनन्त है? जिस प्रकार ज्ञान की वृद्धि पर वह वस्तुयें भी जो पहले अनन्त मानी जाती थीं सान्त सिद्ध हुईं उसी प्रकार क्या यह सम्भव नही है कि जिस ईश्वर को थोड़ा ज्ञान वाले अनन्त समझते हैं उसको ज्ञान बढ़ने पर सान्त मानना पड़ जाय? सम्भव है किसी न किसी दिन हम ईश्वर का भी अन्त पालें, जैसे कई वस्तुओं का पा चुके है।

ईश्वर की अनन्तता के विरुद्ध एक और युक्ति दी जा सकती है। हमने सृष्टि की रचना को देखकर यह पता लगाया कि ईश्वर है। सृष्टि सान्त है। कोई नही कह सकता कि सृष्टि अनन्त है। अतः सृष्टि का रचयिता भी सान्त होना चाहिये। जिसकी क्रिया सान्त है व अनन्त कैसे हो सकता है?

इस आक्षेप का उत्तर स्पष्ट है। जो सान्त सत्ता है वह अनन्त क्रिया उत्पन्न नही कर सकती। जो अनन्त सत्ता है उसके लिये सान्त क्रिया करना दुस्तर या असम्भव नही। क्योंकि सान्तता अनन्तता के अन्तर्गत है।

हम अब ईश्वर की अनन्तता की मीमांसा करते हैं। हम ऊपर कह आये है कि किसी बात के मानने के लिये अनुभव और तर्क दोनो चाहिये। प्रथम तो अनुभव को लीजिये। हम दूसरे अध्याय मे दिखा चुके हैं कि मनुष्य अल्प है। यदि सृष्टिशिरोमणि मनुष्य ही अल्प हुआ तो अन्य प्राणियो की अल्पता मे कोई सन्देह नही रह जाता। हम सृष्टि के जिस पदार्थ को देखते हैं वही पूर्ण-तया हमारी समझ मे नही आता। उसका कोई न कोई अंश अज्ञात अवश्य रह जाता है। इसलिये हम अपने अनुभव से कह सकते हैं कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक घटना मे अनन्त

नियमो का हाथ है। सायंस आरम्भ से आज तक इन्ही नियमों की खोज मे लगी है। जितनी नियमों की खोज होती जाती है उतनी अज्ञात नियमों मे वृद्धि होती जाती है। जितना जितना हम एक विषय का ज्ञान प्राप्त करते जाते हैं उतना ही वह अवश्य अधिक क्लिष्ट होता जाता है। प्याज के छिलको के समान एक के भीतर दूसरा छिलका निकलता आता है। वस्तुतः हम को ऐसा ज्ञान पड़ता है कि हम उस पक्षी के समान हैं जो आकाश की थाह लेने के लिये ऊपर उड़ता है और जितना ऊँचा जाता है उतना ही उसको आकाश की विशालता का अधिक अनुभव होता जाता है। वस्तुतः ईश्वर की सृष्टि सान्त नही किन्तु अनन्त है। देश के विचार से भी और काल की अपेक्षा से भी।

प्रथम काल की अपेक्षा से लीजिये। क्या इस सृष्टि का आदि है? आप कहेंगे कि अवश्य है क्योंकि ईश्वर-सिद्धि का आरम्भ ही हमने इस कल्पना से किया था। इसमे सन्देह नहीं कि जिस सृष्टि को हम इस समय आंखो से देख रहे हैं वह अवश्य सादि है। परन्तु हमारा तात्पर्य स्वरूप से नहो किन्तु प्रवाह से है। हमारे पूछने का तात्पर्य यह है कि क्या इस सृष्टि से पहले कभी सृष्टि न थी और क्या इसके पश्चात् न रहेगी। यदि कहो कि इससे पहले एक और सृष्टि थी या इसके पश्चात् एक और सृष्टि रहेगी तो हम फिर उस सृष्टि के आगे या पीछे के विषय मे प्रश्न करते जायंगे और यदि आप यह उत्तर देते गये कि अमुक सृष्टि से भी पहले सृष्टि थी और अमुक सृष्टि के पश्चात् भी सृष्टि होगी तो हमारा सिद्धान्त ठीक हो जाता है कि सृष्टि का प्रवाह काल की अपेक्षा से अनादि और अनन्त दोनो है। जिस प्रकार दिन के पहले रात और रात के पहले दिन होता है इसी प्रकार बनना और बिगड़ना, जन्म और मृत्यु, रचना और प्रलय सब का प्रवाह चलता रहता

है। इसलिये संस्कृत में इसको संसार चक्र के नाम से पुकारा गया है। जिस प्रकार चक्र अर्थात् पहिये का आदि और अन्त पाना दुस्तर है इसी प्रकार सृष्टि के प्रवाह का भी आदि और अन्त नहीं है।

कुछ मतानुयायी और विशेष कर ईसाई और मुसलमान इस बात को नहीं मानते। मैं समझता हूँ कि इन दो धर्मों का सब से बड़ा दोष यही है कि वह सृष्टि के प्रवाह को अनादि और अनन्त नहीं मानते। यों कहना चाहिये कि इसी दोष ने उनके और कई सिद्धान्तों को अकथनीय अवस्था में छोड़ रक्खा है। एक इस बात के न मानने के कारण वह कई ऐसी बातों को मानने लग गये हैं जिनका उनके पास कोई प्रमाण नहीं। इस दोष ने उनसे बहुत सी ऐसी बातें मनवा ली हैं जिनके कारण उनपर आक्षेपों की बौछार होती है और वह उसका उत्तर नहीं दे सकते। वे मानते हैं कि ईश्वर ने यह सृष्टि शून्य से उत्पन्न की और इसके पहले कोई सृष्टि न थी। सृष्टि का नेस्ती से हस्ती में लाना अर्थात् शून्य से उत्पन्न होना ऐसा सिद्धान्त है जिससे यदि ईश्वर को वर्त्तमान सृष्टि से पूर्व अन्य सृष्टियों का कर्त्ता भी माना जाय तो भी इस सृष्टि और पूर्व सृष्टियों में सम्बन्ध स्थापित नहीं होता।

यदि वस्तुतः वर्त्तमान सृष्टि ईश्वर की पहली ही कारीगरी है तो जो नास्तिक लोग इस सृष्टि में बहुत से दोष निकालते हैं उनसे कहने के लिये हो सकता है कि शायद दूसरी सृष्टि इससे अच्छी बन सके क्योंकि पहली कारीगरी की त्रुटियाँ दूसरी कारीगरी में सुगमता से दूर हो सकती है। परंतु फिर वह ईश्वर ईश्वर नहीं रहता। न तो उस अर्थ में जिसमें हम ईश्वर को ईश्वर समझते हैं न उस अर्थ में जिसमें ईसाई और मुसलमान ही उसको ईश्वर समझते है। यदि वर्त्तमान सृष्टि ही ईश्वर की पहली सृष्टि होती तो सब से बड़ा प्रश्न

यह उठता है कि बैठे बिठाये ईश्वर ने यह जंजाल अपने सिर क्यों बांध लिया ? उसका क्या सूझी ? किस बात ने उसको प्रेरणा की कि अब सृष्टि बननी चाहिये । जिस ईश्वर ने इस से पहले कभी सृष्टि उत्पन्न करने का विचार नहीं किया उसमे यकायक ज्ञान और क्रियायें कहां से आ गईं कि वह सृष्टि बनाने लग पड़ा ? यदि ज्ञान और शक्ति पूर्व में विद्यमान थीं, तो अब तक वह शिथिल क्यों थी और अब उनमें इतना भेद क्यों पड़ा ? यह तो कह नहीं सकते कि ईश्वर का यह स्वभाव था । स्वभाव तो तभी होता जब नित्य सृष्टि का बनना, बिगड़ना हुआ करता । यदि यह बात नित्य नहीं तो पहली अवस्था और दूसरी अवस्था मे भेद का क्या कारण है ? जब कभी नई घटना होती है तो उसका कारण होता है । उसका कोई प्रयोजन होता है । 'नई घटना' और 'उसके कारण' का सम्बन्ध हमारे मस्तिष्क मे ऐसा बैठा हुआ है कि जब कभी नई घटना होती है तो मनुष्य स्वभावतः ही ऐसा प्रश्न कर बैठता है । मुझ से कोई आकर यह नहीं पूछता कि आज तुम ने क्यों सांस ली या आज तुमने निमेष या उन्मेष क्यों किया ? क्योंकि वह जानते हैं कि सांस लेना या निमेष-उन्मेष करना मेरा स्वभाव है । हाँ यदि मेरी सांस बन्द हो जाय या अधिक वेग से चलने लगे तो नूतन घटना समझ कर वह "क्यों" और 'किस लिये' की बौछार करने लगेंगे । इसी प्रकार यदि यह सृष्टि पहली ही बार बनी है तो स्वभावतः मनुष्य के हृदय मे 'क्यो' और 'कैसे' का प्रश्न उठने लगता है ।

मुसलमान और ईसाइयो की ओर से अब तक इस प्रश्न का कोई सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिल सका । यह प्रश्न उनके हृदयो मे भी उठा अवश्य और उठता क्यों न ? जैसे वह मनुष्य, वैसे ही अन्य मनुष्य । ईसाई मुसलमानो का मनोविज्ञान दूसरे मनुष्यो के मनोविज्ञान से भिन्न नहीं । वह दूसरे ससार मे नहीं रहते । परन्तु

वह एक प्रकार की ऐसी सामाजिक परिस्थिति में रहा किये हैं कि उनको ऐसे प्रश्नो का उत्तर विचारने का कभी साहस नहीं हुआ और जब कभी हुआ भी तभी उनको अपनी जान के लाले पड़ गये। कुछ लोगो का तो यहां तक कहना है कि ऐसे प्रश्न करने का हम को अधिकार ही नहीं है हम क्यों ऐसे प्रश्नो को उठावें जिनका समाधान हमारी बुद्धि से परे है? परन्तु बात यह है कि प्रश्न उठाना हमारे अधिकार या वश मे तो है नहीं। हमारी बुद्धि के अनुसार ही वह प्रश्न उठ खड़े होते हैं। यदि बुद्धि प्रश्नो के उठाने मे सहायक या प्रेरक होती है तो वह उनका समाधान करने मे भी अवश्य सहायता करेगी। कम से कम आस्तिक लोगो का तो यह मानना उचित या सुसंगत प्रतीत नहीं होता कि ईश्वर ने बुद्धि को हमें धोखा देने के लिये बनाया हो। यदि मनुष्य के पास कोई ऐसी वस्तु है जिसके द्वारा वह अपनी कठिन से कठिन समस्याओ का समाधान कर सकता है तो वह बुद्धि ही है। इससे इतर अन्य कोई वस्तु तो है नहीं। खाने पीने की छोटी से छोटी वस्तु से लेकर पारमार्थिक बड़े से बड़े प्रश्न का समाधान यही कर सकती है और व्यक्तियो या समाज की ओर से इसको दबाना मनुष्य जाति के सन्मार्ग मे रोड़ा अटकाना है। बहुत से लोगो ने अन्धविश्वास को आस्तिकता का चिह्न या रक्षक समझ रक्खा है। इसीलिये वह कभी अपने धर्म के नेताओ या संस्थापको के विषय मे वैसे प्रश्न नहीं करना चाहते या कर सकते जैसे उनको नित्य प्रति अन्य विषयो मे करने पड़ते हैं। वह पहले से ही उनमे कुछ देवी शक्तियां मान बैठते हैं और इसलिये उनको माने हुये मनगड़न्त सिद्धान्तो पर भी विश्वास करना ही पड़ता है। जैसे यदि यह मान लिया गया कि ईसाई धर्म का पूज्य प्रवर्तक

ईश्वर का इकलौता बेटा था या मुसलमानी धर्म का आदरणीय सन्थापक ईश्वर का एक विशेष दूत था तो फिर हम उन्हीं प्रश्नों को उठाना असंगत समझते हैं जो इन प्रवर्त्तकों के द्वारा समाधान हो सकते हैं। हम अपने धर्म रूपी भवन को रेत की नीव पर बना बैठते हैं और विशाल भवन खड़ा हो जाता है तो उस नींव की रक्षा को भवन की रक्षा के लिये अनिवार्य समझ कर उसको ठेस लगाना नहीं चाहते। परन्तु रेत की नींव फिर भी रेत की ही है और एक न एक दिन वह समस्त भवन को ले गिरती है। नास्तिकता के प्रचार का अधिक कारण इसी प्रकार का विश्वास हुआ है। हमने ऊपर यह दिखाने का यत्न किया है कि सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। वस्तुतः अनादि और अनन्त दोनो का अर्थ एक ही है। अनन्त वही है जिसका अन्त न हो अर्थात् न होने से पूर्व और न होने के पश्चात्। सादि वस्तुएँ अनन्त नहीं कही जा सकती क्योंकि उनका आदि से पूर्व अस्तित्व न होने के कारण एक सिरा होता है। जिसका एक सिरा है उसका दूसरा सिरा भी अवश्य होगा? एक किनारे की नदी का अभाव है। काल स्वयं ही एक नित्य पदार्थ है जिसका आदि अन्त कहीं नहीं। वस्तुतः इसी को नित्यता (Eternity) कहते हैं।

यदि देश की अपेक्षा से देखा जाय तो भी सृष्टि का अन्त नहीं है। सृष्टि रूपी शृङ्खला मे इतनी कड़ियाँ है कि यद्यपि हमको कड़ियो का आदि अन्त दीखता है तथापि उस शृङ्खला का अन्त कहीं दिखाई नहीं पड़ता। यदि हम केवल इस बात पर विचार करें कि मनुष्य ने सृष्टि के कितने अंश को अभी जान पाया है तो हमको मनुष्य की अल्पता का भयानक अनुभव होता है। बड़े से बड़े ज्ञानी मनुष्य का ज्ञान या समस्त मनुष्य जाति के ज्ञान का योग उस ज्ञान से जो सृष्टि में उपस्थित है पहाड़ के सामने चींटी के समान भी तो नहीं है। संभव है गणितज्ञ लोग हिमालय पर्वत और

चींटी के परिमाणों की निष्पत्ति ('ratio) लगाने में सफल होजायं परन्तु सृष्टि का परिमाण जानना असम्भव ही है। क्या हम सोच सकते हैं कि अमुक स्थान या अमुक प्रदेश पर सृष्टि समाप्त होगई, अब उसके आगे कुछ नहीं है ? बड़े से बड़े वैज्ञानिक से पूछो। देखें वह क्या कहता है ? बड़े से बड़े ज्योतिषी से प्रश्न करो देखें वह क्या उत्तर देता है ? क्या इनका विज्ञान और ज्योतिष दोनो एक ही बात सिद्ध नहीं करते अर्थात् सृष्टि की अनन्तता ?

इस विषय में सर आलीवर लौज† ने क्या अच्छा लिखा है :—

"सायंस जानने वालों की हैसियत से हमको स्वीकार कर लेना चाहिये कि सरल से सरल वस्तु यहां तक कि कंकड़ के भी आदि मूल का हमको कुछ ज्ञान नहीं। चट्टानों के टूटने फूटने से रेत बनता है और उसी रेत से इकट्ठा होकर फिर चट्टानें बन सकती हैं। परन्तु इससे अनन्तता का पता चलता है न कि आदि मूल का। अनन्तता मनुष्य के ज्ञान से परे है और हम उससे भागते हैं, परन्तु अवकाश में और हो भी क्या सकता है ? और जो बात अवकाश के विषय में है वही काल के विषय में भी क्यों नहीं ? शायद इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परन्तु जाने दो। हमको

---

†Let us admit, as scientific man, that of real origin, even of the simplest thing, we know nothing ; not even of a pebble- Sand is the debris of rocks and fresh rocks can be formed of compacted sand , but this suggests infinity, not origin Infinity is non-human and we shrink from it, yet what else can there be in space ? And if in space, why not in time also ? Much might be said here perhaps, but let it pass. We must admit that science knows nothing of ultimate origins. Which first, the hen or the egg ?—is a trivial form of a very real puzzle. That the

यह मानना पड़ेगा कि सायंस को आदि मूल का कुछ भी ज्ञान नहीं। पहले क्या था मुर्गी या अण्डा ? यह उस जटिल समस्या का एक साधारण रूप है। यह सत्य है कि इस पृथ्वी का, अर्थात् इस ग्रह का जो मिट्टी का बना हुआ एक लोथड़ा है आरम्भ अवश्य था, और इतिहास भी अवश्य था। सायस को अवश्य इसका कुछ न कुछ ज्ञान है। उस समय का भी पता लग ही सकता है जब यह पिघली हुई वस्तु थी। चांद कैसे और किसके द्वारा उत्पन्न हुआ इसकी भी अटकल लगाली गई है। इस प्रकार एक अर्थ मे पृथ्वी और चांद दोनो की उत्पत्ति अवश्य हुई। इससे पहले वह शेष सौर्य्यमण्डल के समान एक नैबूला (Nebula) का भाग था और सम्भव है कि यह सौर्य्यमण्डल फिर किसी दूरस्थ बड़ी वस्तु से टकराकर फिर नैबूला के रूप मे हो जाय। परन्तु सृष्टि के सामने यह कुछ नहीं। इन्द्रियगोचर सृष्टि के सामने भी यह कुछ नहीं। हमारी आंखो के सामने नित्य प्रति ही वस्तुयें टकराया करती हैं।

---

world, in the sense of this planet, this homely lump of matter we call the earth—that this had an origin, a history, a past, intelligible more or less, growingly intelligible to the eye of science, is true enough. The date when it was molten may be roughly estimated, the manner and mechanism of the birth of the moon has been guessed ; the earth and moon then *originated* in one sense, before that they were part of a nebula, like the rest of the solar system ; and some day the solar system may again be part of a nebula, in consequence of collision with some at present tremendously distant mass But all that is nothing to the Universe ; nothing even to the visible universe The collisions there take place every now and again before our eyes The universe is full of lumps of matter of every imaginable size, the history of a solar system may

सृष्टि मे भिन्न २ परिमाण के प्रकृति के ढेर हैं। सम्भव है कि एक सौर्य्यमण्डल का इतिहास लिखा जा सके। इसका जन्म भी और इसकी मृत्यु भी! चाहे उनमे अरबो वर्षों का अन्तर ही क्यों न हो। परन्तु इससे क्या? यह तो जीवन का एक छोटा सा भाग है। अनन्त सृष्टि का क्षण मात्र है। इतिहास की आंख तो जन्म के पहले और मृत्यु के पीछे की दशा जानने को उत्सुक है! जिस प्रकार कि बच्चा साबुन के बुलबुले के आदि और अन्त को। इस का रूप क्षणिक है परन्तु जिससे वह बना है वह नित्य है "(सर आलीवर लाज कृत "मनुष्य तथा सृष्टि")।

अनन्त नियम, अनन्त देश और अनन्त काल के लिये इनका अनत नियंता और अनंत स्वामी भी अवश्य ही चाहिये। इसलिये ईश्वर अनत है। यदि सांत होता तो कभी सृष्टि बना ही नहीं सकता था। डीन इंज (W R Inge) का कथन है कि:—

†"जो चेतन शक्ति ससार को बनाती है और उसको नियम में रखती है उसके लिये अनत होना आवश्यक है। क्योंकि सांत जीव यह नही जानते कि ऊपरी दुनिया कैसी है। इनमे से कोई सृष्टि के

---

be written—its birth and also its death, separated perhaps by millions of millions of years; but what of that? It is but an episode, a moment in the eternal cosmogony, and the eye of history looks to what happened before the birth and after the death of any particular aggregate; just as a child may trace the origin and the destruction of a soap bubble, the form of which is evanescent, the material of which is permanent (Man and the Universe, by Sir Oliver Lodge pp 29-30).

†"The spirit who makes the world and sees it as it is must be a transcendent god; for finite spirits do not know the external world as it is; none of them know much of it; and there are parts

विषय में अधिक ज्ञान नहीं रखते। इसके बहुत से भाग तो ऐसे है जिनका सांत जीवों को कुछ भी ज्ञान नहीं। सृष्टि का बहुत सा विचारणीय भाग किसी सांत जीव को ज्ञात नहीं। इसलिये सृष्टि के विषय में जो कुछ धारणा की जाय वह यही मानकर की जा सकती है कि सृष्टि कर्त्ता अपना जीवन सृष्टि के भीतर नही किंतु उसके ऊपर विताता है अर्थात् वह सर्वोपरि है। यही महाशय आगे चलकर कहते है :—

†"सृष्टि पर ईश्वर की बुद्धि तथा प्रकृति की एक अपूर्ण छाया पड़ती है। सृष्टि सदा रहती है क्योंकि इसका रचयिता नित्य है, यह अनन्त है क्योंकि इसका बनाने वाला अनन्त है। सृष्टि नियमित है क्योंकि इसका बनाने वाला एक रस है। सृष्टि बुद्धिमय है क्योंकि कि उसका कर्त्ता बुद्धिमान् है" (पृ० १९८)

वेदो में ईश्वर की अनन्तता के विषय में बहुत उत्तम प्रमाण उपस्थित हैं जैसे

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।

(अथर्व वेद काण्ड १०। २३। ४। १)

---

of it which are entirely unknown to any finite mind. By far the largest part of the ponderable matter in the universe is withdrawn from the knowledge of any finite living being. My view of the world depends, therefore, on the belief that the creator of the universe lives his own life not in it but above it."

(Contemporary British Philosophy by J. H. Muirhead—Philosophy and Religion by W. R. Inge p 194).

†"The world reflects, in an imperfect medium, the mind and nature of its creator. It is perpetual, as its creator is eternal, it is boundless as its creator is infinite; it is regular, as its creator is changeless; it is rational, as its creator is all-wise" (p 198).

अर्थात् ईश्वर भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीनों कालों से परे है (He transcends time)

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि ँ सर्वतःस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥

(यजुर्वेद अ० ३१ मं० १)

ईश्वर अनन्त मस्तिष्कों (बुद्धि) वाला, अनन्त आंखों (दर्शन-शक्ति) वाला, अनन्त पैरों (क्रिया शक्ति) वाला है। वह सृष्टि को चारो ओर से घेर कर उससे भी ऊपर रहता है।

डीन इञ्ज कहता है कि ईश्वर सृष्टि मे नही किन्तु उससे परे या ऊपर रहता है (The creator of the Universe lives his own life not in it but above it) परन्तु वेद कहता है कि वह सृष्टि के भीतर और बाहर सभी स्थानो पर है। सृष्टि मे रहने के कारण ही उसको "पुरुष" नाम से पुकारा गया है। वेद की दृष्टि मे सृष्टि ईश्वर से अलग कोई ऐसी वस्तु नही है जिस पर ईश्वर की छाया पड़ती हो (imperfect medium of reflection) किन्तु ईश्वर से व्याप्य है।

एक अन्य स्थान पर इस अनन्तता का दूसरे रूप मे वर्णन किया है :—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्चं पुरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।

"इतनी उसकी महिमा है। परन्तु ईश्वर उससे बड़ा है। समस्त सृष्टि उसका एक चौथाई भाग है। तिगुना भाग तो अमृत है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि जो कुछ हमको सृष्टि मे दिखाई देता है वह तो केवल एक अंश मात्र है। इसका अधिक भाग जो अमृत

है पर तो उससे अलग है। सृष्टि रचा हुआ पदार्थ है। नित्य नहीं। अतः उससे ईश्वर का अमृतत्व कैसे दिखाई दे सकता है? जो लोग सृष्टि को देख कर उसको इयत्ता समझ बैठते हैं वह भूलते हैं। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इसी मन्त्र का अर्थ करते हुये लिखा है:—

"अस्य पुरुषस्य भूतभविष्यद्वर्त्तमानस्थो यावान् संसारोऽस्ति तावान् महिमा वेदितव्यः। एतावानस्य महिमास्ति चेत्तर्हि तस्य महिम्नः परिच्छेद इयत्ता जातेति गम्यते। अत्र ब्रूते नैतावन्मात्र एव महिमेति। किं तर्हि। अतोऽप्यधिकतमो महिमानन्तस्यास्तीति गम्यते। अत्राह (पादोऽस्य०) अस्यानन्तसामर्थ्यस्येश्वरस्य (विश्वा) विश्वानि प्रकृत्यादि-पृथिवीपर्यन्तानि सर्वाणि भूतान्येकः पादोऽस्ति एकस्मिन्देशांशे सर्वं विश्वं वर्त्तते। (त्रिपादस्या०) अस्य दिवि द्योतनात्मके स्वस्वरूपेऽमृतं मोक्ष सुखमस्ति। (पृ० १२१)

तात्पर्य यह है कि ईश्वर का अमृत रूपी स्वरूप केवल सान्त सृष्टि को देखने से ही समझ में नहीं आता। ईश्वर अनन्त है उसकी अनन्तता उसके अमृतत्व में है। वस्तुतः अमृतत्व ही अनन्तता है क्योंकि उसका उलटा, "मृतत्व" सान्तता का द्योतक है।

अब प्रश्न यह होता है कि ईश्वर को अनन्त मानने की क्या आवश्यकता है? क्या सान्त ईश्वर से हमारा काम नहीं चल सकता? यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर एक स्थान विशेष पर उपस्थित है और अमुक समय से अमुक समय तक वहां रहता है तो इसमें क्या हानि होगी? क्या स्वयं आस्तिकों का ऐसा ही

विचार नही है ? हम ईसाइयों के धर्म ग्रंथों मे पढ़ते हैं कि ईश्वर चौथे आस्मान या आकाश में विराजमान् है। मुसलमानो के धर्म ग्रंथ केवल आकाश के क्रम को बढ़ा कर चौथे से सातवाँ कर देते हैं। हिंदुओं के पुराणों में विष्णु जी के लिये विष्णु-लोक और क्षीर सागर आदि विशेष शयनागार उपस्थित हैं। ऐसे ही अन्य भिन्न २ धर्म ग्रंथो मे अन्य स्थान माने गये हैं।

इसमे सन्देह नही कि ऊपर के स्थान-विशेषो से ईश्वर की अनन्तता का खण्डन होता है। परन्तु हमारा तात्पर्य यहां प्रत्येक धर्म की प्रत्येक बात को पुष्ट करने का नही है। इन धर्मों में यह बातें कैसे प्रविष्ट हो गईं यह एक दूसरी कथा है और उसके वर्णन के लिए यह उचित स्थल नहीं है। पहली बात तो हम यह कहना चाहते हैं कि जिन धर्म ग्रंथो मे ईश्वर के लिए बड़े मनोरञ्जक और मनुष्य के लिए चित्ताकर्षक भवन बताये गये हैं उन्हीं धर्म ग्रंथों मे ईश्वर की अनन्तता की भी झलक पाई जाती है। अर्थात् सब धर्मों मे एक बात सामान्य है वह है ईश्वर की अनन्तता। हां इसके साथ ही साथ भिन्न २ धर्म ईश्वर के भिन्न २ स्थान भी बताते हैं। यह परस्पर विरोध है जिसको दूर करना उन धर्म ग्रंथों के पढ़ने वालो का काम है। दूसरी बात यह है कि इन धर्म के अनुयायियो ने स्वयं इन स्थानो को स्थान विशेष न मान कर अलङ्कार सिद्ध करना आरम्भ कर दिया है। आज शायद ही कोई शिक्षित ईसाई या मुसलमान होगा जो चौथे या सातवें आकाश को अटारी के समान मानता हो या कोई बिरला ही पौराणिक होगा जो क्षीर सागर को ऐसा समुद्र मानता हो जिसमे विष्णु जी मछली के समान आनन्द विहार करते हो।

फिर यदि यह मान भी लिया जाय कि इन धर्मों ने ईश्वर को अनन्त नही माना तो भी क्या ? हम ऊपर सिद्ध कर चुके हैं कि

अनन्त सृष्टि के लिये अनन्त ईश्वर की आवश्यकता है। यदि कल्पना कर ली जाय कि ईश्वर एक स्थान विशेष पर है। तो उसके आगे क्या होगा ? शून्य फिर शून्य भी तो समझ मे नही आता। क्या शून्य वस्तु विशेष का नाम है ? तो फिर शून्य कैसे ? यदि शून्य सभी के अभाव का नाम है तो यह अभाव कैसे स्थित हो सकता है ? यह बात मानवी मस्तिष्क मे नही आ सकती है। और न ईश्वर का उत्पन्न होना ही समझ में आ सकता है। यदि ईश्वर उत्पन्न हुआ तो किससे और किसके द्वारा ? यदि ईश्वर का भी पिता या बनाने वाला है तो उस पिता का भी कोई पिता होगा और इस प्रकार प्रश्नों का कही अन्त नहीं होगा। यदि ईश्वर स्वयं ही उत्पन्न हो गया तो अन्य वस्तुयें भी स्वयम् ही उत्पन्न क्यों नही हो जाती ? जिस ईश्वर को स्वयं उत्पन्न होने की आवश्यकता है वह कभी दूसरी वस्तुओ को उत्पन्न नही कर सकता।

वस्तुतः ईश्वर किन्ही दो वस्तुओ के मेल से बना नही है। अतएव उसका बनना सिद्ध नहीं होता। जो वस्तु बना नही वह समय की अपेक्षा से अवश्य ही अनन्त होगी। इसमें सन्देह नहीं है।

इससे ईश्वर हर प्रकार से अनन्त सिद्ध होता है।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि ईश्वर को सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ आदि नामों से पुकारा गया है। अतः वह अनन्त नहीं हो सकता क्योकि 'सर्व' शब्द से ही सान्तता प्रकट होती है। 'सब मनुष्य' 'सब वस्तुयें' 'सब स्थान'। इन सब वाक्यांशों मे 'सब' शब्द सान्तता का वाचक है। या तो ईश्वर को सर्वव्यापक कहो या अनन्त। या सर्वज्ञ कहो या अनन्तज्ञ। दोनों कहना एक ही ईश्वर मे परस्पर विरुद्ध गुणो का आरोपण करना है। जब

तक 'अन्त' या सीमा' का ज्ञान नही होता उस समय तक हम 'सब' शब्द का प्रयोग ही नही कर सकते ।

हमारी दृष्टि मे यह आक्षेप इतना सारगर्भित नहीं है जितना समझा जाता है। इसमे अधिकतर खाल रहित बाल की खाल निकालने की कोशिश की गई है। इसमे सन्देह नही कि 'सब' शब्द से 'सीमा' का भाव प्रतीत होता है परन्तु 'सब' कह देने से अनन्तता का खण्डन नही होता। मै ईश्वर के लिये तीन शब्द कह सकता हूँ। ईश्वर अनन्तज्ञ है ईश्वर सर्वज्ञ है, और ईश्वर हृदयज्ञ है। अर्थात् ईश्वर को "अनन्त वस्तुओ" का ज्ञान है, "सब वस्तुओ" का ज्ञान है और "मेरे हृदय" का ज्ञान है। इन तीनो मे उत्तरोत्तर वाक्य संकुचित विचारो का बोधक है। परन्तु इनमे न तो परस्पर विरोध है न एक दूसरे का खण्डन है। क्योंकि जो ईश्वर अनन्त है वह उन वस्तुओ मे भी होगा जो मेरे विचारानुसार 'सब' शब्द से संज्ञात होती हैं। इसी प्रकार जो ईश्वर "सब वस्तुओ" मे है उसके 'मेरे हृदय' मे होने मे सन्देह ही क्या रहा? जिसको समस्त पुस्तक का ज्ञान है उसे उसके एक पृष्ठ का भी है। इसलिये जो ईश्वर अनन्त ज्ञान वाला है उसमे वह सब ज्ञान तो अवश्य होगा जिसे मै 'सब', नाम से पुकारता हूँ। और यदि उसमे सब ज्ञान है तो 'सब' के अन्तर्गत होने से मेरे हृदय का ज्ञान भी उसमे अवश्य होगा। इसलिये ईश्वर के लिये 'सब' शब्द का प्रयोग करना उसकी अनन्तता का किसी प्रकार भी विरोधी नही कहा जा सकता। वस्तुत: 'सब' शब्द के भीतर भी अनन्तता का संकेत उपस्थित हैं। हम 'सब' शब्द उसी के लिये प्रयोग मे लाते है जो हमारी विचार परिधि के भीतर आ सकता है। परन्तु इसके साथ ही साथ हमको अपने विचारो की सीमा का भी अनुभव होता है। मै किसी ऊँचे टीले पर खड़ा होकर

अपनी दृष्टि फैलाता हूँ तो वह एक नियत सीमा तक ही पहुंच सकती है। परन्तु इसके साथ ही साथ मैं यह नहीं समझ लेता कि सृष्टि उतनी ही है जितनी दूर तक मेरी दृष्टि जा रही है। मेरा आन्तरिक भाव यह होता है कि सृष्टि इससे बहुत आगे है और मेरी आन्तरिक इच्छा भी यही होती है कि यदि किसी प्रकार मेरी दृष्टि कुछ अधिक बढ़ जाती तो मैं इस नियत सीमा के बाहर की सृष्टि भी देख लेता। दृष्टि की सकीर्णता सृष्टि की सकीर्णता की सूचक नही है और न यह भाव मेरे हृदय मे ही उत्पन्न होता है। मैं 'सब' शब्द तो उन वस्तुओ के लिये प्रयुक्त करता हूँ जो दृष्टि की सीमा के अंतर्गत हैं परतु उसके साथ ही साथ मैं यह भी जानता हूँ कि सबसे आगे कुछ और है जिसके लिये अनत शब्द ही उपयुक्त हो सकता है।

कुछ लोग कह सकते हैं कि यदि तुम्हें अनतता का ज्ञान है तो वह अनतता परिमित हो जाने से अनन्तता नही रह सकती। अर्थात् हमारी बुद्धि परिमित होने से उसके अनतर्गत जो कुछ आयेगा वह परिमित होगा और यदि अनंतता का ज्ञान नही है तो भी अनतता कोई वस्तु नही ठहरती। जिसका हमको ज्ञान ही नहीं उसके विषय मे हम क्या कह सकते हैं? इस प्रकार दोनो प्रकार से अनन्तता का खण्डन हो जाता है और हम ईश्वर को अनत नही कह सकते।

परंतु यह आक्षेप भी ऐसा ही निस्सार है जैसा इससे पहले का आक्षेप था। इस आक्षेप का मूल कारण यह है कि हम मानवी विचारो की गति का भली भांति निरीक्षण नही करते। वस्तुतः हमको अनन्तता का ज्ञान तो है परतु पूर्ण ज्ञान नही। यह बात न केवल अनन्तता के विषय मे ही ठीक है किन्तु सान्त वस्तुओ के लिये भी। मेरे हाथ में लेखनी है। लेखनी एक परिमित या

सान्त वस्तु है। परन्तु क्या मुझे इसका पूर्ण ज्ञान है ? बड़े से बड़े विद्वान् को भी इसके सम्बंध मे बहुत सी बातों का ज्ञान न होगा। जब मनुष्य को सान्त वस्तुओं का ही पूर्ण ज्ञान नहीं तो अनन्त वस्तुओं का पूर्ण ज्ञान कैसे हो सकता है ? वस्तुतः यदि हम अनतता के ज्ञान के विश्लेषण का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि उसमे दो भाव विद्यमान है। एक तो किसी वस्तु के विषय के कुछ ज्ञान का भाव और दूसरे अधिक ज्ञान न होने का भाव। यदि अंधे को कुछ नहीं दीखता तो इसके साथ ही साथ वह यह नहीं समझ लेता कि चूंकि मै कुछ नहीं देख सकता इसलिये कोई चीज़ है ही नही। यदि ऐसा होता तो अन्धे को अपने अन्धेपन का अनुभव न होता। परंतु ऐसा नही है। वह नित्य प्रति अपने अन्धेपन का अनुभव करता है और उस पर खेद प्रकट करता है । यदि उससे कोई कहे कि मै तुम्हारा अन्धापन दूर कर दूंगा तो उसे अत्यन्त हर्ष होता है। इसी प्रकार न्यून-दृष्टि वालों का हाल है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि हमारा मस्तिष्क सान्त होने से हमको अनन्तता का ज्ञान हो ही नहीं सकता।

ईश्वर के लिये 'अनन्त' के अतिरिक्त 'अजन्मा' 'अनादि' 'अनुपम' 'अजर' 'अमर' आदि शब्द भी प्रयुक्त होते है। इनको 'अनन्त' का ही रूपान्तर समझना चाहिये। जो अनन्त है वह अनादि अवश्य होगा। क्योंकि आरम्भ और अन्त दोनो ही किसी वस्तु या घटना के दो तट या सीमायें हैं। इन दोनो को ही अन्त कह सकते हैं। जो अनन्त है वह अजर और अमर भी अवश्य होगा क्योकि 'जरा' तथा 'मृत्यु' दोनो ही अनन्तता के बाधक हैं। 'अजर' 'अमर' आदि शब्दों का प्रयोग केवल 'अनन्तता' पर बल देने के लिये है।

अनन्तता के सम्बंध में केवल दो प्रश्न और हैं जिनका हम इस स्थान पर वर्णन करना चाहते हैं ॥ सम्भव है कि साधारण पाठक गण को इस अध्याय से कुछ विशेष आह्लाद न हुआ हो। परन्तु अस्तिकवाद के साथ अनन्तता का इतना घनिष्ठ सम्बंध है कि इसकी मीमांसा करनी अत्यावश्यक थी।

पहला प्रश्न तो यह है कि यदि ईश्वर अनन्त है तो क्या और यदि सांत है तो क्या ? हमारे व्यावहारिक जीवन में ईश्वर की अनन्तता का क्या उपयोग है ? हम अनन्तता की मीमांसा मे माथापच्ची क्यों करें ? यदि हम ईश्वर को सांत ही मान लें तो हमारी क्या हानि होगी ? और यदि हम सान्तता और अनन्ता के झमेले को ही छोड़ दें तो क्या हानि होगी ?

इसका सीधा उत्तर यह है कि हमारे हृदय पर अनन्तता का जितना विशाल प्रभाव पड़ता है उतना 'सान्तता' का नही पड़ सकता आस्तिकवाद कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसको अपनी इच्छा के अनुसार ग्रहण या त्याग किया जा सके। इसका सम्बंध मानवी मस्तिष्क से है ? इसका जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ता है। आस्तिक और नास्तिक दोनो के जीवन एक से नही हो सकते। मैडेम ब्लैवेट्स्की ने सच कहा है :—

‡"ईश्वर भी नहीं ? जीव भी नही ? भयानक विनाशकारी कल्पना ! उन्मत्त का प्रमाद नास्तिक का अपनी मनोचक्षु के सम्मुख प्रकृति की चिनगारियों की अपरिमित शृङ्खला के ऐसी कुरूप की

‡No God no soul ? Dreadful, annihilating thought ! The maddening nightmare of a lunatic—atheist ; and presenting before his fevered vision, a hideous, ceaseless procession of sparks of cosmic matter created by *no one*, self-appearing, self-existant, and self-developing ; this self *no* self,

कल्पना करना जिसकी उत्पत्ति शून्य से हुई, जो स्वयं ही प्रकट हुआ, स्वय ही स्थित है और स्वयं ही विकसित होता है—यह "स्वय" भी कुछ नही, क्योकि न यह कोई शक्ति है न पुरुष है—प्रवाहित हो रहा है परन्तु कहीं से नहीं। इसका कारण कोई नहीं क्योकि कारण का सर्वथा अभाव है—और यह जा रहा है परन्तु कहीं को नहीं। यह अनन्त का चक्र है, अन्धा, निष्क्रिय और अकारण"।

नास्तिकता के विषैले प्रभाव से जीवन तभी बच सकता है, जब वह अपने परमात्मा की अनन्तता का विचार करता है। अनन्तता का भाव उसके हृदय मे श्रद्धा उत्पन्न करता है। उसे विशाल और उदार बनाता है और उसको अधोपतन से बचा लेता है। अनन्त ईश्वर की अनन्त सृष्टि की ओर आंख उठाने से ही मनुष्य के हृदय मे एक अकथनीय प्रभाव पड़ता है जिसको वाणी वर्णन नही कर सकती और कलम लिख नहीं सकती। यद्यपि मनुष्य की परिमित आंख सृष्टि के परिमित भाग को ही देख सकती है और यद्यपि विशाल सृष्टि मे छोड़ देने से भी वह अपने लिये एक परिमित घेरा ही बनाती है तथापि आंख के भीतर अपार सूर्य प्रकाश मे विचरने की एक आन्तरिक इच्छा है जिसको प्रत्येक मनुष्य की प्रत्येक आँख अनुभव करती है। इस आन्तरिक इच्छा का उपयोग साधारणतया मालूम नही पड़ता। परन्तु इसका उपयोग अवश्य है। उपयोग न होता तो इच्छा क्यो होती? इच्छा

---

for it is *nothing* and *nobody*, floating onward from *nowhence*, it is propelled by no cause for there is none, and it rushes *nowhether*. And this in a circle of Eternity blind, inert, and—*causeless*. (Isis Unveiled vol I. XXIV).

है तो वह इस बात की भी सूचक है कि यह इच्छा और इस इच्छा की पूर्ति आंख के लिये अवश्य लाभ प्रद होगी। आप कमरे के भीतर पुष्कल प्रकाश में पुस्तक पढ़ते रहे। परन्तु जिस समय कमरे के बाहर निकल कर आप अनन्त प्रकाश का सहारा लेंगे उसी समय आपको एक अपूर्व आनन्द प्राप्त होगा। जो नित्य प्रति बन्द कमरों में काम करते रहते हैं उनको पुष्कल प्रकाश मिलते हुये भी उनकी आंखों में विकार उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि आंखो की वह इच्छा जो उसे अपनी अल्पता के साथ विश्व की अनन्तता का सम्बन्ध जोड़ने के लिये प्रेरित करती है पूरी नहीं होती। यही दशा जीव की है। जीव अल्प है, उसका मस्तिष्क अल्प है, उसकी अन्तःकरण की दृष्टि भी अल्प है। परन्तु इस सब अल्पता के होते हुये भी उसका अनन्त विश्व की अनन्तता से सम्बन्ध जोड़ने में जो आनन्द होता है वह अन्यथा नहीं होता। ऋग्वेद में एक मंत्र आता है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥

अर्थात् (सूरय.) बुद्धिमान् लोग (विष्णोः) अनन्त परमात्मा के (तत् परमं पद) उस परम पद की ओर (सदा पश्यन्ति) सदा उसी प्रकार देखा करते है जैसे (आतत) खुली हुई (चक्षुः) आँख (दिवि) सूर्य्य को।

जीव और ईश्वर के सम्बन्ध को दिखलाने के लिये 'आँख' और सूर्य्य के सम्बन्ध से बढ़कर उत्तम कोई दृष्टान्त नहीं है। सूर्य्य के आनन्द को 'आततं चक्षु' अर्थात् खुली हुई आंख ही देख सकती है। रोग ग्रसित आंख उससे आनन्द नही पा सकती। इसी प्रकार सुविकसित हृदय अपार ईश्वर के सम्बन्ध से जो आनन्द

उठाता है वह अविकसित हृदय को प्राप्त नहीं हो सकता । अल्प जीव का अनन्त ब्रह्म के साथ सम्बन्ध ही विकास है और इस अनन्तता के पूर्ण-अनुभव को ही वैदिक साहित्य मे मुक्ति के नाम से पुकारा गया है । परन्तु पूर्ण विकास एक साथ ही नहीं आ जाता । धनपतियो को अपना कोष भरने के लिये एक एक कौड़ी जोड़नी पड़ती है । इसी प्रकार उस पूर्ण विकास की प्राप्ति से पहले जब कि जीव "ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति" का अनुभव करता है, उसे विकास की छोटी छोटी श्रेणियो से होकर गुजरना पड़ता है, यह श्रेणियां उसकी उन्नति की श्रेणियां हैं, इनमे वह उस अनन्तता के अनुभव करने का अभ्यास करता है, ज्यो ज्यो अभ्यास बढ़ता जाता है उसकी भूख भी बढ़ती जाती है । एक बार अनन्त सृष्टि की अनन्तता के भीतर विचरने से ही ऐसी प्रफुल्लता उत्पन्न होती है कि वह फिर संकुचित घेरे मे रहना पसन्द नही करता । जो पक्षी अपार आकाश मे उड़ने का अभ्यासी है वह पिंजड़े मे रहना क्यो चाहेगा ? पिजड़ा छोड़कर आकाश मे उड़ना ही विकास का आरम्भ है और तुच्छ पिजड़े से घृणा तथा विकसित आकाश से अटूट्य प्रेम हो जाना ही विकास का अन्त है । इसका यह तात्पर्य्य नही है कि पक्षी को उस समस्त आकाश की आवश्यकता है । एक प्रकार से आवश्यकता है भी और एक प्रकार से नही । यदि पक्षी की उड़ान को ही जीवन का उद्देश्य माना जाय तो उसे केवल उतने ही आकाश की आवश्यकता होती है जिसमे वह भली भॉति उड़ सकता है । परन्तु उड़ान एक और उद्देश्य का साधन मात्र है । वह केवल उसके विकास मे एक श्रेणी है । उड़ान का उपयोग यह भी है कि पक्षी की अल्पता का आकाश की अनन्तता से सम्बन्ध हो जाय । इस सम्बन्ध के लिये तो नपे तुले आकाश से काम नही चलता इसके लिये तो अनन्त आकाश ही चाहिये ।

कहते हैं कि जल मनुष्य की तृष्णा के लिये आवश्यक है। मै पूछता हूँ कितना जल? एक गिलास या दो गिलास? इतने से उसकी तृप्ति हो सकती है। परन्तु फिर मनुष्य के हृदय को समुद्र के तट पर खड़े हो कर देखने से क्यों विशेष आनन्द होता है? क्या मनुष्य समस्त समुद्र का जल पी जायगा? क्या उसे उसकी आवश्यकता है? आवश्यकता है परन्तु शारीरिक प्यास बुझाने के लिये नहीं। आवश्यकता है अनन्ता से सम्बन्ध जोड़ने के लिये, आवश्यकता है आन्तरिक अल्पता को कम करने के लिये, आवश्यकता है अपना हृदय विशाल बनाने के लिये।

प्लेटो (Plato) से पूछिये वह क्या कहता है :—

†"सब अल्प सत्ताओं के परे, सब गौण कारणों, नियमो, विचारो और सिद्धान्तों के उस पार एक बुद्धि या ज्ञान (आत्मा) है जो सब नियमो का आदि मूल नियम है। वह परम विचार है जो अन्य विचारों का आधार है। वही सृष्टि का राजा तथा नियन्ता है। वह आदि मूल सत्ता है जिससे सब पदार्थ अपने स्वत्व तथा तत्व को प्राप्त करते हैं। यह समस्त सङ्गठन, सौन्दर्य, तथा उत्तमत्ता का जो सृष्टि मे व्यापक है, मूल कारण है। इसी को

---

†"Beyond all finite existences and secondary causes, all laws, ideas, and principles, there is an *intelligence, mind* (nous, the spirit), the first principle, of all principles, the Supreme Idea on which all other ideas are grounded, the Monarch and the Law giver of the Universe; the ultimate substance from which all things derive their being and essence, the first and efficient *cause* of all the order, and harmony, and beauty, and excellency, and goodness, which pervades the Universe—who is called, by way of pre-eminence and excellence, the Supreme Good, the God (o theos),

श्रेष्ठता तथा सर्वोपर्यता के कारण, परम उत्तमत्ता या ईश्वर कहते हैं। यही सब का अधिष्ठाता है।"

इसी भाव को नीचे लिखे उपनिषद् वाक्य में दिखाया गया है।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् (क० २।५।१)

दूसरा प्रश्न यह है कि ज्ञानोन्नति से अनन्तता के भाव में क्या परिवर्त्तन होता है?

यद्यपि अल्प जीव अपनी अल्पता और ईश्वर की अनन्तता का भाव साधारणतया भी रखता है। परन्तु अज्ञानी जीव ब्रह्म की अनन्तता का वही भाव नही समझता जो ज्ञानी समझता है। कुए का मेंडक 'अनन्तता' का केवल इतना ही तात्पर्य समझता है कि कोई वस्तु है जो कुएं से बड़ी है। इससे अधिक उसका मस्तिष्क काम ही नहीं करता। परन्तु यदि उसी मेंडक को कुएं से बाहर किसी बड़े तालाब में डाल दिया जाय तो उसकी अनन्तता मे भी परिवर्त्तन हो जाता है। अब वह 'अनन्तता' को केवल कुएं से ही बड़ा नही किन्तु तालाब से भी बड़ा समझने लगता है। यही हाल मनुष्य का है। एक जङ्गली असभ्य मनुष्य के हृदय मे भी ईश्वर की अनन्तता का भाव विद्यमान है और एक ज्ञानी के हृदय मे भी। परन्तु अनन्तता का जो भाव न्यूटन के हृदय मे आ सकता था वह अफ्रीका के नीग्रो के हृदय मे नही आ सकता। एक ज्योतिषी ज्योतिष विद्या पढ़ कर जिस समय बड़े बड़े तारागण के परिमाण तथा आकार पर विचार करता है और ब्रह्म के बृहतत्व की विशाल लोको से तुलना करता है तो अनन्तता भी विचित्र ही रूप मे उसके सामने आ जाती है।

---

the God over all" (o epi pantin theos).

(Cocker Christianity and Greek 'Philosophy' *Quoted* in the Isis Unveiled p XVIII).

ईश्वर की अनन्तता से प्रभावित होने के लिये अपनी उन्नति भी आवश्यक है। ज्यो ज्यो हम ऊपर चढ़ते जांयगे त्यों त्यों ही हमारा क्षितिज का वृत्त भी बढ़ता जायगा। इसी प्रकार ज्यो ज्यो हमको सृष्टि के विषय मे अधिक ज्ञान होता जायगा त्यो त्यो हमको ईश्वर की अनन्तता का भी अधिक अनुभव होगा।

यदि हम विचार करके देखें तो ईश्वर के जो गुण सृष्टि के आदि मे माने जाते थे वही आज कल भी माने जाते है! जो गुण असभ्य ज्ञातियो के भीतर प्रचलित है वही सभ्यो के भी। ईश्वर को सभी उत्पादक पालक दयालु तथा अनन्त मानते है। परन्तु *सभ्य जातियो को जितना परिष्कृत ज्ञान इन गुणो का हो सकता* है उतना असभ्यों को नहीं। उत्पादक की उत्पादकता का अनुभव उसी को होगा जो उत्पन्न वस्तु के ऊपर भली भांति विचार करता है। एक बच्चा घड़ी को देखता है और समझता है कि इसका बनाने वाला अवश्य है। परन्तु उसने तो केवल घड़ी के ऊपर ही दृष्टि डाली है अत. वह घड़ी साज़ की बुद्धि का परिमाण कैसे जान सकता है? परन्तु जो पुरुष घड़ी का विश्लेषण करता है। उसके एक एक पुरजे पर विचार करता है, यह सोचता है कि अमुक पुरज़ा ऐसा ही क्यो बनाया गया भिन्न क्यो नही बनाया गया, उसको घड़ी साज की बुद्धिमता से अधिक परिचय होगा! इसी प्रकार जिस मनुष्य ने सृष्टि की अनेक वस्तुओ को लेकर उन पर विचार करने का यत्न किया है वह ईश्वर की विशालता का जो अनुभव प्राप्त कर सकते हैं वह दूसरो को प्राप्त नही हो सकता।

नवां अध्याय

कर्म और फल



सी करनी वैसी भरनी' एक सर्वव्यापक लोकोक्ति है। इसके पर्य्याय प्रत्येक देश तथा युग की भाषा में पाये जाते हैं। चाहे आस्तिक हो चाहे नास्तिक, चाहे अध्यात्मवादी हो चाहे आधिभौतिक-वादी, चाहे आत्मवादी हो चाहे अना-त्मवादी, चाहे सायंस का पक्षपाती हो चाहे मतमतांतरो को मानने वाला हो संसार में कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं है जो कर्म और उसके फल की अवहेलना करता हो। तुलसीदास जी कहते हैं—

> कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करे सो तस फल चाखा॥

इसलिये यदि कोई ऐसा सिद्धांत है जिस पर सब मनुष्य सहमत हैं तो "कर्मफलवाद" है। जैसा करोगे वैसा पाओगे" (As you sow, so you will reap) की सत्यता से कोई भी विमुख नहीं है।

इस अध्याय मे हम देखना चाहते हैं कि इस सिद्धांत का आस्तिकता से क्या सम्बन्ध है।

सबसे पहले हमको कर्म तथा फल की मीमांसा करनी होगी। तत्पश्चात् उसके परिणामों का विचार करना होगा।

मनुष्य चोरी करता है और राज की ओर से उसे २ वर्ष का कारागार होता है। लोग कहते है कि चोरी कर्म है और कारागार फल। अब प्रश्न यह है कि 'चोरी' मे कौन सी ऐसी बात है जो इसको 'कर्म' की कोटि मे रखती है और कारागार मे कौन सा लक्षण है जो उसको फल की कोटि मे आने के लिये बाधित करता है।

इसी प्रकार एक मनुष्य एक मास तक नौकरी करता है। मास के अंत मे उसका स्वामी उसे वेतन देता है। लोग कहते हैं 'नौकरी' कर्म था और 'वेतन' उसका फल। प्रश्न यह है कि 'नौकरी' मे कौन सी बात है जिससे वह कर्म है और 'वेतन' मे कौन सी विशेषता है कि वह फल।

कर्म और फल का विषय बड़ा जटिल है! इस पर अनेक लोगो के अनेक मत हैं। इसीलिये गीताकार को कहना पड़ा—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः (४।१६)

पहले तो यह देखना चाहिये कि कर्म का क्या अर्थ है? साधारणतया 'कर्म' 'कृ' धातु से निकलता है जिसका अर्थ है क्रिया।

कणाद मुनि वैशेषिक दर्शन मे कर्म का यह लक्षण करते है :—

एक द्रव्यमगुणं संयोग विभागेष्वनेपक्षकारणमिति कर्म लक्षणम्। (१ । १ । १७)

अर्थात् कर्म वह है जो एक द्रव्य के आश्रित हो, गुण न हो और संयोग तथा विभाग में अनपेक्षकारण हो।

तर्क दीपिका मे अन्नंभट्ट ने यह लक्षण दिये हैं :—

संयोग भिन्नत्वे सति संयोग समवायि कारण कर्म ।

अर्थात् कर्म वह है जो संयोग तो न हो परन्तु संयोग का समवायि कारण अवश्य हो।

इस प्रकार पॉच कर्म गिनाए गए हैं :—

उत्क्षेपणा वक्षेपणा कुञ्चनप्रसारणगमनानि पंच कर्माणि ।

अर्थात (उत्क्षेपण) ऊपर को चलना (अवक्षेपण) नीचे को आना (आकुञ्चन) सकुड़ना (प्रसारण) फैलना तथा (गमन) चलना।

इन लक्षणो तथा प्रकारो से ज्ञात होता है कि प्रत्येक गति का नाम कर्म है। वायु का चलना, पृथ्वी का आकर्षण करना, अग्नि की ज्वाला का उठना, आम का वृक्ष से गिरना, चीटी का दौड़ना, मनुष्य का निमेष तथा उन्मेष आदि क्रियायें करना यह सब कर्म है।

परन्तु जव हम "कर्म तथा फल" की मीमासा करते हैं तो कर्म का यह अर्थ नही लेते। यहॉ हमको कर्म के योग-रूढ़ी अर्थ लेने होते हैं। इस अर्थ मे प्रत्येक क्रिया या गति का नाम कर्म नही है। वस्तुतः कर्म वह शारीरिक, मानसिक या वाचिक क्रिया है जिसके लिए कर्त्ता को उत्तरदाता होना पड़ता है और जिसके लिए वह सुख या दुःख रूपी फल भोगता है।

हमने ऊपर कर्मों के दो दृष्टान्त दिए हैं एक चोरी तथा दूसरी नौकरी। इन दोनो मे कर्त्ता अपने २ कर्मों का उत्तरदाता है? कारागार तथा वेतन प्राप्ति भी क्रियायें हैं परन्तु उन की गणना कर्म की कोटि मे नही है क्योंकि कर्त्ता इनके लिए स्वतन्त्र नही है।

इसलिए प्रथम तो कर्म करने में कर्त्ता को स्वतन्त्र होना चाहिए। यदि स्वतन्त्रता नही है तो उस क्रिया को कर्म नही कहेंगे। हम निमेष उन्मेष करते या श्वास प्रश्वास लेते हैं। यह क्रियायें अवश्य है परन्तु इनमें हमको स्वतन्त्रता नही है अत: इनको कर्म नहीं कह सकते। चोरी कर्म का आश्रय हमारे ऊपर है। चाहे हम उसको करें चाहे न करें। इसलिए इसका नाम कर्म है।

दूसरे कर्म जिस प्रयोजन के लिए किया जाता है या जो कर्म का अन्त होता है उसको कर्म का फल नही कहते। जैसे चोरी मनुष्य इसलिए करता है कि मुझे कुछ रुपए की प्राप्ति हो जाय, और बहुधा चोरी करने से रुपए की प्राप्ति हो भी जाती है। परन्तु यह प्राप्ति चोरी का फल नहीं है। न कर्म का अन्त ही फल है। चोरी करने का अन्त कभी धन की प्राप्ति और कभी पकड़ा जाना भी होता है परन्तु इन दोनो को हम फल नही कह सकते।

प्रयोजन का कर्म के भले या बुरे होने पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। यदि कर्म अच्छे प्रयोजन को दृष्टि मे रख कर किया गया है तो वह कर्म पुण्य कहलाता है। यदि बुरे प्रयोजन के विचार से किया गया है तो उसे पाप कहते हैं।

अब एक और प्रश्न उठता है। किस प्रयोजन को अच्छा कहा जाय? और किसको बुरा? क्योकि प्रयोजन की भलाई बुराई पर ही काम की बुराई भलाई निर्भर है। इसके लिए हमको सृष्टि क्रम के ऊपर दृष्टि डालनी चाहिए। सृष्टि के नियम एक विशेष उद्देश्य की पूर्त्ति करते है। वह उद्देश्य है जीवो का कल्याण। यद्यपि जीव अपने काम करने मे स्वतन्त्र है तथापि यह स्वतन्त्रता परिस्थिति के अन्तर्गत रहती है। एक प्रकार से जीव कर्म करने मे स्वतन्त्र है और दूसरी अपेक्षा से परतन्त्र भी है। अर्थात् उसकी स्वतन्त्रता की मर्य्यादा है उससे बाहर वह नही जा सकता। उस मर्य्यादा के

भीतर ही उसको अमुक काम करने, न करने या उलटा करने की स्वतन्त्रता है। यह परिस्थिति उसकी बनाई नही है। वह सृष्टि निर्माता ने रची है। यह परिस्थिति इस प्रकार रची गई है कि जीव को काम करने स्वतन्त्रता भी रहे और उसका अन्त मे कल्याण भी हो।

अब जो प्रयोजन इन नियमो की पुष्टि में होता है वही पुण्य है और जो इनको उलङ्घन करता है वही पाप है। इसी को दृष्टि मे रखते हुये ऋषि मुनियो ने या धर्म ग्रन्थो ने पाप और पुण्य की विवेचना कर दी है। साधारण मनुष्य सृष्टि के नियमों को भली प्रकार जान नही सकता और न प्रत्येक कार्य्य मे यह निश्चय कर सकता है कि अमुक कार्य्य सृष्टि-नियमो के अनुकूल होगा या प्रतिकूल। इस लिये उसके लिये निरपेक्षिक पुण्य पाप का उल्लेख है अर्थात्

सत्यं वद, धर्म चर इत्यादि।

परन्तु कही कहीं मनुष्य की परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि पुण्य करने की इच्छा करता हुआ भी किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाता है। उसे पता नही चलता कि यह काम करना पुण्य है या वह काम करना, ऐसे असमजस की अवस्था मे उसे अपने आत्मा की आवाज़ या आप्त पुरुषो का सहारा लेना चाहिये।

वेदों मे दो प्रकार के कर्म बताये गये हैं एक निष्काम कर्म और दूसरे सकाम। यह दोनो विभाग पुण्य के है पाप के नहीं। पाप तो सदा सकाम ही होता है निष्काम हो नही सकता। निष्काम पुण्य को सकाम पुण्य से इसलिये उत्कृष्ट कहा है कि उसमे स्वार्थ न होने से उसके प्रयोजनो मे कभी सन्देह नही हो सकता। साधारणतया मनुष्य जब किसी काम का प्रयोजन निश्चय करता है तो उसकी सुरी और आसुरी प्रकृतियो अर्थात् वासनाओं मे एक प्रकार का युद्ध होता है

और बहुधा ऐसा होता है कि उसकी आसुरी वासनायें सुरी वासनाओं को दबा लेती है। इसलिये सकाम कर्म करने मे उसकी अवस्था संदिग्ध सी होती है। कामना स्वयं एक अच्छी भावना नहीं है। जिस प्रकार धूल में बैठ कर संध्या करने से भी वस्त्रों के मैले होने का भय रहता है, इसी प्रकार सकाम अच्छे कर्म करने मे भी प्रयोजन मे स्वार्थ आने का भय रहता है। कल्पना करो कि दान देना एक पुण्य कर्म है। यह दान दो रूपों मे दिया जा सकता है एक सकाम रूप मे और दूसरे निष्काम रूप में। यदि दान देने मे ख्याति के उद्देश्य को भी शामिल कर दिया जाय तो बहुधा ऐसा होगा कि योग्य पात्र को दान देने के स्थान मे ऐसे को दिया जायगा जिसमे ख्याति अधिक हो सके और इस प्रकार दान की महिमा में बहुत कुछ बट्टा लग जाने का भय रहेगा। परन्तु यदि दान निष्काम भाव से किया जाता है, यदि उसमे ख्याति या यश की प्राप्ति का उद्देश्य शामिल नहीं है तो उसके अनुचित होने का भय नहीं रहेगा। वस्तुतः निष्काम कर्म वही हैं जो सर्वथा सृष्टि के नियमो की पुष्टि को दृष्टि मे रख कर किये जाते हैं।

अब देखना यह है कि हमारे कर्मों का सृष्टि के नियमो पर तथा हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ता है। यह बात याद रखना चाहिए कि सृष्टि के नियम ऐसी दृढ़ता से काम करते हैं कि उनका उथल पुथल कर देना हमारे कर्मो की सामर्थ्य से बाहर है। चाहे हमारा उद्देश्य इन नियमो की पुष्टि हो चाहे इनका उल्लङ्घन। हम सृष्टि के नियमो के उल्लङ्घन की इच्छा मात्र कर सकते हैं उनका उल्लङ्घन नही कर सकते। ईश्वर ने इन नियमो को इस प्रकार स्थिर किया है कि हमारे समस्त प्रयत्न इनको उथल पुथल करने मे व्यर्थ हो जाते है। एक अंगरेजी कवि ने ठीक कहा है :—

There is a divinity that shapes our ends,
Rough hew them how we will,

अर्थात् हम चाहे किसी प्रकार से अपने कामों को बिगाड़ा करें, पर ईश की कृपा से वह ठीक हो हो जाते हैं अर्थात् हमारी बुरी भावनायें सृष्टि को कभी ऐसी अवस्था में नहीं ला सकती कि वह जीवो के लिये कल्याणकारी न रहे।

यह बात एक दृष्टान्त से समझ मे आ सकती है। कल्पना कीजिये कि एक राजा है जिसके राज्य मे प्रत्येक प्रकार से सुराज्य है। उसमे पापी और पुण्यात्मा सभी बसते हैं। पापी पाप भी करना चाहते हैं, उनकी बहुधा यह इच्छा होती है कि पुण्यात्माओ को त्रास दें। परन्तु उस राज्य के नियम ऐसे सुव्यवस्थित है कि पापियो को दूसरो को कष्ट देने या राज मे विप्लव उत्पन्न करने का अवसर नही मिलता। पापी पाप करने का इच्छा अवश्य करते हैं। परन्तु यह इच्छा उन्ही को हानि पहुंचाती हैं। उस इच्छा की पूर्ति के लिये प्रयत्न द्वारा उनका मन कलुपित हो जाता है परन्तु वह किसी को सता नही पाते।

यही हाल समस्त सृष्टि का है। यदि मै चाहूँ कि अमुक पुरुष को हानि पहुँचा दू, तो मेरी यह इच्छा कभी पूर्ण न होगी। परन्तु वह इच्छा या उस इच्छा से प्रेरित किये हुये काम मेरे आत्मा पर बुरा प्रभाव अवश्य डालेंगे। कभी कभी ऐसा होता है कि हम दूसरो को कष्ट देने मे सफल हो जाते हैं। परन्तु हमारी यह भूल है कि हम उन कष्टो को अपने कर्मों से सम्बद्ध करते हैं। कल्पना कीजिए कि मैंने इच्छा की कि अमुक पुरुष को मार डालूं। यह इच्छा मै स्वतन्त्रता से कर सकता हूँ। इसकी पूर्त्ति के लिये प्रयत्न भी कर सकता हूँ। परन्तु जब तक उस पुरुष की मृत्यु उसी के

कर्मो का फल न होगी उस समय तक मैं कभी उसके मारने में कृतकार्य्य नही हूँगा। यह कर्मो और फलों का तांता सृष्टि मे इस प्रकार फैला हुआ है कि बहुधा हमको धोखा हो जाता है और हम समझने लगते हैं कि अमुक पुरुष को मारने या जिलाने वाले हम हैं। इसीलिये गीता मे श्रीकृष्ण कहते हैं कि कुरु लोग तो मरे हुये ही हैं। हे अर्जुन तू केवल निमित्त मात्र हो जा।

हां! जो कर्म करते हैं उनका सस्कार हमारे आत्मा पर अवश्य पड़ता है। वह उसी प्रकार होता है जैसे एक मोम की पट्टी पर किसी वस्तु के चिह्न बन जायं। इन चिह्नों का नाम ही संस्कार है। यह संस्कार फल नही है। वस्तुतः यह कर्मों के चिह्न है जो हमारे आत्मा पर पड़ते हैं। या यो कहना चाहिये कि हमारे सूक्ष्म शरीर पर पड़ते हैं।

शरीर तीन प्रकार के हैं। एक स्थूल शरीर, दूसरा सूक्ष्म, तीसरा कारण शरीर। स्थूल शरीर दो कोषो का नाम है अर्थात् अन्नमय कोष तथा प्राणमय कोष। यह शरीर जो हमको दीखता है, जिसमे हाथ, पैर आदि इन्द्रियाँ उपस्थित है स्थूल शरीर है। जो अन्न जल हम खाते पीते हैं उनसे यह शरीर बनता है इसलिये इसको अन्नमय कोष कहते हैं। परन्तु इसी स्थूल शरीर मे सूक्ष्म प्राण भी हैं। परन्तु इसी स्थूल शरीर मे सूक्ष्म प्राण भी हैं प्राणमय कोष कहलाते हैं।

दूसरा सूक्ष्म शरीर है। इसके दो भाग हैं मनोमय कोष और ज्ञानमय कोष। यह स्थूल नही है। हम इसको देख नहीं सकते। परन्तु अपने अन्तःकरण की वृत्तियों पर विचार करने से इसका पता लग सकता है। जब हम स्वप्न देखते हैं तो उस समय स्थूल शरीर से हमारा कोई सम्बन्ध नही रहता। परन्तु स्थूल शरीर द्वारा किये हुये व्यापारो की प्रतिच्छाया हमारे सूक्ष्म शरीर पर उसी प्रकार

बनी रहती है जैसे फोटो की प्लेट पर बाहर का दृश्य। ज्ञान, स्मृति, सुख, दु:ख आदि सब इसी सूक्ष्म शरीर की वृत्तियाँ हैं।

तीसरा कारण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म है। इसका स्वप्न में भी भान नहीं होता। इसको केवल आनन्दमय कोष कह सकते हैं। जीव जिस समय सुषुप्ति अवस्था में होता है उस समय इसका अनुभव करता है। वस्तुतः इसका अनुभव भी केवल आनन्द रूप ही होता है क्योंकि उस समय सुख, दुख, ज्ञान आदि की वृत्तियां तिरोभूत हो जाती है।

यह तीनों शरीर आत्मा के ऊपर इस प्रकार मढे हुये हैं जैसे किसी वस्तु के ऊपर तीन खोल हों यह खोल क्रमशः स्थूल होते गये हैं। जो कुछ हम करते है उसका प्रभाव पहले स्थूल शरीर पर पड़ता है। परन्तु यह वहीं रह नहीं जाता किन्तु छन कर सूक्ष्म शरीरो तक पहुँच जाता है। भेद केवल इतना है कि छनने में प्रभाव की स्थूलता दूर हो जाती है। सूक्ष्म शरीर स्थूल प्रभावों को ग्रहण नहीं कर सकते। केवल सूक्ष्म सार ही उन तक पहुँचता है। इसका कुछ २ दृष्टान्त फोटोग्राफी में मिल सकता है। ६ इंच लम्बी और ३ इंच चौड़ी प्लेट पर एक पचास फुट ऊंचे मकान की आकृति आती है। परन्तु उस छोटे से प्लेट में इतने बड़े मकान के लिये स्थान नहीं है। अतः जो प्रतिच्छाया बनेगी उस में मकान की स्थूलता न होगी। केलल उसका सार रूप होगा! इसी प्रकार हमारे कर्मों के प्रभावों का हाल है। यह प्रभाव सूक्ष्म और सार रूप में होते हैं। इन्हीं को सस्कार कहते है।

सूक्ष्म और सार रूप संस्कारों से क्या तात्पर्य है? इसको हम एक और दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। एक मनुष्य एक एक पैसा करके धन कमाता है। जब उसके पास ६४ पैसे हो जाते हैं तो वह उनके स्थान में एक रुपया रख लेता है। वस्तुतः एक रुपये में ६४

पैसों की स्थूलता नहीं है। यह केवल पैसों का सार रूप है। एक रुपये में वही काम निकल सकता है जो ६४ पैसों से निकलता। परन्तु रुपये के रखने में सुगमता है। जब उसके पास सौ रुपये हो गये तो वह रुपयों का रखना भी पसन्द नहीं करता। किन्तु इनका भी सार और सूक्ष्म रूप सौ रुपये का नोट रख लेता है। सौ रुपये का नोट सौ रुपये नहीं हैं। उसमें सौ रुपयों की स्थूलता नहीं है। परन्तु वह सौ रुपयों का सार रूप अवश्य है।

यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त को लीजिये। एक मनुष्य ने देवदत्त के घर से १००० रुपये चुराये, यज्ञदत्त के घर से २००० चुराये और सोमदत्त के घर से ५००० रुपये चुराये। स्थूल शरीर पर उन तीनों कर्मों का प्रभाव है। ८००० रुपयों का भी और उन मनुष्यों का भी जिनका धन चुराया गया। परन्तु सूक्ष्म शरीर को उतने स्थूल प्रभावों की आवश्यकता नहीं। सूक्ष्म शरीर पर तो केवल यह संस्कार होगा कि उसने चोरी की। चोरी का संस्कार उसके उन कर्मों से वही सम्बन्ध रखता है जो एक रुपया या सौ रुपये का नोट ६४०० पैसों से। इस प्रकार ज्यों ज्यों उसके बुरे कर्म बढ़ते जाते हैं उनके सूक्ष्म संस्कार उसके सूक्ष्म शरीर पर पड़ते जाते हैं। सूक्ष्म शरीर विस्तृत लेखा रखने का कष्ट सहन नहीं करता। उसको बोझ बाँधने की आवश्यकता नहीं है। वह केवल उनका सार रूप ले लेता है। यह संस्कार स्थूल शरीर को बुरे कर्म करने में वही सुविधा उत्पन्न करते हैं जो सौ रुपये का नोट पैसे भुनाने में। जहाँ सराफ होगा वहाँ आप का सौ रुपये का नोट भुन सकेगा। इसी प्रकार जहाँ परिस्थिति होगी वहाँ चोरी के संस्कारों वाला मनुष्य शीघ्र ही चोरी कर सकेगा। यही कारण है कि जिस मनुष्य को शराब पीने की आदत है उसके मुँह में शराब की बोतल देखते ही पानी भर आता है।

इसको और स्पष्ट करने के लिये हम एक और दृष्टान्त देते हैं। पाठशाला मे लड़के गणित सीखते हैं। प्रथम उनको स्थूल उदाहरण दिये जाते हैं। मोहन ने सोहन से ५००० रुपये उधार लिये और ५ रुपये सैकड़ा के दर से ४ वर्ष मे १००० रुपया व्याज दिया। इत्यादि। आरम्भ मे लड़को को ऐसे पचासों स्थूल उदाहरण दिये जाते हैं। परन्तु क्या उनको इन सब उदाहरणों के स्मरण रखने की आवश्यकता है? कदापि नही। उनका मस्तिष्क ही इतना बड़ा नही कि उसमे यह सब समा सके। इस लिये वह सार रूप व्याज के नियम को याद कर लेते है अर्थात् $\frac{\text{मूलधन} \times \text{वर्ष} \times \text{दर}}{१००}$ यह उन सब उदाहरणो का सार रूप है। अब उनको सोमदत्त, यज्ञदत्त, ५००० रुपये आदि के याद रखने की आवश्यकता नही। परन्तु जब वह अधिक गणित पढ़ते हैं तो यह नियम याद रखना भी उनको बोझ मालूम होता है। जिस मनुष्य के पास सौ सौ रुपये के १००० नोट हो वह उनको भी बोझ समझ कर उनका एक लाख रुपये का एक नोट रख लेना चाहता है। इसी प्रकार विशेषज्ञ गणित के इन छोटे छोटे नियमो के स्थान मे बीज गणित के सूक्ष्म नियम या सूत्र ही याद कर लेना पर्याप्त समझते है। इन सूत्रो से ही उनका काम निकल जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान की यह सूक्ष्म अवस्थाये आती हैं उसी प्रकार सस्कारो की भी सूक्ष्म अवस्थायें होती है। कारण शरीर पर सूक्ष्म तम संस्कार पड़ते है। और यही संस्कार मृत्यु के पश्चात् एक जन्म से दूसरे जन्म मे साथ जाते हैं। लोग व्यर्थ आक्षेप करते हैं कि एक जन्म का किया दूसरे जन्म के याद नही रहता। याद स्थूल वस्तुयें नही रहती अतिसूक्ष्म सस्कार तो ज्यो के त्यों दूसरे जन्म मे चले जाते हैं। और वही परिस्थिति पाकर फूट उठते हैं। यही तो कारण है कि

भिन्न २ मनुष्यों की प्रकृतियां .भिन्न २ होती हैं। नाक, कान, शरीर आदि एक से होते हुए भी हम देखते हैं कि एक मनुष्य का व्यवहार दूसरे से सर्वथा भिन्न होता है क्योंकि भिन्न २ मनुष्य अपने पूर्व शरीरों के उपार्जित संस्कारो का अति सूक्ष्म रूप अपने साथ लाते हैं। यही उनका धन है। यही सम्पति है, पैसे या आनो के रूप मे भी नही, रुपयो के रूप मे भी नही, किन्तु अति सूक्ष्म नोटों के रूप मे। एक एम० ए० के गणित के परीक्षार्थी से कोई यह नही पूछता कि तुमने तीसरी कक्षा मे जो देवदत्त सोमदत्त के ऋण लेने के विषय मे पढ़ा था उसे क्यो भूल गए। यह तो-भूलने के ही लिए था। इसकी स्थूलता तो छनने मे ऊपर ही रह गई। उसका रस रूप उपस्थित है और वही पर्याप्त है।

यह हुआ संस्कारो के विषय का संक्षिप्त वर्णन। परन्तु यहाँ हमारा उद्देश्य सस्कारो की मीमांसा करना नही है। हमारा प्रयोजन तो कर्म और फल का आस्तिकता से सम्बन्ध दिखा देना है। बहुत से लोग कर्म को भूल भुलैयाँ कह कर हँसी उड़ाया करते है और वह हिन्दू लोगो को पागल समझते हैं। परन्तु यह उनकी स्वयं मूर्खता है। वस्तुत: कर्म की महिमा इतनी ही जटिल है जितना मनुष्य का जीवन और विना कर्म की मीमांसा किए मनुष्य जीवन के विषय में कुछ समझ मे भी नही आता। हँसी उड़ाना आसान है। परन्तु कर्म के चक्कर से बचना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है।

यह संस्कार अर्थात् संस्कारो का अति सूक्ष्म या सार रूप ही कर्म का अन्त है। स्थूल शरीर से किए हुए कर्म का स्थूल शरीर में ही अन्त नही हो जाता। मैंने यदि आज एक मनुष्य को गाली दे दी, तो यह स्थूल कर्म हुआ। मैंने समझा कि यह कर्म यहाँ समाप्त हो गया। परन्तु नहो। यहाँ तो केवल आरम्भ हुआ है। अन्त तब होगा जब कारण शरीर मे इसका सार रूप बैठ जायगा। बहुत से

लोग संस्कार को ही कर्मों का फल कहते हैं। गौण रूप से यह कहा जा सकता है। परन्तु वास्तविक रूप से यह ठीक नहीं है। संस्कार कर्म का अन्त है। कर्म का फल नहीं।

अब फल पर विचार कीजिये। जो संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं वह दो प्रकार के होते हैं एक तो उन्नति के साधक जिनको हम 'इष्ट' कहते हैं और दूसरे उन्नति के बाधक जिनको 'अनिष्ट' कहते है। आवश्यकता है कि इष्ट संस्कारों को सुरक्षित रक्खा जाय और अनिष्ट को धोया जाय। इष्ट को सुरक्षित रखने के लिये सुख और अनिष्ट को धोने के लिये दुःख होता है यही कर्म का फल है। यह कर्त्ता के अधिकार मे नहीं किन्तु ईश्वर के अधिकार मे है इसीलिये गीता मे कहा है,

कर्मण्येव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

स्थूल कर्म करना, उनके सार रूप का सूक्ष्म शरीर तक पहुँचना, उसके अति सार रूप संस्कार का कारण शरीर तक जाना। यहां तक तो मनुष्य के अधिकार मे था। परन्तु उन संस्कारों मे से इष्ट की रक्षा और अनिष्ट से विनाश की सामग्री एकत्रित करना जीव के अधिकार मे नहीं रहता। वस्तुतः इस संस्कार से फल उसी प्रकार नहीं फूटता जैसे आम के वृक्ष से फल निकलता है। आम का फल आम के वृक्ष मे से ही उत्पन्न हुआ है वह वस्तुतः आम के वृक्ष का ही भाग है। परन्तु कर्म का फल कर्म मे से ही फूट कर नहीं निकला। वह कर्म का भाग नहीं है। वह कर्म के कारण बाहर से आया है। कर्म उसका उपादान नहीं किन्तु निमित्त है। चोर को कारागार जो मिला है वह चोरी कर्म का भाग नहीं है। वस्तुतः वह कर्म मे से फूट कर नहीं निकला किन्तु चोरी उसका निमित्त है। चोरी के कारण यह बाहर से आया

है। उसका देने वाला कोई और ही है। इसी प्रकार जो पुरुष एक मास पुलिस में नौकरी करता रहा, उसका वेतन उस नौकरी रूपी कर्म का भाग नहीं है न कर्म से ही निकला है किन्तु वेतन नौकरी के निमित्त होने के कारण राजा के कोष से आता है। इसीलिये न्याय दर्शन मे गोतम जी कहते हैं :—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ३ । २ । ६३

पूर्व जन्म में किये हुए कर्म के फल के रूप मे शरीर की उत्पत्ति होती है। अर्थात् जो शरीर हम इस जन्म मे पाते हैं वह पूर्व जन्म के संस्कारों में से इष्ट की रक्षा और अनिष्ट के विनाश के लिये दिया जाता है।

परन्तु यह शरीर कौन देता है ? क्या जीवात्मा स्वयं देता है ? कदापि नहीं। यदि जीवात्मा का अधिकार होता तो वह अपने लिये दुःख कभी न लेता। चाहे जैसा कर्म करता प्राप्ति सुख की ही करता। क्योंकि अनिष्ट कर्म और अनिष्ट सस्कार भी उसने सुख की प्राप्ति के भ्रम से ही किये थे। अब इन संस्कारों पर उसका कोई अधिकार नही रहा अब तो संस्कारो ने उस पर अधिकार जमा लिया। वह चाहता भी है कि शराब न पियूं। शपथें खाता है। व्रत रखता है प्रतिज्ञायें करता है परन्तु शराब की बोतल सामने आते ही वह सब प्रतिज्ञाओ को भूल जाता है।

फिर क्या यह संस्कार स्वय शरीर को उत्पन्न करते हैं ? यह भी नही। संस्कार जड़ हैं। उनमे शरीर उत्पत्ति की सामर्थ्य नहीं। दूसरे यदि अनिष्ट संस्कार शरीर को बना सकते या बनाते तो अपने अनुकूल अर्थात् अनिष्ट शरीर ही बनाते। कोई अपने नाश के लिये सामग्री उपस्थित नहीं करता। यदि शरीर पर मैल जम गया है तो मैल स्वयं साबुन नही लायेगा। उसके दूर करने के

लिये साबुन लगाने का कोई और निमित्त चाहिये। इसलिये गोतम जी का एक और सूत्र है :—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् । (न्याय दर्शन ४ । १ । १९

पहले सूत्र मे कहा था कि पूर्व जन्म के कर्मों की वजह से शरीर मिलता है। इस सूत्र मे कहते हैं। कि पूर्व जन्म के कर्म स्वयम् ही फल रूपी शरीर को उत्पन्न नही करते किंतु कार्यों के अनुसार ईश्वर उनका फल देता है।

इस पर पूर्व पक्ष मे एक और सूत्र है :—

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः । ४ । १ । २०

अर्थात् पुरुष के कर्म न हों तो फल न मिले। इसलिये ईश्वर के मानने की क्या आवश्यकता है ?

इसका उत्तर शास्त्रकार देते हैं :—

तत्कारितत्वादहेतुः ॥ ४ । १ । २१

अर्थात् यह आक्षेप ठीक नही। क्योंकि कर्म का फल ईश्वर आधीन है।

इस प्रकार कर्म का फल मिलने से सिद्ध होता है कि ईश्वर अवश्य है। ईश्वर न्यायकारी है अतः वह फल अवश्य कर्म के अनुकूल देगा।

पुण्यः पुण्येन पापः पापेन (बृहदारण्यक ३ । २ । २३)

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुण्य स्वयं अपना फल दे लेंगे और पाप स्वय। बहुत से लोग जैसे जैनी इत्यादि कहते हैं कि कर्म स्वयं अपना फल देता है अतः ईश्वर का अस्तित्व मानने की

आवश्यकता नहीं। यदि वस्तुतः कर्म स्वयं भी अपना फल दे सकता तो भी सृष्टि रचना के लिये ईश्वर के अस्तित्व को मानना आवश्यक था जैसा कि हम पिछले अध्याय में लिख चुके हैं। परन्तु जैनी लोगों को यह भ्रम कर्म की मीमांसा के न समझने के कारण होता है। वह संस्कार को ही कर्म का फल समझ बैठे हैं। वस्तुतः वह कर्म का अन्त है फल नहीं। इसके दृष्टान्त लोक में भी मिलते हैं। कल्पना कीजिये कि मैं अध्यापक हूं। नित्य विद्यार्थियों को पढ़ाता हूँ पढ़ाना मेरा कर्म है। इस पढ़ाने के सूक्ष्म संस्कार मेरे आत्मा पर बैठते जाते हैं, अर्थात् मेरा ज्ञान और मुझ में विद्यार्थियों के लिये प्रेम बढ़ता है। परन्तु यह संस्कार फल नहीं है। मुझे वेतन जो मिलता है वह फल है, इस वेतन का उपयोग यह है कि जो इष्ट संस्कार है, उसकी रक्षा या उनमें वृद्धि हो। यदि मैं अध्यापन में चूक करता हूँ। तो मेरे आत्मा पर अनिष्ट संस्कार बैठते हैं। यह भी मेरी चूक का अन्त है, फल नहीं। फल दण्ड स्वरूप मिलता है जिससे यह अनिष्ट संस्कार शीघ्र ही धुल जायं। वेतन की प्राप्ति या दण्ड का मिलना उन संस्कारों के कारण होता है परन्तु उन संस्कारों द्वारा नहीं होता। यह तो अधिकारी वर्ग की की ओर से होता है।

इसलिये कर्म फल का नियम ईश्वर की सिद्धि में एक बहुत बड़ा प्रमाण है। कर्मफल के वास्तविक रूप को समझने से नास्तिकों के बहुत से आक्षेप दूर हो सकते हैं। अर्थात

(१) ईश्वर दुःख क्यों देता है?

(२) ईश्वर कीट पतंग आदि प्राणियों का शरीर क्यों प्रदान करता है।

वस्तुतः दुःख क्या है? अनिष्ट संस्कारों के लिये साबुन रूप है। न जाने कितने बुरे संस्कारों से हमको दुःख द्वारा ही छुटकारा

मिलता है ? जिसके पेट में विकार है उसको रेचक औषधि देनी ही पड़ती है। जिसके फोड़ा है उसको चीरा देने में ही उसका कल्याण है। यदि हम मनुष्येतर योनियो पर विचार करें तो यह भी उसी कल्याण को दृष्टि मे रख कर दी जाती हैं। जैसे कल्पना कीजिये कि आँख से बुरे कर्म करने के कारण मनुष्य के आत्मा पर बहुत से अनिष्ट संस्कार जम गये। यदि उसको आँख फिर मिलती तो वह अनिष्ट संस्कार आंख द्वारा बुरे कर्म करने के लिये उसे फिर प्रेरणा करते। अतः यदि उस जीव को दूसरे जन्म मे आँखें न दी जायं अथवा ऐसी योनि मे डाला जाय जहां आंख को उस प्रकार प्रयोग मे लाने का कोई अवसर नही है तो अन्य परिस्थितियो का भाव और एक विशेष परिस्थिति का अभाव उन अनिष्ट सस्कारो को नाश करने मे सहायता देगा।

चूंकि मनुष्य के आत्मा पर इष्ट और अनिष्ट सभी प्रकार के संस्कार जमा हुआ करते हैं और उनके परम्यूटेशन अर्थात् अंक-पाश तथा कौम्बीनेशन अर्थात् एकादिभेद (Permutation and combinations) के कारण भिन्न भिन्न प्रकार हो जाते हैं अतः इसमे से किसी की रक्षा और किसी के विनाश को दृष्टि में रख कर योनियाँ भी अनेको होती हैं। इन योनियो से ईश्वर की क्रूरता नहीं किन्तु अत्यन्त दया प्रकट होती है। जो लोग आवागमन या पुनर्जन्म नही मानते वह जीवन की जटिल समस्या का कुछ भी समाधान नही कर सकते और न सच्चे आस्तिक ही बन सकते हैं क्योकि उनकी समझ मे ही नही आता कि संसार मे इतना दुःख क्यों है।

वेदान्त दर्शन में व्यास मुनि ने लिखा है :—

वैषम्यनैघृ‍ण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहिदर्शयति ।२।१।३४

अर्थात् ईश्वर में न विषमता है न निर्दयता। क्योंकि वह भिन्न भिन्न योनियों को कर्म की अपेक्षा से देता है।

पुनर्जन्म न मानने वाले मुक्ति के प्रश्न का भी कुछ समाधान नहीं कर सकते। ईसाई तथा मुसलमान लोग मुक्ति का होना तो मानते हैं पुनर्जन्म नहीं मानते। वह कर्मों के संस्कारों की महत्ता को नहीं समझते। जो इसको समझेगा वह कभी एक जन्म में मुक्ति नहीं मान सकता। क्योंकि कारण शरीर पर जो संस्कार पड़ेंगे उसमें से कुछ इष्ट होंगे कुछ अनिष्ट। अनिष्टों को धोने की आवश्यकता होगी। यह योनियों द्वारा ही हो सकेगा और इष्टों की भी कई अपेक्षा से कई श्रेणियाँ होंगी। यह इष्ट दूसरे जन्म में अपने से सूक्ष्म इष्टों को उत्पन्न करेंगे और यह सूक्ष्म अपने से भी सूक्ष्म इष्टों को तीसरे जन्म में। इस प्रकार जब इष्टों की पराकाष्टा हो जायगी उसी समय पूर्ण ज्ञान होगा। और

ज्ञानान्मुक्ति (सांख्य दर्शन ३।२३)

ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होगी।

इस प्रकार पुनर्जन्म तथा कर्म फल से ईश्वर का होना सिद्ध है। पुनर्जन्म का ईश्वर अस्तित्व के साथ इतना सम्बन्ध है कि कई धर्म ग्रन्थों में पुनर्जन्म न मानने को ही नास्तिकता कहा गया है। इसका कारण ऊपर के कथन को पढ़कर स्पष्ट हो सकता है।

वस्तुतः कर्म फल तथा पुनर्जन्म ही है जहाँ जीव का ईश्वर से निकटस्थ सम्बन्ध होता है।

दसवाँ अध्याय

शंका समाधान

आस्तिकवाद पर भिन्न २ पुरुषों ने भिन्न २ आक्षेप किये हैं। इनमे से कुछ का तो पिछले अध्याय मे यथास्थान उत्तर दिया जा चुका है। परन्तु बहुत से ऐसे हैं जिनका अलग ही वर्णन करना उचित प्रतीत होता है।

१ ली शंका

(१) पहली शंका यह है कि सृष्टि क्रम से यह तो पता चलता है कि इसका बनाने वाला बुद्धिमान् है परन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि ईश्वर से ही सब पदार्थों की उत्पत्ति हुई, अर्थात् जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से घड़ा बना देता है इसी प्रकार ईश्वर ने भी प्रकृति के परमाणुओं को विचित्र रीति से रच दिया। इससे तुम्हारा ईश्वर कुम्हार के तुल्य रह जाता है। वह केवल रचयिता (former) है उत्पादक (creator) नहीं।

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (Kant) ने भी यही आक्षेप किया है।

इसका भावानुवाद नीचे देते हैं :—

‡सृष्टि रचना-द्वारा ईश्वर को रचयिता सिद्ध कर सकते हैं, उत्पादक (बिना उपादान कारण के उत्पन्न करने वाला) नहीं।

---

‡"This proof gives rise to the following objec-

दूसरे इसमे ईश्वर का बुद्धिमान् होना तो सिद्ध होता है परन्तु सर्वज्ञ या पूर्णज्ञ होना नहीं क्योंकि संसार मे बहुत सी त्रुटियां दिखाई देती हैं जिनका हमारे पास कोई समाधान नहीं है।

काण्ट के पिछले आक्षेप अर्थात् सृष्टि सम्बन्धी त्रुटियों की विवेचना हम आगे करेंगे। पहला आक्षेप आक्षेप नहीं किन्तु सिद्धान्त की पुनरुक्तिमात्र है। यह शंका उन लोगो के लिये हो सकती है जो ईश्वर को ऐसी सत्ता मानते है, जो बिना किसी अन्य पदार्थ के शून्य से ही सब वस्तुये उत्पन्न कर देती है। हम केवल ईश्वर को ही नित्य पदार्थ नहीं मानते किन्तु जीव और प्रकृति को भी नित्य मानते हैं। हमने पिछले अध्याय मे कई स्थानो पर प्रकट कर दिया है कि ईश्वर वह सत्ता है जो जीव और प्रकृति को संसार के रूप मे परिवर्त्तित करती है। ठीक उसी प्रकार जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़े को बनाता है। या घड़ी साज घड़ी को। जो लोग यह मानते हैं कि केवल ईश्वर ही नित्य है और वही इस सृष्टि के समस्त पदार्थों को बिना अन्य किसी वस्तु के उत्पन्न कर देता है उनको न केवल इस आक्षेप का उत्तर देना ही कठिन है किन्तु हमारी ओर से भी अनेक आक्षेप हो सकते हैं, जिनका कोई उत्तर

---

tions .—1st it proves that the *form* of the world is contingent, but not its *matter* It would lead us, therefore, to infer, at most an *architect* of the world, but not a *creator*, 2nd, from the indication of design found in the world we can only reason to a cause that is proportionate to the number and value of these indications. This proof would lead us, therefore, to infer cause that was *most* wise, but not to an absolutely wise cause, since our experience makes known to us nothing absolute and since, moreover, besides these signs of wisdom, experience shows no irregularities and imperfections which we are unable to explain."

ही नहीं हो सकता। जो लोग केवल ईश्वर को ही नित्य पदार्थ मानते हैं उनके लिये सबसे कठिन समस्या तो यह है कि वह ईश्वर की सत्ता मे सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कोई प्रयोजन नहीं बता सकते। यदि सृष्टि से पहले केवल ईश्वर ही ईश्वर था और उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु न थी तो ईश्वर ने सृष्टि क्यों बनाई? जो कुछ कार्य होता है वह या तो अपने लिये या दूसरे के लिये। यदि कहो दूसरे के लिये, तो यह ठीक नही क्योकि ईश्वर से भिन्न दूसरा कोई है नही। यदि कहो अपने लिये. तो प्रकट होता है कि सृष्टि की आवश्यकता ईश्वर के लिये है। जिसको आवश्यकता होती है उसके अपूर्ण होने मे कोई सन्देह ही नही, आवश्यकता की विद्यमानता ही अपूर्णता के लिये एक प्रमाण है। यदि ईश्वर को अपूर्ण मान लिया तो फिर उसकी पूर्त्ति किसी दूसरी ही सत्ता द्वारा हो सकेगी। दूसरी शका यह उठती है कि ईश्वर ने शून्य से सृष्टि बनाई या कि अपने मे से। यदि कहो कि ईश्वर ने आदि प्रकृति को शून्य से उत्पन्न किया और सृष्टि के समस्त पदार्थों को उस प्रकृति से तो इससे भी बड़ी आपत्ति उपस्थित हो जाती है। जो ईश्वर प्रकृति को उत्पन्न कर सकता था वह अन्य वस्तुओं को भी शून्य से क्यों न उत्पन्न कर सकता। सायंस से यह बात सिद्ध है कि आजकल हम किसी वस्तु को शून्य से उत्पन्न हुआ नहीं देखते। कोई न कोई वस्तु तो अवश्य चाहिये। कोई बुद्धिमान् मनुष्य यह नहीं मान सकता कि अमुक वस्तु शून्य से उत्पन्न होगई। शून्य से वस्तुओं की उत्पत्ति मानने से उस सृष्टि क्रम का भी खण्डन हो जायगा जिसके आधार पर ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया जा सकता है। यदि कहो कि ईश्वर इन वस्तुओं को तो प्रकृति से बनाता है परन्तु प्रकृति को शून्य से, तो यह ऐसी कल्पना है जिसके लिये हमारे पास न युक्ति है न उदाहरण। जो लोग

युक्ति या उदाहरण के न होते हुये भी किसी बात को मानने के लिये तैयार है वह जो कुछ चाहे मान सकते हैं। हमारा उनके साथ कोई झगड़ा नही है। परन्तु जो युक्ति प्रमाण आदि का मूल्य समझते है उनको सोच समझ कर अपने सिद्धान्त बनाने चाहिये।

यदि कहो कि ईश्वर प्रकृति को शून्य मे से नहीं किन्तु अपने मे से निकालता है जैसे मकड़ी अपने शरीर से जाला पूरती है, तो यह भी समीचीन प्रतीत नही होता। मकड़ी दो वस्तुओ से मिलकर बनी है एक चेतन जीव दूसरा प्राकृतिक शरीर। चेतन जीव उस विशेष प्रकार के परमाणु समूह अर्थात् शरीर मे से यथासमय तार निकाला करता है। तुमने मकड़ी का दृष्टान्त इस लिये दिया है कि मकड़ी की चेतनता और उसके शरीर की विद्यमानता को सिद्ध करें तो तुम्हारा सिद्धान्त वही होगा जो हमारा है। अर्थात् ईश्वर परमाणुओ से सृष्टि बनाता है। यदि कहो कि ईश्वर केवल अभौतिक, प्रकृति रहित चेतन सत्ता है। तो उसमे से भौतिक प्रकृति या सृष्टि का बनना वैसा ही असम्भव होगा जैसा शून्य से बनना। अप्राकृतिक वस्तु मे से प्राकृतिक वस्तुओ का निकलना किसी प्रकार भी सम्भव नही हो सकता। अतः सृष्टि-क्रम से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर सृष्टि का रचयिता है। हम उत्पादक, जनक, पिता आदि शब्दो को रचयिता के अर्थ मे ही लेते है। किसी दूसरे अर्थ मे नहीं। फ़्लिण्ट ने भी हमारी ही बात को एक प्रकार से स्वीकार किया है। वह यह लिखते है:—

‡ आस्तिक सृष्टि-क्रम से केवल यही सिद्ध करना चाहता है कि एक चेतन सत्ता है जो इस क्रम को उत्पन्न करती है।

---

‡"The inference which the theist requires to draw from the existence of order in the universe

इससे सिद्ध है कि इसके विरुद्ध यह आक्षेप करना जैसा बहुधा किया गया है अन्याय है कि इस सृष्टि-क्रम की युक्ति से ईश्वर केवल रचयिता (former) सिद्ध होता है उत्पादक नहीं। प्रकृति का उत्पन्न करने वाला नहीं किन्तु प्रकृति के परमाणुओं का भिन्न भिन्न रूप में रखने वाला। ह्यूम, काण्ट और जे० एस० मिल आदि तक ने इस आक्षेप को करना उचित समझा। परन्तु उनको यह ज्ञात नहीं कि इस युक्ति से केवल उतना ही सिद्ध हो सकता था जितना सिद्ध करने का प्रयोजन था अधिक नहीं" (फ्लिण्ट का आस्तिकवाद पृ० १७०-१७१)

तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर को प्रकृति के परमाणुओं से सृष्टि रखने वाला माना जाय तो इसमें न तो सायंस को कुछ आक्षेप है न मिल आदि दार्शनिकों को। परन्तु जब ईसाई या मुसलमान लोग आगे बढ़ कर ईश्वर को प्रकृति या जीवों का बनाने वाला भी मानने लगते हैं तो इनको आक्षेप होने लगता है। क्योंकि न तो सृष्टिक्रम से न अन्य युक्तियों से ही यह सिद्धान्त ठीक ठहरता है।

परन्तु फ्लिण्ट ने ईसाई होने के कारण अपने मत की पुष्टि में एक और युक्ति दी है जिसकी मीमांसा भी आवश्यक है। हम इसका

---

is merely the existence of an intelligence who produced that order. It follows that it is an unfair objection to his argument to urge, as has often been urged, that it does not directly and of itself prove God to be the *creator* of the universe, but only the *former* of it—not the author of matter, but only of the collections of matter This objection, which men even like Hume, and Kant and J. S. Mill have thought worth employing is simply that the argument does not prove more than it professes to prove." (Flint's Theism pp. 170-171)

नागरी मे अनुवाद न देकर केवल आशय मात्र लिखते हैं ।‡ फ्लिण्ट का कहना है कि जे. एस. मिल आदि यह तो मान लेते है कि क्रम किसी चेतन सत्ता का काम है। परन्तु वह यह नही समझते कि क्रम केवल ऊपरी ही वस्तु नही है किन्तु परमाणुओ के भीतर भी घुसा हुआ है। सायस निरन्तर इस बात को सिद्ध करती चली जा रही है कि प्रत्येक वस्तु में एक क्रम काम कर रहा है। फिर परमाणुओ के भीतर भी क्रम सिद्ध हो जायगा।

फ्लिण्ट का तात्पर्य यह है कि यदि क्रम को परमाणुओ के

---

‡It is remarkable, too, that those who have urged this objection have never felt that before employing it they were bound to satisfy themselves and to prove to others that order is a mere surface or superficial thing—outside of matter super-imposed on it. If order be some thing inherently and intrinsically in matter—be of its very essence—belong to what is ultimate in it, if matter and its form be inseparable——than the author of its order must have been also the author of itself, and all that this objection shows us is, that those who have employed it have had mistaken notions about the nature of matter. Now, as I have already had to indicate, modern science seems rapidly perfecting the proof of this The order in the heavens, and in the most complicated animal organisms, appears to be more wonderful than the order in the ultimate atom of which they are composed. The balance of evidence is in favour of the view that order extends as far and penetrates as deep as matter itself does. The human intellect is daily learning that it is foolish to fancy that there is anywhere in matter a sphere in which the Divine Wisdom does not manifest itself in and through order', (Flint's Theism pp 171-172)

भीतर भी सिद्ध कर दिया जाय तो जिस प्रकार सूर्य्य, चन्द्र आदि परमाणुओ से बनी हुई चीज़ो को ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ मानते हैं इसी प्रकार परमाणुओ को भी ईश्वर द्वारा उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा।

वह कहते हैं कि मनुष्य अब इस बात का अनुभव कर रहा है कि कोई स्थान ऐसा मानना (चाहे वह ब्रह्माण्ड हो या परमाणु का भीतरी अवकाश,) जहाँ ईश्वर की सत्ता का प्रकाश नही है मूर्खता है।

फ़्लिण्ट की पकड़ तो बड़ी भारी है और साधारण दृष्टि से प्रतीत होता है कि उन्होने इस युक्ति द्वारा ईश्वर को परमाणुओं का बनाने वाला भी सिद्ध कर दिया। परन्तु जिस प्रकार वह परमाणुओ के भीतर घुसना चाहते हैं उसी प्रकार यदि हेतु के भीतर भी गहरे घुसते तो उनका यह हेतु हेत्वाभास से अधिक सिद्ध न होता। मुझे याद है कि एक बार एक साधारण मनुष्य ने मुझसे इस प्रकार वार्तालाप किया था :—

वह—क्या ईश्वर इस वस्तु मे व्यापक है ?

मैं—हाँ है।

वह—यदि इसको तोड़ कर टुकड़े टुकड़े कर दिया जाय तो क्या उन टुकड़ो मे भी ईश्वर व्यापक रहेगा ?

मै—हां ! अवश्य।

वह—यदि इन टुकड़ो के भी अत्यन्त बारीक टुकड़े कर दिये जायं तो ?

मै—उनमें भी व्यापक होगा।

वह—तो फिर सिद्ध हो गया कि ईश्वर ही ईश्वर है परमाणु नहीं।

मैं—यह कैसे ?

वह—क्योंकि बारीक से बारीक टुकड़े मे भी वह व्यापक है तो फिर वही वह रह जाता और कोई वस्तु नहीं।

मैं—अरे भाई। चाहे कितने ही टुकड़े क्यों न करें, व्याप्य व्यापक का सम्बध तो रहेगा ही। टुकड़े व्याप्य के होंगे न कि व्यापक के। व्याप्य के टुकड़े करते ही व्याप्य व्यापक कैसे हो सकता है? यह तो सम्भव है कि स्थूल व्याप्य के टुकड़े होकर सूक्ष्म व्याप्य हो जाय परन्तु रहेगा तो वह व्याप्य ही। जो व्यापक स्थूल व्याप्य मे व्यापक है वही सूक्ष्म व्याप्य में भी रहेगा। व्याप्य व्यापक सम्बंध कैसे छूट सकता है?

यह तो थी एक साधारण मनुष्य की युक्ति। मै समझता था कि उसको युक्ति करना नही आता इसलिये उसको भ्रम हो गया। परंतु जब फ्लिण्ट जैसे विद्वान् भी लगभग उसी प्रकार के हेतु देने लगे तो यह बड़ी आश्चर्य-जनक बात है। वह यह समझते हैं कि परमाणु के भीतर भी क्रम (order) सिद्ध करने से परमाणु भी क्रम हो जायगा। क्रम या नियम के लिये कोई वस्तु चाहिये चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म। क्रम में और उस वस्तु मे भेद है जिसमे वह क्रम रहता है। क्रम और वस्तु एक नही हो सकते। कल्पना कीजिये कि किसी दुकान पर कुछ घड़ियां क्रम-पूर्वक रक्खी हुई हैं। उनमे एक क्रम विशेष है क्योंकि दुकानदार ने मुख्य प्रयोजन को दृष्टि मे रख कर उनको चुना है। यह क्रम और घड़ियाँ एक नही हैं। क्रम दुकानदार के मस्तिष्क से निकला है। घड़ियाँ अलग वस्तु है जिनमे उस क्रम का उपयोग किया गया है। घड़ियां क्रम नही हैं और न क्रम घड़ियां हैं। अब आप इस घड़ियो के समूह को छोड़ कर एक एक घड़ी पर आइये। जिस प्रकार सजावट मे एक क्रम था। उसी प्रकार हर एक घड़ी की बनावट मे एक क्रम है। घड़ी के पुरजे हैं उन पुरजो को एक क्रम के अनुसार रखने से ही घड़ी बनी है। परंतु न तो पुरज़ों का नाम क्रम है, न क्रम का नाम पुरज़े। इसी प्रकार आगे चलिये। एक कमानी को लीजिये। पीतल के

टुकड़ों को एक क्रम के अनुसार रखने से कमानी बन गई। उसमे भी एक क्रम उसी प्रकार है जैसे दुकान पर घड़ियो की सजावट में था। परंतु न तो टुकड़े क्रम हैं न क्रम का नाम टुकड़े हैं; टुकड़ों में क्रम है। टुकड़े क्रम नही। अब इन टुकड़ो को लीजिये। यह पीतल के टुकड़े किन्ही अणुओ को एक क्रम से रखने से बने हैं। यह अणु क्रम नहीं। और न क्रम का नाम अणु है। अणुओ में क्रम हैं। कुछ और आगे बढ़िये। यह अणु परमाणुओ से मिल कर बने हैं अर्थात् इन परमाणुओ को एक विशेष क्रम से रख देने से अणु बना है क्रम परमाणुओं मे है। क्रम परमाणु नहीं और न परमाणु क्रम है। परमाणु वह वस्तु है जिसके आगे टुकड़े नही हो सकते। अत: यह प्रश्न ही नही उठता कि उनमे भी क्रम है। यदि कहो कि हम परमाणुओ के भी टुकड़े कर सकते हैं तो हम कहेंगे कि जो टुकड़े करते करते अन्त मे दशा होगी उसी का नाम हम परमाणु रख लेगें। यदि कहो कि ऐसी दशा आने की ही नहीं। तो हम कहते हैं और बलपूर्वक कहते हैं कि यह कथन उन्मत्त के प्रलाप से बढ़ कर नहीं। टुकड़ो के जितने टुकड़े करते जाओगे टुकड़े होते जायगे। यह असम्भव है कि अधिक टुकड़े करने से उन टुकड़ो का अस्तित्व भी न रहे। यह दूसरी बात है कि वह हमको दीखें या न दीखें। हॉ एक बात तुम कह सकते हो, वह यह कि हम उन सूक्ष्मतम परमाणुओं के भी कल्पना द्वारा टुकड़े कर सकते हैं। हम ऐसे कल्पनावादियों से कुछ कहना नही चाहते जो बैठे बिठाये बिना किसी आधार के वायुमण्डल मे क़िले बनाते रहते हैं। यदि बिना आधार के कल्पना करनी है तो ईश्वर के भी कल्पना द्वारा टुकड़े किये जा सकते हैं। उसके मरने आदि की भी कल्पना की जा सकती है। ऐसी ऊट पटॉग कल्पनाओ या इन कल्पनाओं द्वारा सूझे हुये हेतुओं को हम कल्पित हेतु ही कहेंगे।

हम ऊपर बता चुके हैं कि यदि यह भी मान लिया जाय कि क्रम या नियम परमाणुओ के भीतर भी हैं तो भी यही मानना पड़ेगा कि क्रम का बनाने वाला ईश्वर है न कि उस वस्तु का जिसमें वह क्रम पाया जाता है।

फ्लिगट महोदय आगे लिखते हैं :—

†" सृष्टि क्रम की उत्पत्ति अवश्य बुद्धि से हुई। इसका क्या अर्थ है ? स्पष्टतया यही कि सृष्टि क्रम जड़ प्रकृति से उत्पन्न नही हो सकता। प्रकृति जड़ है और उससे बुद्धि या बुद्धि से उत्पन्न होने वाली घटनायें उत्पन्न नही हो सकती। इसलिये यदि प्रकृति को नित्य मानो तो साथ साथ बुद्धि (चेतन सत्ता) को भी नित्य मानना पड़ेगा। इस लिये यदि ईश्वर को सृष्टि का रचयिता ही मानते हैं और प्रकृति का उत्पादक नही मानते तो यह द्वैतवाद हो जाता है अर्थात् दो चीजें नित्य माननी पड़ती हैं एक नित्य ईश्वर और दूसरी नित्य प्रकृति। जो इस कल्पना को स्वीकार करने के लिये तैयार नही उसको अवश्य अपनी स्थिति बदलनी पड़ेगी। और कौन ऐसा मनुष्य है जो विचार करने के पश्चात भी इसको मान ले ? यह नियम है कि किसी घटना की मीमांसा करने के लिये

---

†The order of the universe must have originated with intelligence What is implied in this admission? Clear that the order of the universe cannot have originated with matter, that matter is unintelligent, and cannot account either for intelligence or the effects of intelligence. The supposition that matter is eternal must in this case be supplemented by the admission that mind is eternal In other words, the affirmation that the former of the world is merely its former—the denial that its former is also its creater—means dualism, the belief in two distinct eternal existences—an eternal mind and eternal matter.

हमको न्यूनतम कारणों को मानना चाहिये। इस लिये हम नित्य ईश्वर और नित्य प्रकृति दोनो को नहीं मान सकते जब तक यह न सिद्ध हो जाय कि केवल एक ही नित्यता सृष्टि रचना की व्याख्या करने मे असमर्थ है"। (आस्तिकवाद पृ० १७२, १७३)

यहाँ फ्लिएट महाशय यह तो मान लेते हैं कि सृष्टि क्रम से ईश्वर और प्रकृति दोनो नित्य ठहरती हैं। परन्तु उनको **न्यूनतम कारणों का नियम** (Law of parsimony of causes) बाधित करता है कि वह दोनो को नित्य मानें। क्या अच्छी युक्ति है ? न्यूनतम कारणों का नियम बाधित करता है कि हम एक बच्चे की उत्पत्ति माता पिता दोनो से मानें, जब अकेले आदम से हवा उत्पन्न हो सकती है ; जब अकेली मरियम से ईसा उत्पन्न हो सकते हैं। तो फिर ससार के प्रत्येक स्त्री और पुरुष का या तो बाप ही मानना पड़ेगा या केवल माता ही। न्यूनतम-कारणों के नियमानुसार दोनो को मानना ठीक न होगा। जिसने इस समस्या पर पूर्ण विचार किया है वह यही मानेगा कि न केवल चेतन सत्ता ही सृष्टि को बना सकती है न केवल जड़ प्रकृति ही। जड़ प्रकृति मे गति और क्रम कहाँ से आयेगा ? और अकेली चेतन सत्ता किस गति मे उत्पन्न करेगी ? सृष्टि रचना अकर्मक क्रिया नहीं है जिसका फल

Whoever is not prepared to accept this hypothesis must abandon the affirmation and denial from which it necessarily follows. And who can, after due deliberation, accept it ? *The law of parsimony of causes* absolutely forbids our assuming, for the explanation of anything, more causes than are necessary to account for it It forbids, therefore, our belief in an eternal matter and an eternal mind, *unless we can show reason for holding that one of them alone is not a sufficient cause of the universe.*" (Flint's Theism pp. 172-173).

कर्त्ता तक ही समाप्त हो जाय। यह एक सकर्म्मक क्रिया है जिसमें क्रिया का फल कर्त्ता से चल कर कर्म तक पड़ता है। "मै सोता हूँ" यहा सोना' अकर्मक क्रिया है। परन्तु "मै देखता हूँ" यहाँ देखने के लिये कोई वस्तु चाहिये। यदि कोई कहे कि 'मै देखता हूँ' और तुम पूछो क्या देखते हो ?" और वह कहे "कुछ नहीं" तो तुम उसको अवश्य मूर्ख कहोगे। देखना हो ही तब सकता है जब कर्म हो। इसी प्रकार ईश्वर सृष्टि रच ही तभी सकता है जब रचने के लिये प्रकृति हो। मुझे दुकान सजानी है। परन्तु दुकान नही तो मै क्या सजाऊँगा।

फ्लिएट तथा अन्य कई दार्शनिक लोगो को "आदि कारण" (First cause) बहुत त्रास देता है। वह कहते हैं कि जब ईश्वर "आदि कारण" है तो फिर प्रकृति नित्य कैसे हो सकती है? जब ईश्वर "पर्याप्त कारण" (sufficient cause) है तो सृष्टि-रचना के लिये प्रकृति की क्या आवश्यकता ? परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि यह लोग 'पर्याप्त कारण' की पर्याप्तता को नही समझते। पर्य्याप्त कारण का तो केवल इतना अर्थ है कि उसको अन्य कारणों की आवश्यकता न पड़े ईश्वर को नही पड़ती। मै आँख से देखता हूँ ईश्वर बिना आँख के देखता है। मै हाथ से छूता हूँ। वह बिना हाथ के छूता है। मै यन्त्रो से काम करता हूँ उसको यन्त्रो की आवश्यकता नही है। अतः हम कहते है कि वह पर्याप्त कारण है। परन्तु पर्याप्त कारण का यह अर्थ नही कि कोई वस्तु न हो और उसे रच दे। कोई बीज न हो और उसे वृक्ष बना दे। पिटने वाला कोई न हो और उसे पीट दे। मरने वाला कोई न हो और उसे मार दे। सोनेवाला कोई न हो और उसे सुला दे। दण्ड पानेवाला कोई न हो और उसे दण्ड दे दे।

लोग कहते हैं कि क्या एक चेतन सत्ता से समस्त सृष्टि नही

बन सकती ? क्या पर्य्याप्त कारण अकेला सृष्टि बनाने मे असमर्थ है। हम सर्व शक्तिमत्ता की मीमांसा करते हुये कुछ लिख चुके हैं। समर्थता या शक्तिमत्ता के वाग्-जाल से निकलने के लिये लोगों को तत्व पर विचार करना चाहिये। हम कह सकते है कि अकेली चेतन सत्ता जड़ प्रकृति के बिना जड़ सृष्टि को नहीं बना सकती। "सकना" शब्द के प्रयोग से इतना नहीं डरना चाहिये।

इतना तो फ्लिएट भी मानते है कि सृष्टि क्रम के "द्वैतवाद" की सिद्धि होती है। अब इसके आगे इतनी बातो में से एक अवश्य होगी :—

(१) या तो अकेली चेतन सत्ता से ही समस्त सृष्टि मानी जाय
(२) या अकेली जड़ सत्ता से।
(३) या इनके अतिरिक्त किसी तीसरी सत्ता से।
(४) या दोनो से।

दूसरी तथा तीसरी कल्पना का तो वह भी निषेध करते हैं। पहली के मानने मे बहुत से आक्षेप हैं जिनका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। अब केवल चौथी कल्पना ही शेष रह जाती है। वस्तुतः यह कल्पना (hypothesis) नहीं है किन्तु सुदृढ़ विचार और युक्तियों का निकाला हुआ सिद्धान्त है।

कुछ लोग कहा करते हैं कि "दर्शन शास्त्र (Philosophy) का उद्देश्य यही है कि समस्त वस्तुओं की एक जड़ का पता लगा ले। द्वैतवाद से दार्शनिकों का सन्तोष नही होना चाहिये"। हमको ऐसी बातों से हँसी आती है। दार्शनिक लोगो के पास इस कल्पना के लिये क्या आधार है कि उनको समस्त सृष्टि का एक ही मूल ढूंढ लेना चाहिये। दार्शनिक लोगों का कर्त्तव्य तत्त्व अर्थात सत्य की खोज करना है न कि अद्वैत मे प्रेम और द्वैत से घृणा करना। सृष्टि जैसी कुछ है हमारे सम्मुख उपस्थित है उसके विकास की खोज

करना दार्शनिकों का काम है। यदि इससे अद्वैत सिद्ध होता है तो वह अद्वैत को मानें। परन्तु यदि अद्वैत नहीं सिद्ध होता है तो केवल "दार्शनिक" (फिलास्फर) कहलाने के लिये द्वैत से घृणा करना दार्शनिकता नहीं किन्तु इसका उलटा है।

अद्वैत प्रेम ने बड़े बड़े दार्शनिकों को भूल भुलइयों में डाल रक्खा। वह अपना उद्देश यही समझते रहे कि किसी प्रकार अद्वैत की सिद्धि करें। शङ्कराचार्य ने मायावाद की इसीलिये कल्पना की कि बिना माया के शुद्ध अद्वैतवाद सृष्टि की मीमाँसा करने में असमर्थ था। द्वैत से उनको घृणा थी। अतः अनिर्वचनीय माया की रचना या कल्पना की गई। परन्तु क्या इससे अद्वैत की सिद्धि हो गई? कदापि नहीं, माया तो फिर "ब्रह्म" के गले में लटकती ही रही। यदि मैं अद्वैतवादियों से पूँछूं कि क्या शुद्ध ब्रह्म बिना माया के सृष्टि रचने में "असमर्थ" है तो इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं।

फिर मैं पूछता हूँ कि जो "पर्य्याप्त कारण" आरम्भ में प्रकृति के परमाणुओं को उत्पन्न करने में पर्य्याप्त था वह आजकल बिना बीज के वृक्ष उगाने, बिना मा-बाप के लड़का उत्पन्न करने, बिना आक्सीजन हायड्रोजन के जल बनाने, बिना जल के बर्फ या ओला बनाने, बिना मिट्टी के पर्वत बनाने के लिये क्यों पर्य्याप्त नहीं है?

बहुत से लोग डरते हैं कि प्रकृति को नित्य मानने से ईश्वर कुम्हारवत् हो जायगा? परन्तु कुम्हार से इतनी घृणा क्यों? क्या इसलिये कि आधुनिक हिन्दू जाति अपनी मूर्खता से कुम्हार को नीच समझती है? दृष्टान्त का केवल एक अङ्ग लिया जाता है। ईश्वर कुम्हार नहीं किन्तु कुम्हारवत है। वह भी एक अंश में अर्थात् वस्तुओं के बनाने में। उसमें और कुम्हार में उतना ही भेद है जितना पृथ्वी या सूर्य्य-मण्डल और घड़े में है। यदि कुम्हारवत कहने

मे ईश्वर का अपमान होता है तो पिता या पितृवत् कहने मे क्यों नहीं? क्या ईश्वर का पिता मानने का यह अर्थ है कि वह सांसारिक पिता के समान स्त्री-भोग द्वारा सन्तानोत्पत्ति करता है? यह केवल दृष्टान्त है। दृष्टान्त को दृष्टान्त की मर्यादा से आगे नहीं जाने देना चाहिये। यह केवल दृष्टान्त ही है जिसका संकेत गीता के निम्न श्लोक मे किया गया है:—

"महद्योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्"

यहां महद् ब्रह्म" का अर्थ है प्रकृति, उनमे ईश्वर गर्भ धारण करता है अर्थात् अपनी ज्ञान सहित क्रिया उसमे प्रवेश करता है। इसी का नाम सृष्टि क्रम है। सृष्टि नाम है प्रकृति और क्रम ईश्वर की ओर से आता है।

दूसरी शङ्का।

[1]"स्पेंसर, ल्यूएस तथा उपाध्याय टिण्डल का कहना है कि सृष्टि के कारण को ज्ञानवान् नहीं कह सकते क्योंकि मनुष्य की बुद्धि अल्प होने के कारण वह अनन्त को नहीं जान सकता"।

(फ्लिण्ट का आस्तिकवाद। पृ० १७४)

हम इस आक्षेप का विस्तृत उत्तर आठवें अध्याय मे दे चुके है परन्तु इस आक्षेप के उठाने का उन्हीं को अधिकार है जो सृष्टि का चेतन कर्त्ता मानते हैं। जिनको सृष्टि की बुद्धिमत्ता पर भी विश्वास नहीं उनके लिये सान्त और अनन्त का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। यदि सृष्टि-क्रम बुद्धिमत्ता युक्त नहीं तो उसको जानने के लिये भी किसी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता नहीं। परन्तु हम देखते

---

[1] "Mr. Spencer, Mr Lewes, and Professor Tyndall argue that the cause of the universe can not be known to be intelligent, because the reason of man, being finite can not comprehend the infinite." (Flint's Theism pp. 174).

हैं कि इसी सृष्टि से अनन्त न सही थोड़े ही अश को जानने की कोशिश करने वाले टिण्डल जैसे सायंसज्ञ अपने को बुद्धिमान् ही समझते हैं। क्या यह आश्चर्य नही है कि किसी वस्तु के बनाने के लिये तो बुद्धि की आवश्यकता न हो परन्तु उसके समझने के लिये बुद्धि की आवश्यकता अवश्य हो। पुस्तक तो बिना बुद्धि के भी लिखी जा सके परन्तु उसका पढ़ना केवल विद्वान् के लिये ही सम्भव हो। सान्त और अल्प मनुष्य का इस सृष्टि रूपी अनन्त पुस्तक को पढ़ने की नित्य निरन्तर कोशिश करते रहना ही इस बात का प्रमाण है यह सृष्टि किसी महान् बुद्धिमान् की बनाई है रही इस बुद्धि की अनन्तता, इसका अनुभव तो मनुष्य के मस्तिष्क को पग पग पर होता है। क्या ज्ञान उतना ही है जितना टिण्डल महोदय ने प्राप्त कर पाया है ? या केवल उतना ही है जो बड़े से बड़ा सायसज्ञ जान सका है ? क्या सृष्टि उसके आगे कुछ नही बताती ? क्या सृष्टि की पुस्तक के उतने ही पृष्ट है जितने हमने पढ़ पाये है ? यदि नही तो सृष्टि या सृष्टि कर्त्ता की अनन्तता मे सन्देह क्या ? वस्तुतः थोड़ा सा भी विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि सृष्टि-रूपी पुस्तक जिल्द बधी हुई पुस्तक नही है जिसका अन्तिम पृष्ठ हम पढ़ लिया है या किसी ने पढ़ लिया है। यह वह अपार पुस्तक है जिसके पृष्ठ पर पृष्ठ पलटते जाइये उनका पठन पाठन मनन निदिध्यासन करते जाइये और इसका अन्त होने का नही आता। एक जीवन नही, सहस्र जीवन व्यय करने पर भी यही अनुभव होता हैं कि अभी इस पुस्तक का आरम्भ ही किया है। इसलिये सृष्टि की सान्तता मे तो सन्देह हो सकता था परन्तु उस या उसके रचयिता की अनन्तता मे सन्देह करना विचार शून्यता का ही प्रदर्शक है।

तीसरी शंका।

मिस्टर जे. एस. मिल (J. S Mill) महोदय की शंका को उनके ही शब्दो मे देना अच्छा होगा :—

"It is not too much to say that every indication of design in the Cosmos is so much evidence against the omnipotence of the Designer. For what is meant by design? Contrivance, the adaptation of means to end But the necessity for contrivance—the need of employing means—is a consequence of the limitation of power Who would have recourse to means if to attain his end, his mere word was sufficient? The very idea of means implies that the means have no efficacy which the merest action of the being who employs them has not Otherwise they are not means, but an encumbrance. A man does not move his machinery to move his arms. If he did, it could only be when paralysis had deprived him of the power of moving them by volition But if the employment of contrivance is in itself a sign of limited power, how much more so is the *careful, and skiful choice of contrivances?* Can any wisdom be shown in the selection of means when the means have no efficacy but what is given them by the will of him who employs them, and when his will could have bestowed the same efficacy on any other means? Wisdom and contrivance are shown in overcoming difficulties, and there is no room for them in being for whom no difficulties exist. The evidences, therefore, of natural theology distinctly imply that the author of the cosmos worked under limitations" (Three Essays on Religion, pp. 176, 177).

"इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है कि सृष्टि की रचना का प्रत्येक चिह्न रचयिता की सर्वशक्तिमत्ता के विरुद्ध एक प्रमाण है। क्योंकि रचना का क्या अर्थ है? प्रयोग अर्थात् साधनों को इस प्रकार काम में लाना कि साध्य की सिद्धि हो सके। परन्तु प्रयोग की आवश्यकता अर्थात् साधनों को काम में लाने की जरूरत ही शक्ति के परिमित होने का फल है। उनको काम करने और भोग करने दोनों के

परिमित होने के कारण होती है। साधनो का प्रयोग कौन करता यदि उसके साध्य की सिद्धि के लिये उसका कथन मात्र पर्य्याप्त होता ? साधनों का विचार ही यह प्रकट करता है कि जो काम साधनो से निकल सकता है वह उनके प्रयोग करने वाले से बिना उनके नही निकल सकता। अन्यथा वह साधन साधन न होंगे किन्तु व्यर्थ बोझ होगा। कोई पुरुष अपना हाथ उठाने के लिये यंत्रो का प्रयोग नही करता। यदि वह करता है तो उसी समय जब फालिज मारजाने के कारण उसकी इच्छा मात्र से हाथ नही उठ सकते। परन्तु यदि साधनो का प्रयोग मात्र ही शक्ति के अल्प होने का चिह्न है तो साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वक निर्वाचन इस अल्पता का और भी अधिक प्रमाण होगा ! यदि साधनों मे वही योग्यता है जो उसके प्रयोग करने वाले ने उन्हे दी है और यदि यह योग्यता वह किन्ही अन्य साधनों को भी दे सकता था तो उनके निर्वाचन करने मे बुद्धि की क्या आवश्यकता है ? बुद्धि और साधनो का प्रयोग तो आपत्तियो को दूर करने मे होता है। उस सत्ता के लिये इनकी क्या आवश्यकता है जिसके सम्मुख कोई आपत्ति है हा नही ? इसलिये प्राकृतिक आस्तिकवाद के प्रमाणो से स्पष्टतया यही सिद्ध होता है कि सृष्टि के रचयिता की शक्तियाँ अल्प है"।

(धर्मसम्बन्धी तीन व्याख्यान पृ० १७६-१७७)

मिल महोदय की इस शंका में कई शंकायें सम्मिलित हैं। अर्थात्।

(१) चूंकि ईश्वर अपने साधन की सिद्धि के लिये साधनो का प्रयाग करता है अतः वह सर्वशक्तिमान् नही।

(२) चूंकि वह इन साधनो का बुद्धि और विचार पूर्वक प्रयोग करता है अर्थात् यह देखता है कि कौन से साधनो का

प्रयोग करना चाहिये और कौन सी का नही। अतः उसकी शक्ति अत्यन्त अल्प है।

(३) जब उन साधनो को भी वही बनाता है। अर्थात् उन साधनो को अपनी इच्छा के अनुसार ही गुण तथा योग्यतायें देता है तो उनके निर्वाचन मे बुद्धिमत्ता भी प्रदर्शित नही होती। यदि दूसरे के बनाये साधनो मे से उसे छांट करनी पड़ती तो अवश्य उसे बुद्धिमान् कह सकते।

(४) साधनो का प्रयोग वही करता है जो किसी कठिनाई मे हो। अतः ईश्वर को अवश्य कोई कठिनाई प्रतीत होती है।

मिल महाशय यह समझते है कि

(१) ईश्वर सृष्टि को अपने किसी साध्य की सिद्धि के लिये रचता है। अर्थात् वह शायद किसी कठिनाई मे है या उसको कोई आवश्यकता है जिसकी पूर्त्ति के लिये उसे सृष्टि रचनी पड़ती है।

(२) इस साध्य सिद्धि के लिये वह कुछ साधन बनाता है।

(३) और फिर उन साधनो में से उपयुक्त साधनो को छांटता है।

हमको इनमे से तीनो बातें स्वीकृत नहीं। हम शायद पहले भी किसी स्थान मे कह चुके है कि सृष्टि रचने का ईश्वर का कोई अपना प्रयोजन नही। क्योकि उसमे कोई अपूर्णता या आवश्यकता नही, और मिल महोदय के सजातीय ईसाई धर्मावलम्बियों के प्रति अवश्य हो सकता है जो केवल ईश्वर को ही नित्य मानते हैं और जिनसे पूछा जा सकता है कि जब सृष्टि रचना से पहले ईश्वर ही ईश्वर था तो उसको सृष्टि बनाने की क्या जरूरत थी ? परन्तु हमारा ऐसा मत नहीं। हम तो पहले भी कह चुके हैं कि ईश्वर जीवो के उपकार के लिये सृष्टि बनाता है जिससे जीवों को कर्म और फल पाने के साधन प्राप्त हो सकें। जीव अल्प है। उनकी

लिये शरीर तथा अन्य साधनों की जरूरत है। इन्हीं साधनों का नाम सृष्टि है। अर्थात् यदि आंखें न हों और आंख से देखने के लिये रूप भी न हो तो जीव किस से क्या देखेगा? यदि उसके मुख न हो, न भक्ष्य पदार्थ हों तो किसी से क्या खायगा यदि हाथ न हों न हाथ के द्वारा पकड़ने के लिये वस्तुयें हों तो हाथों से क्या काम करेगा? यदि हृदय न हो और हृदय से प्रेम करने के लिये कोई प्रेम करने योग्य वस्तु भी न हो तो किससे किसको प्रेम करेगा? यदि बुद्धि न हो और बुद्धि से जानने योग्य सृष्टि भी न हो तो किस से किस वस्तु का विचार करेगा? अतः जीव को पग पग पर प्रत्येक काम करने और प्रत्येक भोग की प्राप्ति के लिये सृष्टि की आवश्यकता है। इसी लिये ईश्वर परोपकारार्थ सृष्टि बनाता है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के आठवें समुल्लास में लिखा है:— "(प्रश्न) जगत् के बनाने में परमेश्वर का क्या प्रयोजन है? (उत्तर) नहीं बनाने में क्या प्रयोजन है? (प्रश्न) जो न बनाता तो आनन्द में बना रहता और जीवों को भी सुख दुःख प्राप्त न होता। (उत्तर) यह आलसी और दरिद्र लोगों की बातें है। पुरुषार्थी की नहीं। और जीवों को प्रलय में क्या सुख वा दुःख है? जो सृष्टि के सुख दुःख की तुलना की जाय तो सुख कई गुणा अधिक होता और बहुत से पवित्रात्मा जीव मुक्ति के साधन कर मोक्ष के आनन्द को भी प्राप्त होते हैं। प्रलय में निकम्मे जैसे सुषुप्ति में पड़े रहते हैं वैसे रहते हैं और प्रलय के पूर्व सृष्टि में जीवों के लिये पाप पुण्य कर्मों का फल ईश्वर कैसे दे सकता और जीव क्यों कर भोग सकते?" (सत्यार्थ प्रकाश, अठारहवीं बार पृ० २१४, १५)

सृष्टि बनाने में ईश्वर का अपना साध्य कुछ नहीं अतः उसमें अपूर्णता का दोष नहीं लग सकता।

अब रहा साधनों के प्रयोग का प्रश्न। यह हम 'सर्वशक्तिमान्' शब्द की व्याख्या करते हुये लिख चुके हैं कि ईश्वर को सृष्टि की रचना के लिये किन्हीं साधनों का प्रयोग करना नहीं पड़ता। न वह साधनों का चुनाव ही करता है। जिनको आप साधन कहते हैं वह भी तो उसी के बनाये हुये हैं। इनके बनाने के लिये उसने कोई अन्य साधन प्रयुक्त नहीं किये। वस्तुतः जिनको लोगों ने साधन कहा है वह भी किन्हीं किन्हीं जीवों के लिये साध्य हैं क्योंकि उन्हीं के लिये उनका निर्माण हुआ है। कल्पना कीजिये कि एक सुप्रबद्ध देश है, जिसमें दस करोड़ मनुष्य रहते हैं। उनका राजा बड़ा चतुर, दयालु तथा परोपकारी है। इन दस करोड़ मनुष्यों में से भिन्न भिन्न श्रेणियों के हैं, उनकी आवश्यकतायें भिन्न भिन्न हैं। अतः वह राजा अपने राज्य में ऐसी संस्थायें खोलता है जिनकी उसको अपने लिये तो कुछ आवश्यकता नहीं परन्तु अन्य पुरुषों के विकास तथा भोग के लिये अवश्य जरूरत है। यह संस्थायें किसी जीव के लिये तो साधन होंगी और किसी के लिये साध्य। जैसे डाकखाने का विभाग लीजिये। व्यापारी तथा अन्य गृहस्थ लोगों के लिये तो यह डाक घर साधन मात्र है क्योंकि उनके पत्र व्यवहार के लिये यह खोला गया है परन्तु जो पुरुष डाक घर में नौकर हैं उनके लिये यही साध्य है क्योंकि उसके द्वारा इनकी जीविका चलती है। और इसी विभाग में कार्य करके वह अपनी बुद्धि का भी विकास कर सकते हैं। इसी प्रकार पुलिस, सेना, न्यायालय, व्यापार-समितियों, तथा बैङ्कों का हाल है। वह सब किसी पुरुष की अपेक्षा से साध्य और किसी की से साधन हैं। यदि एक का कर्त्तव्य क्षेत्र है तो दूसरे का भोग क्षेत्र। यदि एक पुरुष का पद-च्युत करना उसके दण्ड का हेतु है तो वही पदरिक्ति दूसरे पुरुष को पुरस्कार देने का भी हेतु होती है। इसी प्रकार सृष्टि रचना को समझिये। इसमें असंख्य

जीव हैं। सृष्टि की एक घटना से सैकड़ो जीवो का सम्बन्ध है। उस घटना द्वारा ही बहुत से जीव कर्म करने का अवसर पाते हैं बहुतो को दुःख रूपी दण्ड मिलता है और बहुतो को सुख रूपी पुरस्कार मिलता है! किसी मनुष्य की मृत्यु का ही दृष्टान्त लीजिये। कल्पना कीजिये कि 'क' नामक एक मनुष्य मरता है। यह एक छोटी सी घटना है परन्तु इसी के द्वारा उसकी स्त्री को विधवा होने का दण्ड मिलता है, उसके माता पिता को पुत्र हीन होने का, उसके बच्चो को पितृ-हीन होने का, उसके सम्बन्धियो को मित्र-विछोह का, उसके शत्रुओ को शत्रुरहित होने का पुरस्कार और उसको स्वयं सम्भव है मृत्यु पुरस्कार के रूप मे हो, सम्भव है दुःख के रूप मे। फिर उस मृत्यु से न जाने कितने मनुष्यों के लिये कर्मक्षेत्र खुल जाता है जो उसके जीवन मे शायद अपना कार्य्य नहीं कर सकते थे। इस लिये यह कहना कि ईश्वर साधनो द्वारा अपने साधनो की सिद्धि करता है ठीक नहीं है। सृष्टि मे साध्य और साधन इस प्रकार मिले हुये हैं कि उनके बीच मे कोई भेदक भित्ति खींची नही जा सकती।

एक प्रकार से समस्त सृष्टि साधन है अर्थात् उसकी रचना जीवों के लिये कर्म क्षेत्र और भोग क्षेत्र उत्पन्न करने के लिये हुई है। परन्तु इससे न तो ईश्वर की अपूर्णता सिद्ध होती है न उसकी सर्वशक्तिमत्ता मे कोई भेद पड़ता है। मिल महोदय का यह कथन तो बड़ा ही विचित्र और हास्य प्रद है कि ईश्वर विचार पूर्वक साधनो का चुनाव करने के कारण निर्बल है। क्या अन्धाधुन्धी साधनो का चुनाव करता तो मिल महोदय उसको सबल कहने लगते? निर्बलता और सबलता की यह कसौटी केवल उन्हीं की समझ मे आ सकती है। ज्ञान तथा विचार को सभी लोग शक्तिमत्ता का चिह्न समझते है। संस्कृत की लोकोक्ति है—

बुद्धिर्यस्य बलं तस्य निर्बुद्धेस्तु कुतो बलम् ।

अर्थात् जिसके बुद्धि है उसके बल है। बिना बुद्धि के बल कैसे ? यदि ईश्वर की सृष्टि में अन्धाधुन्धी पाई जाती। यदि वह मिल महोदय की आवश्यकताओं का विचार न करके उनके पैर में आंख और पीठ पीछे नाक लगा देता। यदि उनके शरीर में पाचन शक्ति के यंत्र को मस्तिष्क में रख देता और मुँह से उसका कुछ सम्बन्ध न रखता, यदि मिल साहेब की आंखों में पलकों के नीचे बड़े बड़े नाखून होते तो शायद उनको यह आक्षेप करने का अवसर न मिलता कि "साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वक निर्वाचन" (Careful and skilful choice of contrivances) ईश्वर की अल्पता को प्रकट करता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जिस प्रकार हम अपने हाथ को इच्छा-शक्ति से ही बिना यन्त्र की सहायता के उठा लेते हैं उसी प्रकार ईश्वर भी इच्छा मात्र से ही प्रकृति के परमाणुओं का संयोग और वियोग करके सृष्टि की रचना करता रहता है। हमको तो हाथ उठाने के लिये शरीर रूपी यंत्रों की आवश्यकता भी पड़ती है। और इन यंत्रों के फालिज द्वारा बिगड़ जाने पर अन्य यंत्रों का भी प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु ईश्वर को इन यंत्रों की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

हां बुद्धि-पूर्वक निर्वाचन आवश्यक है। यह माना कि सब साधनों को उसी ने बनाया है और उनमें गुण तथा योग्यतायें भी उसी ने उत्पन्न की हैं। परन्तु जो वस्तु अथवा घटना एक जीव के लिये साधक है वह दूसरे के लिये बाधक। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक जीव की आवश्यकता के अनुसार साधन दिये जायं। यह तभी हो सकता है जब बुद्धि और विचार को काम में लाया जाय। मिल महोदय का मस्तिष्क और शेर के पञ्जे दोनों का बनाने वाला

ईश्वर है। परन्तु यदि विना विचारे मिल महोदय को शेर के पञ्जे दे दिये जाते और मिल साहेब की उंगलियाँ शेर के हाथ मे दे दी जाती तो क्या मिल साहेब और शेर जी दोनों की आवश्यकतायें पूरी हो सकती थी ? कदापि नही। और क्या ऐसा करना ईश्वर की शक्तिमत्ता का चिह्न होता ? कदापि नही।

अब केवल एक शङ्का रहती है। अर्थात् क्या ईश्वर के लिये यह सम्भव नहीं था कि वह इन साधनों का प्रयोग न करके किन्ही अन्य साधनों का प्रयोग करता अर्थात् क्या यह सम्भव न था कि आँख की पलकों में नाखून भी होते और वह आँख की पुतली में भी न गड़ते ? यह शङ्का तो हास्यजनक ही है परन्तु हम इतना ही कह सकते है कि यदि ऐसा होता तो भी मिल महोदय की शङ्का से बचना सम्भव न था क्योंकि वह साधनों के किसी अन्य रूप के सोचने मे अपना मस्तिष्क लगाते। जिन्होंने आक्षेप करने का ठेका ले लिया है उनको कौन सी वस्तु से शान्ति हो सकती है ? यदि उनको पूर्ण आंखें और पूर्ण नाक दी जाय तो भी वह यह शिकायत करेंगे कि नाक से दीखता क्यो नहीं और आंख से गंध का ज्ञान क्यो नहीं होता। आग प्यास क्यो नही बुझाती और पानी से दीपक क्यो नहीं जलता।

चौथी शंका

चूंकि सृष्टि मे साधनों का विचार और बुद्धि-पूर्वक प्रयोग पाया जाता है इसलिये जे० एस० मिल ईश्वर के मानने मे असमर्थ हैं। अब हम उन लोगो का वर्णन करते है जिनको सृष्टि मे त्रुटियां ही त्रुटियां दिखाई देती हैं।

प्रथम मिल को ही लीजिये। एक ओर तो वह बुद्धि-पूर्वक साधनो का प्रयोग करने वाले ईश्वर को नहीं मान सकते क्योंकि

बुद्धि की आवश्यकता निर्बलता का चिह्न है। दूसरी ओर अन्धा-धुन्धी की भी शिकायत करते हैं :—

†"मनुष्य की नियमावलि मे प्राण हत्या से भारी कोई पाप नहीं माना गया। परन्तु सृष्टि प्रत्येक जीव की एक वार अवश्य हत्या करती है ... ..एक मनुष्य के उत्पन्न होते समय दूसरे मनुष्य (माता) को घण्टों और दिनो अत्यन्त कष्ट उठाने पड़ते हैं और कभी २ मृत्यु भी हो जाती है। एक तूफ़ान आता है तो फ़सल भर की आशाओं पर पानी फेर देता । .....सारांश यह है कि जीवन या सम्पत्ति के विरुद्ध जो पाप बुरे से बुरा मनुष्य कर सकता है वह इस सृष्टि द्वारा होता है।......जितना अन्याय, नाश, तथा हत्या काण्ड तूफ़ान या रोग के कारण होता है उतना अराजकता या क्रूरता के राज्य नहीं होता" (धर्म सम्बन्धी तीन व्याख्यान पृ० २८-३१)

प्रोफेसर हेल्म होल्टज (Prot. Helmholtz) की यह शिकायत है कि मनुष्य की आंख बहुत भद्दी रीति से बनाई गई है।

§"आंख मे वह सब दोष हैं जो किसी के देखने के यन्त्र में पाये

---

†" Killing, the most criminal act recognized by human laws—nature does once to every being that lives—No human being ever comes into the world but another human being is literally stretched on the rack for hours and days, not unfrequently issuing in death.. ..A single hurricane destroys the hopes of a season.. .. Every thing, in short which the worst men commit either against life or property, is perpetrated on a larger scale by natural agents.. ...Anarchy and the Reign of Terror are over-matched in injustice, ruin, and death, by a hurricane and a pestilence. (Three Essays on religion pp 28-31).

§" The eye has every possible defect that can be found in an optical instrument, and even some

जा सकते हैं और कुछ अधिक भी।" "इसमे कुछ अत्युक्ति नही है कि यदि कोई चश्मा बेचने वाला इन दोषो वाला चश्मा मुझे देता तो मै उसकी मूर्खता या असावधानता को बड़े बलपूर्वक दिखाता और उसके चश्मे को लौटा देता।"

‡आंख मे छः दोष बताये गये हैं :—

(१) वर्णापेरण।

(२) गोला पेरण और कार्निया तथा ताल का दोष युक्त केन्द्रीभवन और असमदृष्टि दोष।

(३) प्रकाशित बिन्दुओ की प्रतिच्छाओ के चारो ओर विषय विकरण।

(४) दोष युक्त पारदर्शिता।

(५) बहते हुये कण।

(६) दृष्टिक्षेत्र मे अन्य रिक्त स्थानो सहित "कालाविन्दु।"

§कामटी महाशय लैपलेस का अनुकरण करते हुये कहते हैं कि

---

which are peculiar to itself " " It is not too much to say that if an optician wanted to sell me an instrument, which had all these defects, I should think myself quite justified in blaming his carelessness in the strongest terms, and giving him back his instrument "

‡1 Chromatic aberration.

2 Spherical aberration and defective centring of the cornea and lens, together producing the imperfection known as astigmatism ,

3 Irregular radiation round the images of illuminated points.

4. Defective transparency

5 Floating corpuscles

6 " The blind spot " with other gaps in the field of vision (Theism, pp. 419).

§" Comte, following Laplace, has argued that there is no evidence of intelligence or design in

सौर्य मण्डल ऐसा नहीं बना कि जिससे अधिक से अधिक लाभ हो सकता। आवश्यकता थी कि चांद पृथ्वी की चारो ओर उतने ही समय मे घूमता जितने मे पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। यदि ऐसा होता तो चांद हर रात को पूरा पूरा चमका करता। ... ध्रुव के निकटस्थ स्थानो, अफ्रीका, एशिया, पासिफिक महासागर को उन्नत करने के लिये प्रस्ताव किये गये हैं। अगर ग्रीनलैण्ड को डुबा दिया जाय और उत्तरी अमेरिका तथा एशिया की बनावट ऐसी कर दी जाय कि इसकी नदियां उत्तर की ओर न बहने पावें तो आइसलैण्ड तथा कनाडा का जल-वायु उत्तम हो सकता है।"

लांग (Lange) और हक्सले (Huxley) का कथन है कि सृष्टि मे उतना ही अपव्यय है जितना खेत मे एक खरगोश को मारने के लिये करोड़ो तोपें छोड़ देने मे होता है।"

---

the solar system, because its elements and members are not disposed in the most advantageous manner The moon, in particular, we are assured, should have been so placed that it would revolve round the earth in the same time that the earth revolved round the sun In that case she would appear every night, and always at the full . ... changes in the polar regions, in the physical character of Africa, in the position of the Asiatic continent, and in the Pacific Ocean, have been suggested as improvements on the constitution of the world." (Theism p. 235).

"If Greenland were submerged, and the Asiatic and North American Continents so altered that no lage rivers should flow into the polar ocean, the climate of Iceland and Canada might be greatly improved" (Theism p. 239)

"Lange and Huxley have said of her procedure, that it is 'like shooting a million or more

इस प्रकार सृष्टि के रचयिता में मूर्खता, अज्ञानता, क्रूरता तथा अपव्यय सभी अवगुण पाये जाते हैं। यदि कामटी एण्ड को (Comte & co) को सृष्टि बनाने का ठेका दे दिया जाता तो उनकी रची हुई सृष्टि मे यह दोष न होते। परन्तु सृष्टि के रचयिता का सब से बड़ा एक दोष यह भी है जो पूर्वोक्त दोषो से भी बढ़ गया है। वह यह कि न अच्छी चीज बनाता है न दूसरों को बनाने देता है। जिस हैल्महोल्ट्ज़ ने आंख के इतने दोष निकाले उस विचारे को एक आंख बनाने का भी अवसर नहीं मिला। वह स्वयम् कहता है "Of course I shall not do this with my eyes, and shall be only too glad to keep them as long as I can—defects and all" अर्थात् 'मै अपनी आंखो को लौटा नहीं सकता। मै इतने दोष होते हुये भी इनको जितने दिन हो सकेगा रखने के लिये प्रसन्न होऊंगा।" हम पूछते है कि यदि हैल्महोल्ट्ज इस प्रकार का चश्मा बनाने वाले का चश्मा वापिस करने को तैय्यार था तो उसने इन दोष सहित आंखो के बदले अच्छी आंखें क्यों न बनाली। जब वह इस प्रकार की एक आख भी बना सकता तो उसमे तथा प्राकृतिक आंख में तुलना हो सकती और हैलमहोल्ट्ज को भी अनुभव हो सकता कि प्राकृतिक आंख अधिक उपयोगी है अथवा उसकी प्रस्तावित आंख। हैलमहोल्ट्ज को कम से कम एक बात पर ही विचार कर लेना चाहिये था। वह यह कि कई पशु पक्षियो की आंखें मनुष्य की आंखो से अधिक प्रबल हैं। उल्लू रात मे देख सकता है परन्तु हम नही देख सकते। बिल्ली रात और दिन मे देख सकती है। उकाब जितनी दूर तक देख सकता है उतनी दूर

---

loaded guns in a field to kill one hare'." (The ism p. 243).

तक हम दूरबीन से भी नहीं देख सकते। बहुत से पक्षियों की आंखें हमारी अपेक्षा कमजोर हैं। बहुतों की प्रबल। सर्प के कान हमारे कानों से अधिक तीव्र हैं। हिरन की नाक हमारी नाक से अधिक तेज है। इससे यह तो पता चलता है कि सृष्टि का रचयिता हमारी इन्द्रियों से उत्तम इन्द्रियां भी बना सकता था। परन्तु वह हमारे इस शरीर के लिये अधिक उपयोगी होती या नहीं इसमें बड़ा सन्देह है। स्वयम् हैल्महोल्ट्ज़ को भी मानना पड़ा कि:—

"आंख अपने कर्त्तव्य के पालन में पूर्णतया उपयुक्त है। यह बात आंखों के दोषों की न्यूनता से स्पष्ट होती है।"

यदि आंख अपने काम के लिये पूर्णतया उपयुक्त है तो इससे अधिक क्या चाहिये? जो छिद्र दर्शन द्वारा सृष्टि कर्त्ता की अज्ञानता को प्रकट करना चाहते हैं वह भूल जाते है कि हैल्महोल्ट्ज या अन्य नेत्रज्ञों ने नेत्रों का ज्ञान भी तो इन्हीं दोषयुक्त आंखों के निरीक्षण से सीखा है। उपनेत्र या चश्मा भी तो उसी मनुष्य के काम में आ सकता है जिसके आंखें हों। ऐसा कौन सा नेत्रज्ञ जो नेत्र रहित को नेत्र दे दे। या उङ्गली में चश्मा लगा कर देखने की आवश्यकता को पूर्ण कर दे। यदि एक भी विद्वान् बिना आंखों के निरीक्षण किये एक भी आंख बना सकता तो उसकी कारीगरी थी।

फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि जिस प्राणी को दोषयुक्त आंख या दोषयुक्त अन्य अवयव दिये गये हैं वह इससे अच्छे अवयवों का अधिकारी था? जो उत्तम से उत्तम अवयव या पदार्थ मनुष्य की कल्पना शक्ति में आ सकते हैं वह सब ही सृष्टि में पाये जाते हैं। परन्तु प्रत्येक प्राणी को वह नहीं दिये गये। मछलियां

पानी में तैर सकती हैं। पत्ती हवा मे उड़ सकते हैं। सांप पृथ्वी के भीतर रह सकते हैं। इस लिये गलफड़े बनाना या परों का निर्माण करना यह दोनों बातें ही सृष्टि-कर्त्ता ने बना के दिखा दी हैं। परन्तु मनुष्य चाहता है कि मेरे भी पर तथा गलफड़े होते। ईश्वर की सृष्टि में तितलियों के रङ्ग विरंगे पङ्ख मौजूद हैं। परन्तु यदि उसी प्रकार का सौन्दर्य मनुष्य को नहीं दिया गया तो इसका यह अर्थ नहीं कि सृष्टि किसी अज्ञानी की बनाई हुई है। जो जिसका अधिकारी नहीं उनको वह वस्तु कैसे मिलेगी? जो वस्तु जिसके उपयुक्त नहीं वह उसको मिल जाय तो किस काम की? इससे सृष्टि कर्त्ता के सम्यग् ज्ञान की सूचना मिलती है न कि अज्ञानता की।

रही मिल की शिकायत कि सृष्टि बड़ी क्रूर है। इस विषय मे हम बहुत कुछ पाप तथा दुःख के सम्बन्ध मे लिख चुके हैं। मिल ने संसार के सुखों और दुःखो मे तुलना ही नहीं की इनको शिकायत है कि प्रत्येक प्राणी को एक न एक बार मरना पड़ता है। परन्तु मिल को पता नहीं कि यदि मृत्यु न हुआ करती तो सृष्टि की क्या दशा होती। एक पत्र मे एक ईसाई महाशय ने हिसाब लगाया था कि यदि आदम महोदय वर्जित वृत्त का फल न खाते और मृत्यु देव को सृष्टि के भीतर घुसने की आज्ञा न होती तो इस समय इस पृथ्वी पर इतने मनुष्य होते कि एक एक के सिर पर पचासो को खड़ा रहना-पड़ता। उस पर भी पृथ्वी पर तिल रखने को स्थान न होता। यदि मिल महोदय के बीस तीस पीढ़ियो के पूर्वज भी जीवित होते तो उनको शीघ्र ही यह शिकायत करनी पड़ती कि सृष्टि-कर्त्ता कैसा क्रूर है कि प्राणियो को जन्म देता चला जाता है और यहाँ से निकालता किसी को नहीं। यदि किसी मनुष्य को समस्त आनन्द दे कर एक ही स्थान मे रहने के लिये बाधित किया जाय, तो वह कुछ दिनो पश्चात् उन आनन्दो से भी उकता जायगा। इसी प्रकार यदि

मृत्यु न होती और मनुष्य को सदा यहीं रहना पड़ता तो अवश्य ही उसको संसार के आनन्द तुच्छ मालूम पड़ने लगते। यदि एक तूफान से कभी कभी फसल बिगड़ जाती है तो जो फसलें अच्छी बनी रहती हैं वह क्या मिल जी के प्रताप से ? क्या एक वर्षा असंख्यो प्राणियों के लिये भोजन तय्यार करने में सहायता नहीं देती ? मिल महोदय को यह तो शिकायत है कि प्रसवकाल में स्त्रियों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है परन्तु उनको यह नहीं सूझता कि कितनी स्त्रियां तथा उनके पति नित्य प्रति प्राकृतिक नियमों का उल्लङ्घन करने का प्रयत्न करते रहते हैं। कितना कृतघ्न है मनुष्य जो उसको भी दोष देने में नहीं चूकता जिसने उसे न केवल भोग्य पदार्थ ही दिये किन्तु उनको भोगने की शक्ति भी प्रदान की। संसार सौन्दर्य की खान है यदि किसी में उसके देखने के लिये आंख हो। संसार सुखों का भण्डार है यदि हममें उसके अनुभव करने की योग्यता हो। संसार दया का सागर है यदि हम उस दया को समझ सकें। यदि यह योग्यता और शक्ति नहीं तो इसमें संसार का क्या दोष ? कितने हैं जो आंख होते हुये नहीं देखते ? कितने हैं जो कान होते हुये नहीं सुनते ? कितने रोगी हैं जिनको हलवा कड़वा लगता है ? कितने ऐसे हैं जिनकी आंखें प्रकाश से आनन्द नहीं उठा सकतीं ? परन्तु इसमें हलवे और प्रकाश का क्या दोष है ?

कामटी और लापलेस के चांद विषयक प्रस्ताव को देख कर मुझे एक वार्ता याद पड़ गई। मेरा लड़का चार पांच साल का था। घर में एक पलंग टूट कर आ पड़ी उसको जोड़ने के लिये गोंद की आवश्यकता हुई। मैंने उस समय कई पैकिट बनाये थे और गोंददानी में गोंद न बचा था। गोंद को न पाकर मेरा बच्चा बहुत क्रोधित हुआ और मेरी माता के पास जाकर कहने लगा

"अम्मा, पिता जी कैसी गलती करते हैं कि पैकिट बनाने में सब गोंद व्यर्थ खर्च कर डालते है।" यह बच्चे का दृष्टि-कोण था। वह समझता था कि गोंद का ठीक उपयोग यही हो सकता है कि पतगें जोड़ी जाया करें। उसे पतग की अपेक्षा पैकिट जोड़ना व्यर्थ प्रतीत होता था। उस अज्ञानी बालक को क्या पता था कि बहुत से पैकिट उसके भोजन वस्त्रादि को सम्पादित करने के हेतु थे? बस यही कामटी महोदय का दृष्टि-कोण है। वह समझते हैं कि चांद एक दीपक मात्र है। यदि उसकी पृथ्वी के चारो ओर परिक्रमा का वही समय हो जो पृथ्वी की सूर्य्य के चारों ओर घूमने का है तो प्रत्येक रात्रि को पूरा चांद उदय हुआ करे। उनको क्या मालूम है कि जिस चांद से समुद्र मे ज्वार भाटे उठते हैं, जो चांद गैस के हण्डे के अतिरिक्त अन्य सैंकड़ों बातो के लिये बनाया गया है उसमे उनके प्रस्तावित परिवर्त्तन करने से क्या फल होगा? ऐसे बड़े २ सायंसज्ञों की इस प्रकार की बाल-बुद्धि होना बड़े आश्चर्य की बात है।

हम यह पूछते हैं कि जिस सत्ता ने यह सृष्टि रची उसको क्या यह बात मालूम न थी? क्या सृष्टि रचना से गणित का उतना ज्ञान भी प्रदर्शित नहीं होता जितना लाप्लेस, कामटी या अन्य ज्योतिर्विदो के मस्तिष्क मे था? यदि कहो कि नहीं तो यह भयानक विडम्बना होगी। क्योंकि यदि सृष्टि मे इतना ज्ञान नहीं था तो इनके मस्तिष्को मे कहां से आया? यदि किसी मस्तिष्क मे उस गणित का ज्ञान हो जिसका दृष्टान्त सृष्टि की किसी वस्तु में नहीं मिलता तो उसे पागल कहते हैं। यदि कहो कि सृष्टि मे इससे भी अधिक ज्ञान की सूचना मिलती है, नहीं नहीं इतने ज्ञान की सूचना मिलती है जिससे सम्मुख इन विद्वानों का ज्ञान समुद्र मे बिन्दु के तुल्य भी नहीं तो क्या यह बात सोचने की नहीं

है कि चांद को इस प्रकार बनने में कुछ न कुछ उपयोग अवश्य होगा। कुछ लोगों ने हिसाब लगाया है कि यदि चाँद वैसा ही बनाया जाता जैसा कामटी का प्रस्ताव है तो उसमें इस चाँद से १६ वां भाग ही प्रकाश होता। यदि कामटी का प्रस्ताव ठीक भी हो और ऐसा ही चाँद बनाया जाता, तब शायद कामटी कहता कि चाद दिन को क्यों नहीं निकलता। भिन्न भिन्न प्रस्ताव करना तो है परन्तु तत्व खोजना कठिन है। ऐशिया, उत्तरी अमेरिका तथा अन्य महाद्वीपों की वर्त्तमान बनावट का कुछ न कुछ कारण अवश्य होगा। इस कारण को मालूम करना भूगोल-वेत्ताओं का है न कि उसको अनुपयोगी बता कर मनमाने प्रस्ताव करना। मनुष्य में सब से बड़ा दोष यह है कि वह प्रत्येक वस्तु को अपने लिये बनी हुई समझ लेता है। और इसी दृष्टिकोण से सृष्टि की समस्त घटना की मीमांसा करता है। वह यह नहीं सोचता कि इस अनन्त सृष्टि में अनन्त जीव हैं। इन सब का उपकार करना ईश्वर का काम है और यही सृष्टि का उपयोग है। जो वस्तु एक प्राणी के लिये हानिकारक है वह दूसरे के लिये लाभदायक है। डाक्टर की दुकान पर विष और शर्बत दोनों हैं और दोनों का उपयोग है। जो शर्बत के बदले विष पीकर मर जाता है उसे अपने अज्ञान को दोष देना चाहिये न कि विष रखने वाले को। यदि उत्तरी समुद्रों में बहुत सी नदियां गिरती हैं तो उनका कुछ न कुछ उपयोग होगा। जिसने नदियां बनाईं उसको इनका उपयोग भी ज्ञात होगा। नदिया बनाना साधारण काम तो है नहीं जो बिना उपयोग का ज्ञान हुये भी हो सकता।

यह अकल्पना का दोष यह सर्वथा ही अनुचित है। सृष्टि की कोई घटना इससे सिद्ध नहीं करती। एक खरगोश को मारने के लिये करोड़ों क्या एक भी गोली नहीं चलानी पड़ती। यदि सृष्टि-कर्त्ता

कभी एक गोली चलाता है तो उस ही गोली से सैकड़ों को मारने का काम निकाल लेता है। जितनी मितव्ययता सृष्टि मे है उससे अधिक की कल्पना भी नही हो सकती। वस्तुतः इस मितव्ययता का भी पूरा अर्थ समझने मे हम अशक्त हो जाते है। हमारी सृष्टि इतनी संकुचित है कि सृष्टि का बहुत थोड़ा भाग ही देख सकते हैं और उसका भी केवल एक अंश। इसलिये हम बहुत सी बातो का उपयोग समझ नहीं सकते। परन्तु विचारशील मनुष्य को अपनी अल्पज्ञता का विचार करके सृष्टि के पदार्थों का उदारता-पूर्वक अध्ययन करना चाहिये।

पांचवीं शङ्का

ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकम् प्रत्यक्षम्। न्याय सू० १।१।४

जो श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा और घ्राण का शब्द, स्पर्श रूप, रस और गध के साथ अव्यवहित अर्थात् आवरण रहित सम्बन्ध होता है, इन्द्रियो के साथ मन का और मन के साथ आत्मा के सयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु जो व्यपदेश्य अर्थात् सज्ञासज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है वह ज्ञान न हो, जैसे किसी ने किसी से कहा कि "तू जल ले आ" वह लाके उसके पास धर के बोला कि "यह जल है" परन्तु वहां "जल" इन दो अक्षरो की सज्ञा लाने वा मँगाने वाला नही देख सकते। किन्तु जिस पदार्थ का नाम जल है वही प्रत्यक्ष होता है और जो शब्द से ज्ञान उत्पन्न होता है वह शब्द प्रमाण का विषय है। "अव्यभिचारि" जैसे किसी ने रात्रि मे खम्भे को देख के पुरुष का निश्चय कर लिया। जब दिन में उसको देखा तो रात्रि का पुरुष ज्ञान नष्ट होकर स्तम्भज्ञान रहा ऐसे बिनाशी-ज्ञान का नाम व्यभि-

चारी है सो प्रत्यक्ष नही कहाता। "व्यवसायात्मक" किसी ने दूर से नदी की बालू को देख के कहा कि "वहाँ वस्त्र सूख रहे हैं जल है वा और कुछ है" "वह देवदत्त खड़ा है वा यज्ञदत्त" जब तक एक निश्चय न हो तब तक वह प्रत्यक्ष ज्ञान नही है किन्तु जो अव्यपदेश्य अव्यभिचारि और निश्चयात्मक ज्ञान है उसी को प्रत्यक्ष कहते हैं"। (सत्यार्थ प्रकाश समुल्लास ३, पृ० ५०)

यहां प्रत्यक्ष प्रमाण के लिये "इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष" होना आवश्यक है। सभी आस्तिक मानते हैं कि ईश्वर इन्द्रियों का विषय नही इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि हो ही नहीं सकती। कपिल मुनि कहते हैं:—

ईश्वरा सिद्धे

दूसरा अनुमान प्रमाण है।

"अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च। न्या० १।१।५

जो प्रत्यक्षपूर्वक अर्थात् जिसका कोई एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल मे प्रत्यक्ष हुआ हो उसका दूर देश से सहचारी एक देश के प्रत्यक्ष होने से अदृष्ट अवयवी का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं" (स० प्र० पृ० ५९) अनुमान के लिये एक देश वा सम्पूर्ण द्रव्य का किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वर का प्रत्यक्ष नही होता। अतः उसका अनुमान भी नही हो सकता।

तीसरा उपमान—

प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्। न्याय १।१।६

जो प्रसिद्ध प्रत्यक्ष साधर्म्यत् से साध्य अर्था सिद्ध करने योग्य ज्ञान की सिद्धि करने का साधन हो उसको उपमान कहते हैं" (स० प्र० पृ० ५१)

उपमान प्रमाण के लिये भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता है। प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्ध नहीं होता अतः उपमान से ईश्वर की सिद्धि भी असम्भव ही है।

रहा चौथा प्रमाण शब्द

आप्तोपदेशः शब्दः। न्या० १।१।७

आप्त का उपदेश शब्द कहलाता है। सो यह भी प्रत्यक्ष के ही आश्रय है। प्रत्यक्ष का लक्षण करते हुये इसका वर्णन कर चुके हैं। अतः ईश्वर सिद्धि के लिये कोई प्रमाण नहीं है। विना प्रमाण के ईश्वर के अस्तित्व को मानना बुद्धिमत्ता नही है।

अब हम इसका **समाधान** करते हैं। वस्तुतः अनुमान प्रमाण का ठीक अर्थ न समझने के कारण यह शंका उत्पन्न हुई है। जब किसी कार्य्य को देख कर उसके कारण का अनुमान करते है। तो उस कारण का प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता नही होती। वस्तुतः यदि प्रत्यक्ष हो सकता तो अनुमान प्रमाण के प्रयोग की आवश्यकता भी न होती। अनुमान प्रमाण वही लगाया जाता है जहाँ प्रत्यक्ष से काम न चलता हो। यदि हम किसी मनुष्य को उसके पिता सहित देखते हैं तो पिता के प्रत्यक्ष होने के कारण यह अनुमान करना नही पड़ता कि इसका कोई न कोई पिता अवश्य होगा। इसी प्रकार यदि पहाड़ मे धुआं और आग दोनों देखते हैं तो आग के प्रत्यक्ष होने के कारण धुएं के अस्तित्व से अनुमान प्रमाण द्वारा अग्नि का अस्तित्व सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। कहावत भी है कि

प्रत्यक्षं किं प्रमाणम्

अर्थात् प्रत्यक्ष वस्तु के लिये किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष स्वयं ही पर्य्याप्त प्रमाण समझा जाता है।

सूर्य्य के प्रकाश में दीपक जलाना व्यर्थ है इसी प्रकार अन्य प्रमाणों का तभी काम पड़ता है जब प्रत्यक्ष प्रमाण का अभाव हो। इसलिये यह शंका करना कि जब ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता तो अनुमान भी नहीं हो सकता सर्वथा भ्रम है यदि। ईश्वर प्रत्यक्ष हो सकता तो अनुमान आदि प्रमाणों की आवश्यकता ही न होती। और जिनको ईश्वर प्रत्यक्ष होता है उनको इसकी आवश्यकता नही होती। इसका वर्णन हम आगे करेंगे। यहाँ यह मान लेते हैं कि ईश्वर सब को प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये उनके लिये अनुमान की आवश्यकता होती है।

अनुमान के लक्षण मे जो "तत्पूर्वकम्" शब्द पड़ा है उसका अर्थ यह नही है कि जिस कार्य्य को हम कारण सिद्ध करना चाहते हैं उस कारण का हमको प्रत्यक्ष हो गया हो। इसका तात्पर्य्य यह है कि उसी प्रकार के कारण और कार्य्य का पहले प्रत्यक्ष हो चुका हो और इस समय केवल कार्य्य का प्रत्यक्ष होता हो और कारण का नही।

साँख्य दर्शन मे अनुमान प्रमाण का यह लक्षण किया है:—

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् । (सां १ । १००)

अर्थात् प्रतिबन्ध या सम्बन्ध के ज्ञान द्वारा सम्बद्ध वस्तु का ज्ञान होना ही अनुमान प्रमाण है

इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्ध का होता है न कि सम्बद्ध वस्तु का।

वस्तुतः प्रमाण लगता ही तब है जब विना प्रमाण के ज्ञान का अभाव हो। साँख्य दर्शन मे कहा है :—

द्वयोरेकतरस्य वाऽप्यसंनिकृष्टार्थपरिच्छित्तिः प्रमा ।
तत्साधकतमं यत् तत् त्रिविधं प्रमाणम् ।। (सां० १ । ८७)

(असंनिकृष्टार्थ परिच्छित्तिः) अर्थात् अज्ञात विषय के निश्चय करने को 'प्रमा' या यथार्थ ज्ञान कहते हैं और (यत्) जो (ततसाधकतमं) उस प्रमा का साधन है वह प्रमाण कहलाता है।

इस प्रकार अनुमान के लिये तीन बातें आवश्यक हैं :—

(१) कारण और कार्य्य का पहले प्रत्यक्ष होना।

(२) अब उसी प्रकार के कार्य्य का प्रत्यक्ष होना।

हम ईश्वर सिद्धि के लिये जब अनुमान प्रमाण का प्रयोग करते हैं तो इन तीनो बातो को स्पष्टतया दिखाते हैं। अर्थात्

(१) हमने घड़ा कुम्हार के द्वारा ही बनते प्रत्यक्ष किया है या घड़ीसाज के द्वारा ही। अथवा पुत्र पिता के द्वारा ही उत्पन्न होते देखा है। अतः ससार की इस प्रकार की समस्त घटनाओ के प्रत्यक्ष करने से हम इस नियम का प्रत्यक्ष करते हैं कि विना कारण के कार्य्य उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् जब जब कार्य्य होगा तब तब उसका कारण अवश्य होगा।

(२) हम सृष्टि की समस्त घटनाओं को देखते हैं कि उनका आरम्भ है। वह 'कार्य्य' कोटि [illegible] रक्खी जा सकती है। यह भी हम को प्रत्[illegible]।

(३) इनका कारण अर्थात् ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है। अतः अनुमान के लिये जो तीनों अवस्थायें आवश्यक थी वह पूरी हो गईं। फिर कोई कारण नहीं है कि इसमे अनुमान प्रमाण न लगा सकें।

इसीलिये अन्न भट्ट ने लिखा है :—

क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्य्यत्वाद्व घटवद्व इति अनुमानस्य प्रमाणत्वात्। (तर्कदीपिका पृ० १२)

"पृथ्वी अंकुर आदि का अवश्य कोई कर्त्ता है क्योंकि यह भी घड़े के समान कार्य्य की कोटि में आते हैं। इस प्रकार अनुमान प्रमाण सिद्ध है"।

उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि मे ईश्वर-सिद्धि में यह युक्तियाँ दी हैं :—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् सङ्ख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।
(५।१)

(१) कार्य-सृष्टि कार्य है अतः कारण चाहिये।

(२) आयोजन—परमाणुओं के मिलाने में क्रिया हुई होगी। इसका कर्त्ता चाहिये।

(३) धृति (आदि)—सृष्टि का कोई आधार चाहिये इत्यादि।

(४) पद—अर्थात् बुनना आदि काम पहले किसी ने सिखाये होंगे।

(५) प्रत्यय—अर्थात् वेदो मे ज्ञान प्रदान करने की शक्ति किसने दी ?

(६) श्रुतिः—अर्थात् वेद किसने बनाये ?

(७) वाक्य—अर्थात् भाषा किसने दी ?

(८) सङ्ख्या विशेष—अर्थात यह किसको सूझा कि दो परमाणुओं से द्वयणुक बनते हैं इत्यादि।

शब्द प्रमाण मे तो कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती। आप्त का अर्थ है विद्वान्, हितचिंतक तथा सत्यवादी। जब हम समझते हैं कि एक पुरुष विद्वान् भी है और सत्यवादी भी। जब उसने ईश्वर को प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध कर लिया है तो उसके "उपदेश" को मानना हमारा कर्त्तव्य है। यही शब्द प्रमाण का उपयोग है। जब एक ऋषि कहता है :—

त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि

अर्थात् "तू प्रत्यक्ष ब्रह्म है" और वह हमको ईश्वर के विषय में उपदेश करता है तो कोई कारण नहीं कि हम उस को न मानें। हां यह प्रश्न हो सकता है कि हम इस पुरुष को अर्थात् उपनिषत्कार को 'आप्त' नहीं मानते, यह दूसरी बात है। यहां शंका यह नहीं है कि अमुक ऋषि आप्त है या नहीं। शंका तो यह थी कि शब्द प्रमाण से ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं या नहीं। इसी का उत्तर दिया गया अर्थात् शब्द प्रमाण के लक्षणों में कोई ऐसी बात नहीं है जो हमको ईश्वर सिद्धि में इसका प्रयोग करने से रोक सके।

रही आप्त की बात। यह सत्य है कि एक पुरुष को कुछ लोग आप्त समझते हैं कुछ नहीं। जो उसको आप्त नहीं समझते वह उसकी आप्तता पर शंका करें। या ईश्वर सिद्धि को अनुमान प्रमाण से सिद्ध करें। परन्तु विना शब्द प्रमाण के आज तक न किसी का काम चला और न चलेगा। कारण यह है कि जहाँ अनुमान के लिये 'कार्य' का प्रत्यक्ष होना अत्यावश्यक है (देखो शर्त नं० २) वहां शब्द के लिये न कार्य्य का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है न कारण का। जो पुरुष आप्त के उपदेश से लाभ उठाना चाहता है वह समझ लेता है कि उस आप्त ने प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा इस बात को सिद्ध कर लिया होगा। मुझे उस पर विश्वास है अतः मैं इसकी बात मानता हूं।

संसार में बहुत कम ऐसे हैं जिनको प्रत्येक वस्तु के प्रत्यक्ष करने का अवसर मिल सके। मैं तो कहता हूँ कि एक भी नहीं है। अतः बहुत से लोगों को अनुमान द्वारा ही अपना काम सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। परन्तु अनुमान के लिये भी एक अङ्ग का प्रत्यक्ष आवश्यक है। अधिकांश पुरुष तो एक अङ्ग का भी प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, अतः शब्द प्रमाण का ही आश्रय लेना

पड़ता है। न्यूटन ने भूमि की आकर्षण शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं किया। उसको केवल सेव के गिरने की घटना का ही प्रत्यक्ष हुआ। परन्तु उसने अनुमान प्रमाण द्वारा भूमि की आकर्षण शक्ति को सिद्ध किया। गैलीलियों ने भी पृथ्वी की गोलाई का प्रत्यक्ष नहीं किया किन्तु अनुमान ही किया। परन्तु सर्वसाधारण को उन परीक्षाओं के करने का भी अवसर नहीं मिलता जो अनुमान के लिये आवश्यक है। अतः उनको धुरन्धर सायसज्ञों को आप्त मान कर ही चलना पड़ता है। वैद्य ने किसी एक समय प्रत्यक्ष किया कि अमुक प्रकार के ज्वर में नाड़ी की अमुक प्रकार की गति हो जाती है। अब वह एक रोगी को देख रहा है। और उसकी नाड़ी की गति से अनुमान कर रहा है कि उसे अमुक प्रकार का ज्वर होगा। उसे रोगी के पास निरन्तर बैठने और ज्वर तथा नाड़ी का सम्बन्ध प्रत्यक्ष करने का अवसर नहीं। प्रत्यक्ष की अवस्था वह थी जब वह वैद्यक विद्यालय में शिक्षण ग्रहण कर रहा था। अब अनुमान की अवस्था है। परन्तु रोगी के परिचारको को न प्रत्यक्ष का अवकाश है न अनुमान का। वह न तो ज्वर ही को पहचान सकते है न नाड़ी की गति को ही। अतः उनके लिये शब्द प्रमाण ही एक प्रमाण है अर्थात् विश्वास-पात्र वैद्य का निश्चय।

अब रहा यह प्रश्न कि ईश्वर किसी को प्रत्यक्ष भी हो सकता है या नहीं। मैं ऊपर दिखा चुका हूँ कि कुछ लोग ईश्वर का प्रत्यक्ष करना बताते हैं। उसको केवल गप क्यों माना जाय? जिस बात की सिद्धि अनुमान से होती है उसकी सम्भव है किसी को प्रत्यक्ष द्वारा भी होती हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि हम संसार भर को बाधित करें कि तुमको भी अवश्य ईश्वर का प्रत्यक्ष हो जाय। यदि किसी को ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं होता तो हम उस पर बलात्कार नहीं कर सकते, न उसको प्रत्यक्ष न करने का

दोष दे सकते हैं, परन्तु उसका भी कोई अधिकार नहीं है कि वह उन लोगों को जिन्होंने ईश्वर का प्रत्यक्ष किया है झूठा बतावे जब तक कि उसके पास अनुमान द्वारा ईश्वर के न होने के पर्य्याप्त प्रमाण न हों।

हम ऊपर कह चुके हैं कि ईश्वर सब को प्रत्यक्ष नहीं होता और न हो सकता है। परन्तु जिन्होंने युक्ति देना या प्रमाणों का ठीक ठीक उपयोग करना सीखा है उनके लिये ईश्वर एक "असिद्ध" वस्तु नहीं रह सकता। ईश्वर के प्रत्यक्ष होने के विषय में स्वामी दयानन्द सातवें समुल्लास में लिखते हैं :—

(प्रश्न) आप ईश्वर ईश्वर कहते हो परन्तु उसकी सिद्धि किस प्रकार करते हो ?

(उत्तर) सब प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से।

(प्रश्न) ईश्वर में प्रत्यक्षादि प्रमाण कभी नहीं घट सकते ?

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ [अ० १ सू० ४]

यह गोतम महर्षि कृत न्याय दर्शन का सूत्र है—जो श्रोत, त्वचा, जिह्वा घ्राण और मन का शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सुख, दुःख, सत्यासत्य विषयों के साथ सम्बन्ध होने से ज्ञान उत्पन्न होता है उसको प्रत्यक्ष कहते हैं परन्तु वह निर्भ्रम हो। अब विचारना चाहिये कि इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है गुणी का नहीं। जैसे चारों त्वचा आदि इन्द्रियों से स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान होने से गुणी जो पृथ्वी उसकी आत्मायुक्त मन से प्रत्यक्ष किया जाता है, ऐसे इस प्रत्यक्ष सृष्टि में रचना विशेष आदि ज्ञान दि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है।'
(सत्यार्थ प्रकाश समु० ७ पृ० १७९)

युक्ति बहुत स्पष्ट प्रतीत नहीं होती क्योंकि यदि "रचना विशेष आदि ज्ञान आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से" "परमेश्वर का भी"

प्रत्यक्ष हो तो घड़ी की रचना विशेष का प्रत्यक्ष होने से घड़ीसाज का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये या घड़े की रचना विशेष द्वारा कुम्हार का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु इसको सभी नैय्यायिकों ने प्रत्यक्ष मे न रख के अनुमान की कोटि मे रक्खा है। परन्तु इसमे सन्देह नहीं कि शुद्ध आत्माओं को ईश्वर का इसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है जैसे हम अपने पास खड़े हुये माता, पिता का प्रत्यक्ष करते हैं। योग दर्शन मे कहा है :—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् (योग० समा० ३)

अर्थात् योग की सिद्ध होने पर जीव को ईश्वर प्रत्यक्ष होने लगता है। उस समय उसको सृष्टि रचना द्वारा ईश्वर की सिद्धि की आवश्यकता नहीं रहती। जिस समय मेरा पिता या मेरी माता मुझे प्रत्यक्ष हो रही है उस समय मुझे उनके कामो द्वारा उनकी सिद्धि करना अनावश्यक है, परन्तु यह अवस्था सब की नही होती। केवल योगियों की ही होती है।

यह तो ठीक है कि गुणों के प्रत्यक्ष होने से गुणी का भी प्रत्यक्ष होता है परन्तु ईश्वर के सभी गुणो का प्रत्यक्ष नहीं होता। हम उन गुणों का अनुमान करने है। जैसे सृष्टि रचना गुण नहीं किन्तु कर्म है। इस कर्म द्वारा हम ईश्वर के 'ज्ञान' रूपी गुण का अनुमान करते है अतः ज्ञानी ईश्वर जो गुणी है उसका भी अनुमान हो जाता है। इसी प्रकार ईश्वर की दयालुता को हम ईश्वर के कर्मों द्वारा अनुमान प्रमाण से सिद्ध करते हैं। परन्तु जो पुरुष ईश्वर की सत्ता पर पूर्ण रूप से विचार करने के अभ्यासी हैं और जिनका—

तज्जपस्तदर्थभावनम्

नित्य नियम है वह ईश्वर की दयालुता का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष

भी कर सकते हैं। उनकी दृष्टि उपकार से चल कर उपकार करने वाली शक्ति पर स्थित हो जाती है। यही आस्तिकता की चरमावस्था है। शायद इस अर्थ में स्वामी दयानन्द ने कहा है:—"जब जीवात्मा शुद्ध होके परमात्मा का विचार करने में तत्पर रहता है उसको उसी समय दोनो प्रत्यक्ष होते हैं।" (स० प्र० समु० ७ पृ० १८०)

स्वामी दयानन्द ने 'दोनो' शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् जीवात्मा तथा परमात्मा क्योंकि साधारणतया मनुष्य को अपना अर्थात् 'जीव' का भी प्रयत्न नहीं होता। उसकी इन्द्रियाँ बाहर होने के कारण वह सृष्टि के पदार्थों में ही लिप्त रहता है। आंख रूपवाली वस्तुओं के रूप को देखती रहती है, कान शब्द इत्यादि को। और मन इन इन्द्रियों द्वारा कते हुये सूत का "ताना बाना" बनाता रहता है। केवल योग अवस्था में ही "चित्त की वृत्तियों का निरोध" होकर जीव को अपने तथा ईश्वर के प्रत्यक्ष करने का अवसर मिलता है। उसी समय उसको यह भी प्रत्यक्ष होता है कि "आत्मा के भीतर से बुरे काम करने में भय, शङ्का, और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने से अभय, निःशङ्कता और आनन्दोत्साह उठता है वह जीवात्मा की ओर से नहीं किन्तु परमात्मा की ओर से है।" (स० प्र० समु० ७ पृ० १८०)

यह लज्जा तथा उत्साह सभी मनुष्यों के हृदय में उठते हैं। परन्तु सब को यह प्रत्यक्ष नहीं हो सकता कि उपदेश कौन कर रहा है, जिस प्रकार किसी दूरस्थ सुगन्धयुक्त वस्तु की सुगन्धि को तो सभी सूंघते हैं। परन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि यह किस पुष्प की सुगन्धि है। इसी प्रकार अपने आत्मा में उपदेश की आवाज सुनता हुआ भी मनुष्य यह नहीं जानता कि कौन कह रहा है। उपदेश द्वारा उपदेष्टा का ज्ञात होना ही सच्ची आस्तिकता है।

छठी शंका

वेदान्ती लोग ईश्वर की सृष्टि का निमित्त कारण नहीं मानते। यह केवल नैयायिकों का मत है। इस मत पर निम्न शकायें हो सकती हैं :—

(१) समस्त सृष्टि को रची हुई सिद्ध करना दुस्तर है। सम्भव है कि सृष्टि के भिन्न भिन्न अवयव बने हुये हो परन्तु जो बात अवयवो मे पाई जाती है उसका अवयवी मे भी होना आवश्यक नहीं। जैसे वायु की चक्की के अवयव घूमते है परन्तु चक्की स्वयं नहीं घूमती।

(२) हमारा ज्ञान परिमित है। परिमित ज्ञान से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि संसार मे कोई वस्तु ऐसी नही है जो बिना बनी न हो।

(३) नैयायिक लोग स्वयं परमाणु देश, काल तथा आत्मा को नित्य मानते हैं। फिर ईश्वर सब का बनाने वाला कैसे होगा ? यदि कहो कि इन चीजो को छोड़ कर अन्यो को ईश्वर बनाता है तो ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान नही रह सकता।

(४) कर्त्ता के लिये इच्छा होनी चाहिये। जब इच्छा है तो सुख दुख भी होगा। फिर ईश्वर अन्य जीवो के समान हो जायगा।

(५) सृष्टि को कार्य्य सिद्ध करना कठिन है क्योंकि कार्य्य और कारण सापेक्षिक होते हैं। जब तक ईश्वर को कारण सिद्ध न करो सृष्टि को कार्य सिद्ध नही कर सकते और जब तक सृष्टि 'कार्य्य' सिद्ध नही हो सकती उस समय तक ईश्वर कारण सिद्ध नही होता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष आता है।

यह सब शङ्कायें निर्मूल हैं। चाहे वह वेदान्तियो की हों चाहे अवेदान्तियो की। वस्तुतः वेदान्त का वही सिद्धान्त है जिसका

हम आरम्भ से प्रतिपादन करते चले आ रहे हैं ! यथार्थ वेदान्त में और उन लोगों के सिद्धान्त में बहुत भेद है जो अपने को वेदान्ती कहते है।

(१) दार्शनिक अपेक्षा से पहली शङ्का निमूल ही नहीं किन्तु हास्य-जनक है। जिस अवयवी के एक अवयव मे परिवर्त्तन होता है वह समस्त अवयवी परिवर्त्तन शील माना जाता है। जैसे शरीर के एक अङ्ग मे रोग होने से समस्त शरीर को रोगी कहते हैं। वायु-चक्की का दृष्टान्त विषम है। सृष्टि के प्रत्येक अवयव को हम बनता और बिगड़ता देखते हैं। जैसे वृक्ष की एक शाखा बनती बिगड़ती है इसी प्रकार समस्त वृक्ष भी बनता बिगड़ता है। जिस प्रकार एक वृक्ष बनता बिगड़ता है उसी प्रकार बाग के बाग भी बनते बिगड़ते है। जिस प्रकार बाग बनता बिगड़ता है उसी प्रकार देश या नगर भी बनते बिगड़ते हैं। जिस प्रकार देश बनते बिगड़ते हैं उसी प्रकार भूमण्डल भी बनता बिगड़ता रहता है। जिस प्रकार भूमण्डल बनता बिगड़ता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी बनता बिगड़ता है। अतः यह कहना अयथार्थ है कि सृष्टि समष्टि रूप से नहीं बनती केवल उसके अवयव ही बनते है।

(२) परिमित ज्ञान के आधार पर यह समझ बैठना कि कुछ न कुछ घटनायें ऐसी भी है जिनका कोई कारण नहीं मूर्खता है। इस प्रकार का कोई ऐसा भी दृष्टान्त या प्रमाण नहीं मिलता जो शङ्का करने का अवसर भी दे सके। परिसीमित ज्ञान के आधार पर क्या तुम कभी यह भी मानते हो कि शायद किसी अज्ञात द्वीप मे सूंड वाले मनुष्य रहते हो या कोई प्राणी कान से खाना खाते हो ?

जो घटना है उसका अवश्य कारण होना चाहिये। जो संयुक्त वस्तु है वह अवश्य कभी न कभी संयुक्त हुई होगी और

संयोग रूपी घटना का कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। हाँ, जो पदार्थ दो या अधिक पदार्थों के संयोग से नहीं बना जैसे देश, काल, परमाणु इत्यादि उसको 'घटना' की कोटि मे नहीं ला सकते और ऐसे पदार्थों को नित्य मानना ही पड़ेगा।

(३) इनके नित्य मानने से ईश्वर की सर्वज्ञता या सर्वशक्तिसत्ता से बाधा नहीं पड़ती। सर्वज्ञता का अर्थ यह है कि वह सबका ज्ञान रखता हो। जैसे को वैसा जानना ज्ञान है उससे विपरीत जानना अज्ञान। यदि ईश्वर बे बनी वस्तु को बे बनी और बनी को बनी जानता है तो उसकी सर्वज्ञता का किसी प्रकार खण्डन नहीं होता। उसकी सर्वशक्तिमत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वह इन नित्य पदार्थों को जिस प्रकार सयुक्त करना चाहता है उसी प्रकार संयुक्त कर देता है। देश, काल, परमाणु, आत्मा यह सभी सृष्टि निर्माण की सामग्री हैं और वह परमेश्वर के नियम से बाहर नहीं जा सकते। आत्मा यह नहीं कह सकता कि मैं अमुक शरीर मे ही रहूँगा अन्य किसी शरीर मे न जाऊंगा। जब मृत्यु का समय आता है उस समय उसको अपना प्रिय से प्रिय शरीर त्याग देना पड़ता है। परमाणु यह नहीं कह सकते कि हम परस्पर नहीं मिलेंगे या मिल कर अमुक वस्तु न बनायेंगे।

(४) कर्त्ता के लिये इच्छा अवश्य होनी चाहिये परन्तु इच्छा यदि स्वाभाविक होगी तो उसकी पूर्त्ति मे सुख दुःख कुछ न होगा। जिस प्रकार मै स्वभाव से ही सांस लेता हूं और सांस लेने मे मुझे सुख का अनुभव नहीं होता। हां जब स्वभाव मे कुछ बाधा पड़ती है तब सांस रुकने मे दुःख होता है उसी प्रकार ईश्वर की स्वाभाविक इच्छा मे कोई बाधक नहीं हो सकता अतः उसको दुःख भी नहीं होता। लोगों को यह ज्ञान नहीं है कि जीवों को कब दुःख होता है और कब सुख। यदि अभीष्ट पदार्थ उपस्थित न हो और परिश्रम

करने से उपस्थित हो जाय तो उसमें सुख होता है। यदि उपस्थित होने में बाधा हो तो दुःख होता है। ईश्वर के पास सभी वस्तुएँ हैं, और उसका कोई बाधक भी नहीं। इसलिये ईश्वर में सुख और दुःख दोनों नहीं।

(५) कार्य्य और कारण सापेक्षिक अवश्य हैं। परन्तु कार्य्य का कार्य्यत्व सिद्ध करने के लिये कारण की आवश्यकता नहीं। हां कार्य्य को कार्य्यत्व प्राप्त कराने के लिये कारण की आवश्यकता है। बिना घड़ीसाज़ को जाने ही घड़ी की प्रकृति को देखकर मैं घड़ी को कार्य्य सिद्ध कर सकता हूं। किसी वस्तु के कार्य्य होने का ज्ञान उस वस्तु की प्रकृति से होता है। और जब वह 'कार्य्य' सिद्ध हो गई तो अनुमान प्रमाण से उसका कोई अन्य कारण होना भी सिद्ध है।

ईश्वर को सृष्टि का निमित्त कारण मानने से कोई शङ्का नहीं रहती। परन्तु उसको उपादान कारण मानने से तो अनेको आपत्तियां आ जाती हैं। हम यहां कुछ का वर्णन करते हैं :—

(१) उपादान कारण के दो रूप होते हैं प्रथम तो दो या अधिक वस्तुओं से मिल कर तीसरी वस्तु बन जाना। जैसे घड़ी के पुर्ज़ों से घड़ी। या मिट्टी के कई परमाणुओं तथा जल से मिल कर घड़ा, या लकड़ी के कई टुकड़ों से मिल कर मेज़, कुर्सी आदि। दूसरे एक ही वस्तु का परिणाम हो कर दूसरी वस्तु बन जाना जैसे जमे हुये घी का पिघल कर पतला घी या पानी की बर्फ़। इस दूसरी अवस्था में भी उपादान कारण एक वस्तु नहीं किन्तु अनेक हैं जैसे जल या घी के अनेक परमाणु तथा अग्नि। इस प्रकार दोनों अवस्थाओं को एक रूप दिया जा सकता है अर्थात किसी कार्य्य का उपादान कारण एक वस्तु नहीं होती, अनेक होनी चाहियें। यदि एक ही वस्तु हो तो उससे दूसरी वस्तु बन

ही नहीं सकती। यदि लकड़ी को काट कर कई टुकड़े न हो सकते तो मेज़ कैसे बनती ? यदि मिट्टी के अनेक परमाणु न होते तो घड़ा कैसे बनता ? यदि घी या जल के अनेक परमाणु न होते तो वह सिकुड़ या फैल कैसे सकते ? जब तक संयोग या वियोग तथा सकोचन और प्रसारण न हो उस समय तक दूसरी वस्तु बन ही नहीं सकती। इससे सिद्ध है कि एक ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण नहीं हो सकता।

(२) उपादान कारण परिवर्त्तनशील होना चाहिये। ब्रह्म को एकरस और अखण्ड मानते हो तो फिर उसमे परिवर्त्तन कैसे होगा ? परिणामी ईश्वर नहीं हो सकता। 'एकं ब्रह्म द्वितीयं-नास्ति' मानने वाले यह नहीं सोचते हैं कि यदि ईश्वर के अतिरिक्त और कोई वस्तु है ही नहीं तो ईश्वर में परिणाम होने के लिये ईश्वर से भिन्न कोई दूसरा कारण होना चाहिये। वस्तु दो कारणों से बदलती है, एक उससे स्वयं अपूर्णताया आवश्यकता हो, दूसरे अन्य कोई वस्तु उसमें परिणाम उत्पन्न करे। यह दोनों बातें वेदान्तियो के ब्रह्म को दूषित बनाती हैं।

(३) शुद्ध चेतन ब्रह्म का परिणाम रूप अचेतन जगत कैसे हो सकता है ? जगत् मे हम जड़ और चेतन दोनो ही देखते हैं। यदि कहो कि जड़ वस्तु कोई नहीं केवल चेतनता का लोप मात्र है तो इस लोप का क्या कारण है ? लोप या तिरोभाव के लिये भी तो कुछ न कुछ कारण चाहिये। हम श्री शङ्कराचार्य्य जी के शारीरिक भाष्य से कुछ उदाहरण देते हैं जिनसे ईश्वर सृष्टि का उपादान कारण नहीं ठहरता :—

(१) उत्पत्तिमत्वे हि जीवस्यानित्यत्वादयो दोषाः प्रसज्येरन्। ततश्च नैवास्य भगवत् प्राप्तिर्मोक्षः स्यात्; कारणप्राप्तौ कार्यस्य प्रविलय प्रसङ्गात्। [२।२।४२]

यदि जीव ईश्वर से उत्पन्न हुआ होता तो वह अनित्य होता और मोक्ष न मिल सकता क्योंकि कार्य्य कारण मे विलय हो जाता है।

[२] ईश्वरस्तु पर्ज्यन्यवद्द्रष्टव्यः। यथाहि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहि यवादि वैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति। [२।१।३४]

ईश्वर मेह के समान है जैसे मेह चावल जौ आदि की उत्पत्ति मे साधारण कारण होता है और चावल जौ आदि के बुरे होने का असाधारण कारण उनके बीज मे होता है इसी प्रकार सृष्टि का साधारण कारण ईश्वर है।

(३) तस्मादस्त्यविकृतं ब्रह्म २ । १ । २७ ।

इसलिये ब्रह्म मे विकार नहीं होता। अर्थात सृष्टि ब्रह्म का विकृत रूप नही है क्योंकि ब्रह्म अविकृत है।

(४) ननु मृदादिदृष्टान्त प्रणयनात् परिणामवद्ब्रह्म शास्त्रस्याभिमतमिति गम्यते। परिणामिनो हि मृदादयोऽर्था लोके समधिगता इति। नेत्युच्यते; 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म' (बृ० ४।४।२५), 'स एष नेति नेत्यात्मा' (बृ० ३।९।२६), 'अस्थूलमनणु (बृ० ३।८।८।) इत्याद्याभ्यः सर्व विक्रियाप्रतिषेधश्रुतिभ्यो ब्रह्मणः कूटस्थत्वावगमात्। न ह्येकस्य ब्रह्मणः परिणामधर्मत्वं

तद्रहितत्वं च शक्यं प्रतिपत्तुम्। स्थितिगतिवत्स्यादिति चेत्, न, कूटस्थस्येति विशेषणात्। नहि कूटस्थस्य ब्रह्मणः स्थितिगतिवदनेकधर्माश्रयत्वं संभवति। (२।१।१४)

(आक्षेप करने वाला कहता है) कि मिट्टी आदि के दृष्टान्त से ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्र मे ब्रह्म को परिणाम वाला माना है, क्योंकि लोक में मिट्टी आदि पदार्थ परिणामी माने जाते हैं।

(इसका उत्तर शङ्कराचार्य देते हैं) ऐसा नहीं, क्योंकि—

कहा है कि 'ब्रह्म महान्, अज, आत्मा, अजर, अमर, अमृत तथा अभय है' (बृहदारण्यक) 'वह आत्मा ऐसा नही, ऐसा नही, (बृ०) वह न स्थूल है न अणु है (बृ०) इन सब विकार का खण्डन करने वाली श्रुतियों से ब्रह्म कूटस्थ सिद्ध है। ऐसा नही हो सकता कि एक ही ब्रह्म परिणामी भी हो और परिणामी न भी हो। यदि कहो कि जिस प्रकार एक ही वस्तु कभी चलती है और कभी नही भी चलती इसी प्रकार ब्रह्म भी है तो भी ठीक नहीं। क्योकि ब्रह्म को 'कूटस्थ' कहा गया है। कूटस्थ ब्रह्म मे स्थिति और गति के समान अनेक धर्म नही हो सकते।*

---

*शंकराचार्य जी ने वेदान्त दर्शन २।१।२४ "उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्नक्षीरवद्धि" इस सूत्र का भाष्य करते हुये ब्रह्म को दूध आदि के समान परिणामी माना है। यह ठीक नही। और सूत्र २। १। १४ में कहे हुये इस वाक्य के विरुद्ध भी जाता है। हम यहाँ उनकी समस्त व्याख्या पहले देकर फिर इस पर आलोचना करते है जिससे ज्ञात हो जाय कि श्री शंकराचार्य के लेखों में किस प्रकार परस्पर विरोध पाया जाता है। वह लिखते हैं:—

(५) मृदादिष्वपि कुम्भकाराद्यधिष्ठितेषु विशिष्टाकारा रचना दृश्यते, तद्वत् प्रधानस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितत्व-प्रसङ्गः। (२ । २ । १)

चेतनं ब्रह्मैकमद्वितीयं जगतः कारणमिति यदुक्तं तन्नोपपद्यते। कस्मात्? उपसंहार दर्शनात्। इह हि लोके कुलालादयो घटपटादीनां कर्तारो मृद् दण्ड चक्रसूत्राद्यनेककारकसाधनोपसंहारेण संगृहीत-साधनाः सन्तस्तत् तत्कार्य्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते। ब्रह्म चासहायं तवाभि-प्रेत तस्य साधनान्तरानुपसंग्रहे सति कथं स्रष्टृत्वमुपपद्येत? तस्मान्न ब्रह्म जगत्कारणमिति चेत, नैषदोषः; यतः क्षीरवद् द्रव्य स्वभाव विशेषादुपपद्यते। यथा हि लोके क्षीरं जलं वा स्वयमेव दधिहिमभावेन परिणमतेऽनपेक्ष्य बाह्यं साधनं तथेहापि भविष्यति। ननु क्षीराद्यपि दध्यादिभावेन परिणममानमपेक्षत एव बाह्यं साधनमौष्ण्यादिकं, कथमुच्यते क्षीरवद्धाति? नैषदोषः; स्वयमपिहि क्षीरं यां च यावतीं च परिणाममात्रामनुभवति तावत्येव त्वर्यते त्वौष्ण्यादिना दधिभावाय। यदि च स्वयं दधिभावशीलता न स्यान्नैवौष्ण्यादिनापि बलाद् दधि-भावमापद्येत। नहि वायुराकाशो वौष्ण्यादिना बलाद् दधिभावमा-पद्यते। साधन सामग्र्या च तस्य पूर्णता संपाद्यते। परिपूर्ण शक्तिकं तु ब्रह्म। न तस्यान्येन केनचित् पूर्णता संपादयितव्या। श्रुतिश्चभवति-'न तस्य कार्य्यंकरणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्चदृश्यते। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च, (श्वे० ६ । ८) इति। तस्मादेकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवद विचित्र परिणाम उपपद्यते।

इसका भाषानुवाद करने में हम कई विभाग किये देते हैं जिससे पाठकों को एक दूसरे विभाग से तुलना करने का अवसर मिल सके—

(१) एक अद्वितीय चेतन ब्रह्म जगत् का कारण है यह ठीक

मिट्टी आदि से कुम्हार आदि की अधिष्ठातृता में ही रचना दीखती है इस प्रकार प्रकृति आदि में भी किसी अन्य चेतनशक्ति के अधिष्ठातृत्व से ही सृष्टि की रचना होती है।

नहो। क्यों? साधन की, आवश्यकता देखे जाने से। लोक में देखते है कि कुम्हार आदि घड़ा आदि बनाने के लिये पहले मिट्टी, डण्डा, चाक, धागा, आदि अनेक साधनों को इकट्ठा कर लेते है तब कार्य को करते हैं। ब्रह्म एक और असहाय है उसके पास साधन नहीं अत वह स्रष्टा कैसे हो सकता है? इसलिये ब्रह्म जगत् का कारण नहीं (यह शंका है)

(२) (शंकराचार्य जी इसका समाधान करते हैं) कि वह दोष नहीं जैसे दूध के समान वस्तुये स्वभाव से उत्पन्न होती हैं। जैसे लोक मे दूध या जल स्वयम् ही दही बर्फ हो जाता है। बाहरी साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वैसा ही यहा भी होगा।

(३) यदि कहो कि दूध आदि के दही आदि बन जाने में गर्मी आदि बाहरी साधन है तो फिर दूध आदि का दृष्टान्त कैसे लागू हो सकता है?

(४) (तो इसका उत्तर है) कि यह दोष नहीं। दूध जिस जिस ओर जितनी जितनी परिणाम मात्रा को अनुभव करता है उतना ही उतना गर्मी से दही बनता है। यदि दूध में स्वयं दही के बनने का स्वभाव न होता तो गर्मी के द्वारा भी दही न बनता। जैसे वायु या आकाश गर्मी पाकर दही नहीं बन जाते। साधन सामग्री से उसकी पूर्णता होती है।

(५) परन्तु ब्रह्म परिपूर्ण शक्ति वाला है। वह किसी दूसरे से शक्ति नहीं प्राप्त करता।

(६) श्रुति भी है "उसका न कार्य्य है न कारण है। उसके न कोई बराबर है न बड़ा है। उसकी शक्ति बड़ी और अनेक प्रकार की है उसका ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक हैं" (श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।८)।

(७) इसलिये एक ही ब्रह्म का विचित्र शक्ति के योग से दूध आदि समान विचित्र परिणाम होता है।

(६) नहि मृदादयो रथादयो वा स्वयमचेतनाः सन्तश्चेतनैः कुलालादिभिरश्वादिभिर्वानधिष्ठिता विशिष्टकार्य्याभिमुखप्रवृत्तयो दृश्यन्ते । दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः । अतः प्रवृत्त्यनुपपत्तेरपि हेतोर्नाचेतनं जगत्कारणमनुमातव्यं भवति । ननु चेतनस्यापि प्रवृत्तिः केवलस्य न दृष्टा,

---

आलोचना—यहां शंकराचार्य जी अन्त में ब्रह्म का परिणामी होना सिद्ध करते हैं (देखो भाग ७) उसी प्रकार जैसे दूध से दही बनता है। यह बात प्रथम तो उन्हीं के उन कथनों के विरुद्ध जाती है जिनमें उन्होंने ब्रह्म को अविकृत, कूटस्थ आदि बताया है। दूसरे उस श्रुति के भी विरुद्ध है जिसमें कहा है कि ईश्वर का न कोई (दही आदि के समान) कार्य है न करण (साधन) है। (देखो भाग ६) भाग ५ में ब्रह्म की शक्ति का वर्णन था जिससे साधनों का सम्बन्ध है जैसे चाक, धागा, डण्डे आदि का न कि उपादान कारण का। पहले भाग में 'मिट्टी' शब्द उन्होंने बिना आवश्यकता के ही केवल परिणाम सिद्ध करने के लिये रख दिया।

सूत्र का सीधा अर्थ यह है कि 'जिस प्रकार दूध या पानी से दही या बर्फ के बनाने में किसी ऐसे उपसंहार अर्थात् साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती जैसे घड़े आदि के बनाने में चाक, डण्डा या धागे आदि की पड़ती है इसी प्रकार ईश्वर को प्रकृति के परमाणुओं से सृष्टि बनाने में किसी साधन (औज़ार) की ज़रूरत नहीं होती।" चूंकि शंकराचार्य जी प्रकृति का खण्डन और अद्वैत की सिद्धि करना चाहते थे इसलिये उन्होंने उपसंहार गिनाते हुये 'मिट्टी' भी गिना डाली और न केवल अपने कथनों के ही विरुद्ध लिखा किन्तु श्वेताश्वतर उपनिषद् के वाक्य का भी विरोध किया।

सत्यमेतत्। तथापि चेतनसंयुक्तस्य रथादेरचेतनस्य प्रवृत्ति-र्दृष्टा, नत्वचेतन संयुक्तस्य चेतनस्य प्रवृत्तिर्दृष्टा। (२।२।२)

मिट्टी या रथ आदि स्वय अचेतन हैं और वह कुम्हार या घोड़े आदि चेतनों के आश्रय बिना कुछ कार्य नही कर सकते। इसी प्रकार प्रवृत्ति के न होने के कारण कोई अचेतन वस्तु जगत् का (निमित्त) कारण नही हो सकती। यदि कहो कि केवल चेतन की भी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती यह भी ठीक है। तब भी चेतन द्वारा अचेतन मे प्रवृत्ति दीखती है न कि अचेतन द्वारा चेतन में।

यहाँ पाठकों को सत्यमेतत् पर विचार करना चाहिये।

(७) यथायस्कान्तोमणिः स्वयं प्रवृत्तिरहितोऽप्ययसः प्रवर्तको भवति.......एवं प्रवृत्तिरहितोऽपीश्वरः सर्वगतः सर्वात्मा, सर्वज्ञः सर्वशक्तिश्च सन् सर्वं प्रवर्तयेदित्युपपन्नम्। (२।२।२)

जैसे अयस्कान्त मणि या मैगनिट मे स्वयं गति नहीं परन्तु लोहे को गतिवान् कर देती है... .ऐसे ही ईश्वर सर्व व्यापक, सब का आत्मा, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिवान् होने से सब में गति उत्पन्न करता है।

सातवीं शङ्का

तुमने छठे, सातवें और आठवें अध्याय मे ईश्वर के **गुण** वर्णन किये हैं, परन्तु ईश्वर को **निर्गुण** बताया गया है। उपनिषद् कहती है।

निर्गुणः केवलश्च

समाधान—गुण शब्द कई अर्थों मे आता है। साधारण अर्थ मे गुण का लक्षण यह है :—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ।

(वैशेषिक १ । १ । १६)

अर्थात् गुण वह है जो द्रव्य के आश्रय हो, उसमे कोई दूसरा गुण न हो । और संयोग तथा विभाग मे कारण न हो । इस अर्थ में कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसमे गुण न हो । बिना गुण के गुणी की पहचान ही नही हो सकती । वेदान्त दर्शन मे नीचे लिखे सूत्रों मे भी ब्रह्म के गुणों की ओर ही संकेत किया है :—

[१] आकाशस्तल्लिङ्गात् १ । १ । २२
[२] अतएव प्राणः १ । १ । २३
[३] विवक्षित गुणोपपत्तेश्च ॥ १ । २ । २
[४] अत्ता चराचरग्रहणात् । १ । २ । ९ ।

तीसरे सूत्र के भाष्य मे श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं ।

तदिह ये विवक्षिता गुणा उपासनायामुपादेयत्वेनो- पदिष्टाः सत्य संकल्प प्रभृत्यस्ते परस्मिन् ब्रह्मण्युपपद्यन्ते । सत्यसंकल्पत्वं हि सृष्टिस्थिति संहारेष्वप्रतिबद्धशक्तित्वात् परमात्मन एवावकल्पते । परमात्मगुणत्वेन च 'य आत्मा- पहतपाप्मा' (छा० ८ । ७ । १) इत्यत्र सत्यकामः सत्य-संकल्प इति श्रुतम् । आकाशात्मेत्यादिनाकाशव- दात्माऽस्येत्यर्थः ।१।२।२।

अर्थात् सत्य संकल्प आदि जो शुभ गुण उपासना मे बताये जाते है वह सब ब्रह्म में उपस्थित हैं । इसी अर्थ में छान्दोग्य उप- निषद् मे ब्रह्म को 'अहहतपाप्मा' कहा है। इससे यह तो सिद्ध है

कि विना गुणो के ईश्वर नही हो सकता। अब यह प्रश्न शेष रहा कि ईश्वर को निर्गुण क्यो कहते है।

निर्गुण के अन्तर्गत गुण के दो अर्थ लिये जाते हैं :—

(१) पहला तो साधारण अर्थ। इस अर्थ मे ईश्वर को सगुण और निर्गुण दोनो कहते हैं। "वह परमात्मा सब मे व्यापक, शीघ्र-कारी और अनन्त बलवान जो शुद्ध सर्वज्ञ, सब का अन्तर्यामी, सर्वोपरि विराजमान, सनातन, स्वयं सिद्ध, परमेश्वर अपनी जीवरूप सनातन अनादि प्रजा को अपनी सनातन विद्या से यथावत् अर्थों का बोध वेद द्वारा कराता है वह सगुण स्तुति अर्थात् **जिस २ गुण से सहित परमेश्वर की स्तुति करना यह सगुण,** (अकाम) अर्थात् वह कभी शरीर धारण वा जन्म नहीं लेता जिसमे छिद्र नहीं होता, नाड़ी आदि के वन्धन मे नही आता और कभी पापा-चरण नही करता जिससे क्लेश दुःख अज्ञान कभी नहीं होता इत्यादि **जिस २ रागद्वेषादि गुणों से पृथक् मानकर परमेश्वर की स्तुति करना है वह निर्गुण स्तुति है।"**

(सत्यार्थ प्रकाश समु० ७)

(२) गुण का एक और है अर्थात् प्रकृति के तीन गुण सत्, रज और तम। ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह भी तात्पर्य है कि ईश्वर में सत, रज और तम तीनों गुण नहीं हैं। यह तीनो गुण केवल प्रकृति के है। अन्य के नही। उपनिषद् में ब्रह्म को 'निर्गुण' कहने का तात्पर्य यही है कि 'ईश्वर' आत्मा होने से **अनात्म प्रकृति के तीनों गुणों** से अलग है।

आठवीं शङ्का।

हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि मनुष्य अपने मा, वाप से उत्पन्न होता

है इसीलिये मा को जननी और पिता को जनक कहते हैं। फिर ऐसा क्यों मानें कि हमको ईश्वर बनाता है।

इसका सीधा सा उत्तर यह है कि जो जिस वस्तु को बनाता है वह उसको जानता भी है। जैसे घड़ीसाज ने घड़ी बनाई तो उसको घड़ी के पुरजे पुरजे मालूम हैं। परन्तु मा बाप को अपनी सन्तान के शरीरों का कुछ भी ज्ञान नहीं। यदि मा अपने पुत्र के शरीर की निर्मात्री होती तो वह पुत्र के रोगी हो जाने पर वैद्य को न बुलाती। उसे तो यह भी मालूम नहीं होता कि मेरे पेट मे लड़का है या लड़की। वह यह भी नही जानती कि उस पुत्र के शरीर मे कौन २ सी हड्डियां हैं। अतः स्पष्ट है कि माँ बाप सन्तान की उत्पत्ति के साधन मात्र हैं और जननी तथा जनक शब्दों का प्रयोग भी उपचार मात्र है।

नवीं शंका

ईश्वर यदि बुद्धिमान् होता तो मनुष्य की उत्पत्ति की ऐसी भद्दी और पापमय रीति क्यों बनाता? जब तक स्त्री पुरुष व्यभिचार न करें तब तक उनकी सन्तान हो ही नही सकती। फिर सब से बुरी बात यह है कि मनुष्य को उत्पत्ति के समय कैसे गन्दे स्थान से होकर गुजरना पड़ता है। जो स्थान मूत्र का है वही से बच्चा पैदा होता है। मिश्र देश का प्रसिद्ध दार्शनिक प्लौटीनस (Plotinus of Socopolis) * कहता है कि मुझे तो अपनी उत्पत्ति की रीति का ध्यान करके लज्जा आती है। इससे प्रतीत होता है कि या तो ईश्वर सृष्टि को नही बनाता या वह बुद्धिमान् नहीं है। ईश्वर को चाहिये था कि कान, नाक, या अंगूठा आदि से सन्तानोत्पत्ति करता।

---

*Weber's History of Philosophy translated by Thilly p. 46.

इस शंका के करने वाले कुछ भी विचार नही करते । उनको नहीं मालूम कि पाप, भद्दापन तथा व्यभिचार किसे कहते हैं । न उनको गन्देपन का लक्षण मालूम है । हम पाप पुण्य की पर्य्याप्त आलोचना कर चुके हैं । सन्तानोत्पत्ति के लिये विधिवत् स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध को व्यभिचार नहीं कहते । न यह पाप है । गृहाश्रम के मुख्यतम कर्त्तव्यो मे से एक यह है कि सन्तानोत्पत्ति के लिये पति पत्नी परस्पर संभोग करें । हां विषय वासना के लिये संभोग करना पाप और व्यभिचार है । शरीर मे वीर्य्य की उत्पत्ति ही इसलिये होती है कि उससे शरीर का प्रकृष्टतम भाग अर्थात् मस्तिष्क बन सके । और इसी श्रेष्ठ वस्तु से सन्तान का शरीर बनता है । इसलिये वीर्य्य को या तो अपने मस्तिष्क के बनाने में लगाना चाहिये या प्रिय सन्तान के शरीर की नीव रखने मे ।

यदि ईश्वर स्त्री पुरुष के संयोग से सन्तानोत्पत्ति का विधान न बनाता तो भिन्न २ मनुष्यों मे परस्पर सम्बन्ध भी न स्थापित हो सकता । भाई, बहिन, दादी, बाबा, मौसा, बुआ, चाचा, चाची आदि सभी सम्बन्ध जो मनुष्य समाज के लिये गोद का काम करते हैं सृष्टि-उत्पत्ति की वर्त्तमान रीति के आधार पर स्थित हैं । भिन्न २ परिवार, तथा जातियां एक दूसरे से इसीलिये सम्बद्ध होती हैं कि वह किसी एक माता पिता से उत्पन्न हुई हैं । यदि सन्तानोत्पत्ति की वर्त्तमान रीति न हो तो जितने रिश्ते हैं वे सब निरर्थक हो जायंगे । यही कारण है कि विवाह-संस्कार जीवन के मुख्यतम संस्कारों मे गिना जाता है ।

रही गन्देपन की बात । सो यदि मनुष्य के शरीर की बनावट पर विचार किया जाय और उसके प्रत्येक अंग के उपयोग को देखा जाय तो इसमें कुछ गन्दापन नहीं है । मैल तो जिस प्रकार मूत्राशय से निकलता है उसी प्रकार नाक, कान तथा मुंह से भी

निकलता है। वस्तुतः जो वस्तु शरीर के अवयवों को बनाने में काम नहीं आती और जिसका शरीर से निकल जाना ही अच्छा है वही गन्दी है। पानी या भोजन को सभी पवित्र कहते हैं परन्तु मूत्र और मल इन्हीं के भाग हैं, कहीं बाहर से तो नहीं आते। जो अंश रुधिर बन जाता है वह पवित्र, जो बाहर निकल जाता है वह अपवित्र है। पवित्रता और अपवित्रता भी तो सापेक्षिक ही हैं। मांस और रक्त छूने देखने तथा खाने की अपेक्षा से अपवित्र हैं परन्तु शरीर के भीतर के भीतर यह बड़ी पवित्र वस्तुयें हैं। तभी तो वैद्य लोग कहते हैं कि अमुक वस्तु खाओ तो शुद्ध रक्त उत्पन्न होगा। 'शुद्ध रक्त' का क्या अर्थ ? यही न कि वह रक्त जो शरीर मे बल उत्पन्न करता है।

गर्भाशय की गन्दगी के भ्रम में पड़के ही पौराणिकों ने नाक से नासिकेत और कान से कर्ण की उत्पत्ति की गप उड़ाई है परन्तु उन विचारों को यह पता नहीं कि कान और नाक में यदि ईश्वर गर्भाशय बनाता तो सुनने और सूंघने का काम कहां से लिया जाता ? बच्चा उत्पन्न होता है तो उसके मूत्र और मल के स्थान भी तो बाहर आते हैं। यदि ऐसे दुगन्धमय अवयव नाक या मुख से निकलते तो माता को कितना कष्ट उठाना पड़ता। बच्चा तो उस समय ऐसी अवस्था मे होता है कि उसको माता के मूत्राशय की दुर्गन्ध का पता भी नही चलता। उस समय उसकी इन्द्रियां विकसित नहीं होती। उस समय उसको मूर्च्छा सी होती है। इसलिये सन्तानोपत्ति का वर्त्तमान मार्ग,ईश्वर की बुद्धिमत्ता को प्रकट करता है न कि बुद्धि के अभाव को।

दसवीं शङ्का

कपिल ने सांख्य-दर्शन मे स्पष्ट कहा है कि ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता। देखो

ईश्वरासिद्धेः ॥

(सांख्य दर्शन १ । ९२)

इसका उत्तर यह है कि जब तक हमारी ईश्वर-अस्तित्व के मंडन मे दी हुई युक्तियाँ ठीक हैं, उस समय तक कोई कुछ कहे ईश्वर का अस्तित्व मानना ही पड़ेगा ।

परन्तु सांख्य के विषय मे भिन्न भिन्न मत हैं । कुछ सांख्य लोग अनीश्वरवादी हैं और कुछ ईश्वरवादी ! अनीश्वर-वादी सांख्य इस सूत्र के सहारे ईश्वर का न होना सिद्ध करते है और ईश्वरवादी सांख्य इसी का दूसरा अर्थ करते हैं । कुछ नास्तिकों की तो ऐसी प्रवृत्ति हो गई हैं कि उनको आस्तिक भी नास्तिक दिखाई पड़ते हैं । जैसे कुछ लोग कहने लग गये हैं कि वेद मे 'ब्रह्म' शब्द ईश्वर वाचक कही नही है । यहां हम केवल इस सूत्र को लेते हैं ।

देखना यह है कि ऊपर का सूत्र किस प्रकरण मे आया है । अकेला सूत्र अर्थ के समझने मे अधिक सहायता नही दे सकता । इसलिये हम चार सूत्रों को लेते हैं :—

[१] यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।

(सां० १-८९)

[२] योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः ।

(सां० १-९०)

(३] लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद् वाऽदोषः ॥

(सां० १-९१)

[४] ईश्वरासिद्धेः ।

(सां० १-९२)

पहले सूत्र मे प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण किया गया है । अर्थात् जो इन्द्रिय और विषय के सम्बन्ध होने से विषय के आकार वाला

ज्ञान है उसे प्रत्यक्ष कहते है । जैसे शीशे के गिलास में लाल पानी भरने से शीशे का रग भी लाल हो जाता है उसी प्रकार जो चीज़ हमारे सम्बन्ध में आती हैं उसी चीज़ के समान हमारा ज्ञान हो जाता है। इसको प्रत्यक्ष कहते हैं

यहां यह स्पष्ट हो गया कि यह सब सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण के सम्बन्ध में ही हैं । ईश्वर सिद्धि का प्रकरण नहीं है ।

प्रत्यक्ष का जो लक्षण इस सूत्र मे दिया गया उसकी परीक्षा करनी थी कि लक्षण ठीक है या नहीं। इस लक्षण मे पहली त्रुटि अव्याप्ति दोष बताया गया। अर्थात् योगियो का प्रत्यक्ष इस लक्षण के अन्तर्गत नहीं आता । इसके समाधान मे दो सूत्र दिये । पहला यह कि यहां बाह्य चीजों के ही प्रत्यक्ष से मतलब है । योगियो का प्रत्यक्ष एक आन्तरिक क्रिया है । हमारी इन्द्रियां केवल बाहरी चीजो का ही प्रत्यक्ष कर सकत हैं। आन्तरिक बातों का नही । इसलिये जब आन्तरिक प्रत्यक्ष का लक्षण देना ही नहीं चाहते थे तो क्यों देते । दूसरा समाधान यह किया कि यदि योगी को किसी सूक्ष्म बात का ज्ञान हो जाता है जो इन्द्रियों से नही दिखाई देती । भविष्य में भी लक्षण के कोई दोष नहीं क्योकि लीन वस्तु अर्थात बीज रूप कारण से तो सम्बन्ध है ही । यदि सम्बन्ध हो सकता है तो प्रत्यक्ष का जो लक्षण दिया उसमे योगी का प्रत्यक्ष भी आ जाता है ।

अब कहते हैं कि प्रत्यक्ष का वह लक्षण "ईश्वर मे भी नही घटता" इसलिये लक्षण मे कोई दोष नही है । तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द यह तीनों प्रमाण साधारण पुरुषो के ज्ञान के लिये हैं न कि योगियो अथवा ईश्वर के ज्ञान के लिये । प्रमाण का अर्थ है "प्रमाकरण" अर्थात् ज्ञान का साधन होना । इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान साधारण पुरुषो को होता है । योगी इन्द्रियो का प्रयोग नहीं करते । वे आन्तरिक साधनों से ज्ञान प्राप्त करते

हैं और ईश्वर को इन्द्रियों की जरूरत ही नहीं। इसलिये प्रत्यक्ष प्रमाण का ईश्वर से सम्बन्ध नहीं। न तो ईश्वर इन्द्रियों द्वारा दूसरी चीज़ो का ज्ञान प्राप्त करता है न और लोग इन्द्रियों द्वारा ईश्वर को प्रत्यक्ष कर सकते हैं।"

यहां एक बात और स्मरण रहनी चाहिये। सूत्र मे "ईश्वरा सिद्धे:" शब्द है, "ईश्वरा भावत" नही। अर्थात् यदि कपिल नास्तिक होते तो कहते "ईश्वर की अभाव होने से।" 'अभाव' के स्थान मे "असिद्धि" कहने का तात्पर्य ही यह है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर का सम्बन्ध नही।

केवल एक सूत्र से ही कपिल को नास्तिक कह देना ठीक नहीं जब कि सांख्य दर्शन में अन्यत्र अनेक सूत्र ऐसे पाये जाते हैं जिन से उनका ईश्वर-वादी होना ज्ञात होता है। हम कुछ सूत्र नीचे देते हैं :—

(१) स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥ [सां० ३।५६]

अर्थात् वह ईश्वर सर्वज्ञ और सबका कर्त्ता है।

इस सूत्र मे ईश्वर को सर्वज्ञ और सृष्टि-कर्त्ता कहा है। यह ईश्वर-वाद नही तो क्या है? आस्तिक लोग यही तो कहते हैं कि ऐसी कोई सत्ता है जो सब चीज़ों का ज्ञान रखती है और सारे संसार को बनाती है।

इससे अगला सूत्र तो इस भाव को और भी स्पष्ट कर देता है।

(२) ईदृशेश्वरसिद्धिस्सिद्धा। [सां० ३।५७]

इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है। किस प्रकार के ईश्वर की? जो सर्वज्ञ और सृष्टि-कर्त्ता हो।

कुछ लोगो का मत है कि यहाँ उस पुरुष से तात्पर्य है जो उन्नति करते करते ईश्वर हो गया है जैसा कि जैनी लोग मानते हैं कि

जीव उन्नति करते करते सिद्ध हो जाता है। परन्तु उनको बिचारना चाहिये कि उन्नति करते करते "सर्ववित्" अर्थात् 'सर्वज्ञ' हो सकना तो शायद किसी प्रकार समझ में आ जाय लेकिन 'सर्वकर्त्ता' या सृष्टि कर्त्ता होना कैसे संभव है। जैनियो के सिद्ध पुरुष सूर्य्य, चन्द्र आदि के रचयिता तो हैं नहीं। इसलिये यहां उसी ईश्वर से तात्पर्य है जिसके कर्त्ता होने का हमने सृष्टि-रचना में वर्णन किया है।

(३) समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता। [सां० ५।११६]

इस सूत्र मे बताया गया है कि जीव को समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष दशा मे ब्रह्मरूपता प्राप्त होती है। इससे अगला सूत्र कहता है।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः ॥ [सा० ५।११७]

अर्थात् समाधि और सुषुप्ति मे तो दुख का बीज रहता है और मोक्ष मे वह भी नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म मे आनन्द है। जीव मे आनन्द नही है। परन्तु जीव समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष मे ब्रह्म के आनन्द को पाकर ब्रह्मरूपता प्राप्त कर लेता है। यदि कपिल ईश्वरवादी न होते तो वह जीव को ब्रह्मरूपता प्राप्त कराने का उल्लेख न करते।

(४) वेदो को कपिलमुनि ने अपौरुषेय माना है अर्थात् वह मनुष्यकृत नहीं है। नीचे के सूत्र इस बात की साक्षी है :—

न पौरुषेयत्वं तत् कर्त्तुः पुरुषस्याभावात्।

मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्।

नापौरुषेयत्वान् नित्यत्वमङ्कुरादिवत्।

तेषामपि तद्द योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः।

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम्।

निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ।

(सां० ५–४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१)

यहां वह लिखते हैं कि वेदों का बनाने वाला कोई पुरुष नहीं हुआ इसलिये वह पौरुषेय नही है । (४६) दो तरह के ही पुरुष हो सकते हैं मुक्त और अमुक्त या बद्ध । यह दोनों वेदो के बनाने की योग्यता नही रखते । मुक्त पुरुष बनाता कैसे ? बद्ध को मुक्ति अवस्था का ज्ञान कैसे होता । वेदो मे इन सब बातो का ज्ञान है इसलिये वे मनुष्य-कृत नही (४७) ।

वेद अपौरुषेय होते हुये भी (मनुष्य-कृत न होते हुये भी) अनित्य हैं क्योकि वह सृष्टि के आरंभ मे उत्पन्न होते हैं । जैसे पेड़ों के अंकुर भी मनुष्यकृत नहीं फिर भी वह अनित्य हैं । (४८)

यदि कोई कहे कि हम अंकुर को भी अनित्य होने से मनुष्यकृत मान लेंगे (और इसी प्रकार वेदो को भी मनुष्य-कृत मानेंगे) तो इस पर सूत्रकार आपत्ति उठाते हैं कि इसमे दृष्ट-बाधा का दोष होगा । अर्थात यह बात तो परीक्षण से ही सिद्ध है कि अकुर मनुष्यकृत नहीं । (४९)

अब वह कहते हैं कि पौरुषेय अर्थात मनुष्य-कृत उसी चीज़ को कहेंगे जिसमे चाहे मनुष्य दिखाई न पड़े, तो भी उस चीज़ को देख कर ऐसी बुद्धि होजाय कि इसे अवश्य किसी मनुष्य ने बनाया है । न तो पेड़ को देखकर ही किसी की यह बुद्धि होती है कि इसे कोई मनुष्य बना गया होगा (जैसा घड़ा देखकर हो जाती है) और न वेदो को देखकर ही किसी को यह भान हो सकता है कि यह किसी मनुष्य के बनाये हैं । (५०)

वेद तो अपनी ही शक्ति के प्रकट होने से स्वतः प्रमाण हैं । जैसे सूर्य्य के देखने के लिये किसी दूसरे सूर्य्य या दीपक की

जरूरत नही पड़ती वैसे ही वेदों का हाल है। इसलिये वेद अपौरुपेय हुये अर्थात् किसी मनुष्य के बनाये नही। (५१)

इन छः सूत्रो पर थोड़ा सा विचार करने से ही पता चल जाता है कि कपिल न केवल वेदो को ही मानते थे किन्तु वेदो को ईश्वर-कृत भी मानते थे। फिर उनके ईश्वर-वादी होने में क्या सन्देह रहा। क्या यह सम्भव है कि एक पुरुष वेद को माने, उसे मनुष्य-कृत न माने और उसे ईश्वर-कृत भी न माने। वेद या तो मनुष्य-कृत होंगे या ईश्वर-कृत। यह नही हो सकता कि दोनो न हों। जब कपिल ने उनके मनुष्य-कृत होने से इनकार कर दिया तो केवल एक यही नतीजा निकाला जा सकता है कि उनके मत में वेद ईश्वर-कृत हैं और इसलिये ईश्वर है।

अब हम यहां कुछ ऐसे सूत्र देते हैं जिनका ठीक अर्थ समझने के कारण कपिल को नास्तिक समझ लिया जाता है।

[१] नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत् सिद्धेः ॥ [सां० ५।२]

"फल की प्राप्ति ईश्वर के कारण नहीं किन्तु कर्मों के कारण है"।

इस सूत्र से लोग यह समझते हैं कि ईश्वर कर्मो का फल नहीं देता किन्तु कर्म स्वयं ही फल देते हैं। परन्तु इसका यह तात्पर्य नही। यदि ऐसा होता तो इससे पहले सूत्र मे मङ्गलाचरण के लाभ न बताये जाते। इसका केवल यह अर्थ है कि यद्यपि मङ्गलाचरण करना चाहिये तथापि यह नहीं समझना चाहिये कि जो कुछ फल (सुख या दुख) मिलता है वह विना हमारे कर्मो के ईश्वर की ही इच्छामात्र से मिल जाता है। अर्थात् फल का मुख्य कारण कर्म है। यदि हमारे कर्म न हो तो ईश्वर फल न दे। इससे अगला सूत्र हमारे कथन की पुष्टि करता है वह यह है।

"स्त्रोपकारादधिष्ठानं लोकवत्" सां० ५।३

अर्थात लोक में लोग अपने ही फायदे के लिये काम करते हैं। यदि ईश्वर भी विना कर्मों के सुख या दुख देता तो उसका भी स्वार्थ ठहरता।

[२] प्रमाणाभावान्न तत् सिद्धिः। सां० ५।१०

संवन्धाभावान्नानुमानम्। सां० ५।११

श्रुतिरपि प्रधान कार्यत्वस्य ॥ सां० ५।१२

इनका अर्थ लोग यह लेते हैं कि ईश्वर की सिद्धि में कोई प्रमाण नहीं, न अनुमान ही है। श्रुति से भी यही पाया जाता है कि सृष्टि का कारण प्रधान अर्थात् प्रकृति है।

यहाँ एक बात स्पष्ट है। अर्थात् प्रकृति को सृष्टि का कारण माना है ईश्वर को नहीं। अब प्रश्न केवल इतना है कि 'कारण' से उपादान कारण समझना चाहिये या निमित्त कारण। संसार मे तो दोनों ही मत प्रचलित है। अर्थात कुछ लोग ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं और कुछ लोग उपादान कारण भी, लेकिन प्रकृति को केवल उपादान कारण ही माना जाता है। प्रकृति को निमित्त कारण मानने वाले कोई नहीं हैं' यहाँ तीसरे सूत्र मे लिखा है कि वेद में प्रधान को सृष्टि का कारण माना है। इससे स्पष्ट है कि इन सब सूत्रों मे ईश्वर के उपादान कारण होने से इनकार किया गया है न कि निमित्त कारण होने से। ईश्वर का निमित्त कारण होना तो और सूत्रों से सिद्ध है। हम भी इस पुस्तक मे यही सिद्ध करते आये हैं, कि ईश्वर निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं।

ग्यारहवां अध्याय

आस्तिकता की उपयोगिता

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्पुरस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

इस वेद मन्त्र का अर्थ यह है कि मैं उस महान् ज्योति-स्वरूप तथा अन्धकार रहित ईश्वर को जानता हूँ जिसको जान कर ही मनुष्य मृत्यु से बच सकता है। इससे इतर और उप.य दुःख से बचने का नहीं है।

दुःख और मृत्यु से बचने का सभी प्राणी प्रयत्न करते हैं। यह प्रत्येक के हृदय की स्वाभाविक आकांक्षा है। यदि मनुष्य-समाज की भिन्न २ संस्थाओं पर दृष्टि डाली जाय तो उन सब की यही एक उपयोगिता तथा यही एक उद्देश्य जान पड़ता है। कृषि इसलिये की जाती है कि भूख रूपी दुःख से निवृत्ति हो और हम मृत्यु का सामना कर सकें। व्यापार तथा कला-कौशल का यही लाभ है कि हमारी शारीरिक आवश्यकतायें पूरी हो सकें। चिकित्सालय इसीलिये खोले जाते हैं कि शारीरिक रोगों से उत्पन्न हुआ दुःख दूर हो सके और मृत्यु हमको शीघ्र ही निगल न जाय। न्यायालय इसीलिये बनाये जाते हैं कि दूसरे मनुष्य अपने स्वार्थवश हमको सता न सकें। सेनायें इसलिये रक्खी जाती हैं कि हम बाह्य आक्रमणों से मुक्त रह सकें।

यह सब संस्थायें हमारे दुःखों के निवारणार्थ ही निर्माण होती हैं। फिर भी वेद कहता है कि ईश्वर प्राप्ति के बिना अन्य कोई मार्ग ही मृत्यु को जीतने तथा दुःख से पार होने का नहीं है।

ऐसा क्यो ? क्या हम ईश्वर के बिना अपनी जीवन यात्रा सुख पूर्वक व्यतीत नहीं कर सकते ? क्या आस्तिकता का हमारे जीवन से ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इसके बिना हमारा कार्य चल ही नहीं सकता ? क्या सभी आस्तिको को सुख मिलता हैं ? क्या सभी नास्तिक दुःख भोगते हैं ? क्या वह पुरुष जो जीवन पर्य्यन्त "ऋणं कृत्वा घृत पिवेत्" मे ही मस्त रहते हैं सुखी नही है ? क्या मनुष्य समाज के सफलीभूत होने का एकमात्र साधन आस्तिकता ही है ? जब तक इन प्रश्नो का यथोचित्त उत्तर नहीं मिलता उस समय तक ईश्वर के विषय मे विचार करने का कुछ उपयोग जान नही पड़ता।

ईश्वर हो या न हो। सृष्टि ईश्वर की बनाई हुई हो या किसी अन्य की। ईश्वर सर्वव्यापक हो या सृष्टि को बनाकर किसी अन्य स्थान को चला गया हो। ईश्वर सर्व-शक्तिमान् हो या अत्यन्त निर्बल हो। प्रश्न यह है कि हमारे व्यावहारिक जीवन में ईश्वर अस्तित्व का क्या उपयोग है ? कार्लायल कहता है कि सृष्टि के आदि से आज तक मनुष्य इस खोज मे लगा रहा कि "मैं क्या हूॅ ?" और आज पर्य्यन्त उसको इसका ज्ञान नहीं हो सका, अतः अब इसके चक्कर मे व्यर्थ समय गंवाना मूर्खता है। सोचना यह चाहिये कि "मुझे क्या करना चाहिये" न कि "मैं क्या हूॅ।" यदि "मै क्या हूॅ" प्रश्न सभ्य जातियो के लिये अनावश्यक है तो "ईश्वर क्या है ?" प्रश्न इससे भी अधिक अनावश्यक और व्यर्थ ठहरता है। हमारा जीवन थोड़ा । समय कम है। काम बहुत है। इसलिये यदि इस लघुजीवन का भी कुछ समय व्यर्थ प्रश्नो की मीमांसा मे लगा दिया जाय तो कर्त्तव्य पालन के लिये समय मिल ही नहीं सकता।

आस्तिकता के पीछे जातियां तथा व्यक्तियां पागल हो रही हैं। इन्होंने अपना सर्वस्व छोड़ कर काल्पनिक ईश्वर के पीछे दौड़ने में

अपना समय यापन किया है। इनका बहुत सा समय ईश्वर-स्तुति, प्रार्थना, तथा उपासना में व्यतीत होता है। इनका बहुत सा धन ईश्वर की खोज मे व्यय होता है। यदि किसी प्रकार ईश्वर का भूत मनुष्य जाति के सिर से उठ जाय तो इनका समय तथा शक्ति अन्य उपयोगी कामो मे व्यय हो सकते हैं।

ऐसा वहुत से लोगो का मत है और यही कारण है कि आधुनिक शिक्षित समाज इस प्रकार के प्रश्नों से दूर रहना चाहता है।

परन्तु हमारे विचार से यह इनकी भूल है। जितना हम इस प्रश्न से वचते हैं उतना ही हमारा दुःख भी बढ़ता चला जाता है। मानवी समाज की भिन्न २ संस्थायें निःस्सन्देह हमारे सुख के लिये हैं परन्तु उनसे हमको उस समय तक यथोचित सुख नही मिल सकता जब तक हम सच्चे आस्तिक बनने का यत्न नही करते।

कार्लायल का यह विचार कि "हम क्या है ?" प्रश्न को छोड़ दिया जाय और "हमको क्या करना चाहिये ?" प्रश्न पर ध्यान देना चाहिये वस्तुतः उच्च विचार नही है। क्या बिना अपने अस्तित्व पर विचार किये हुये हम अपने कर्त्तव्य को जान सकते हैं ? क्या कर्त्तव्य और अस्तित्व मे कुछ भी सम्बन्ध नही है ? हमको बिना यह ज्ञान हुये कि "हम क्या है ?" यह कैसे पता चलेगा कि हमारा क्या कर्त्तव्य है ? हम ससार में देखते है कि भिन्न २ मनुष्यो के भिन्न २ कर्त्तव्य हैं। यह क्यों ? केवल इसलिये कि उनके पदो मे भेद है। सभी राज कर्मचारियो का एक ही कर्त्तव्य नहीं होता। सेनापति का वही कर्त्तव्य नही है जो कोषाध्यक्ष का है। न्यायाधीश का वही कर्त्तव्य नहीं है जो कोषाध्यक्ष का है। यदि यह लोग यह जानने का प्रयत्न नहीं करते कि "मै क्या हूँ ?" तो यह अपना कर्त्तव्य कैसे पालन कर सकेंगे ? यदि आप यह जानने से निराश हो गये हैं कि "मैं क्या हूँ" तो आपको शीघ्र ही इस बात के ज्ञान से भी निराश

हो जाना चाहिये कि "मेरा कर्त्तव्य क्या है ?" फिर इसके आगे कुछ कर्त्तव्य ही नहीं रहता और मनुष्य तथा पत्थर दोनों पर्य्याय-वाची हो जाते हैं ?

लोग कहेंगे कि इससे और आस्तिकता से क्या सम्बन्ध ? परन्तु हम बताते हैं। सुनिये। मनुष्य समाज कर्त्तव्यों का एक बण्डल है। प्रत्येक मनुष्य कुछ न कुछ करता ही रहता है। इसलिये नित्य-प्रति यह प्रश्न उठा करता है कि मुझे क्या करना चाहिये। कुछ तो इस प्रश्न की मीमांसा पर अपनी कर्म्मपरायणता को आश्रय देते हैं और कोई केवल समाज की रीति का ही अनुकरण करते हैं परन्तु इन अनुकरण करने वालो के कर्त्तव्य भी बिना बिचारे ही स्थिर नहीं हो जाते किन्तु इनका विचार समाज के संचालकों द्वारा हुआ करता है। इन्हीं प्रश्नों का नाम आचार शास्त्र ('ethics') है। प्रश्न यह है कि आचार शास्त्र सम्बन्धी समस्यायें क्या इस प्रश्न का विचारे बिना ही ठीक हो सकती हैं कि मनुष्य क्या है ? और क्या प्रत्येक विचार रखने वाले मनुष्य का आचार भी एक सा ही होता है कम से कम इतिहास से इसकी साक्षी नहीं मिलती।

इस विषय में भिन्न २ मतों को श्रीशङ्कराचार्य्य इस प्रकार दर्शाते हैं :—

(१) देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लोकायतिकाश्च प्रतिपन्नाः।

(२) इन्द्रियाण्येव चेतनान्यात्मेत्यपरे।

(३) मन इत्यन्ये।

(४) विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके।

(५) शून्यमित्यपरे।

(६) अस्ति देहादिव्यतिरिक्तः संसारी-कर्त्ता-भोक्तत्यपरे।

(७) भोक्तैव केवल न कर्तेत्येके।

(८) अस्ति तद्व्यतिरिक्त ईश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरितिकेचित।
(९) आत्मा स भोक्तुरित्यपरे। (शारीरिक भाष्य १।१।१)
अर्थात्

(१) कुछ कहते हैं कि शरीर ही चेतनता पाकर आत्मा हो जाता है। शरीर से इतर कुछ नही।
(२) कुछ का मत है कि इन्द्रियां ही आत्मा हैं।
(३) तीसरे कहते हैं कि मन ही आत्मा है।
(४) चौथे लोगो का मत है कि विज्ञान मात्र क्षणिक वस्तु को ही आत्मा समझना चाहिये। आत्मा कोई नित्य पदार्थ नहीं है।
(५) पाँचवा मत है कि आत्मा शून्य है।
(६) छठा मत है कि देह आदि से अलग आत्मा है जो कर्त्ता और भोक्ता दोनो है।
(७) सातवाँ मत है कि आत्मा भोक्ता है कर्त्ता नही।
(८) आठवें लोग कहते हैं कि इससे अलग ईश्वर है जो सर्व शक्तिमान् और सर्वज्ञ है।
(९) नवाँ मत है कि भोक्ता जीवात्मा से ईश्वर भिन्न नहीं।

अब प्रश्न यह है कि क्या इन सब मतों के मानने वालो का सदाचार और व्यवहार एकसा होगा ? कदापि नही। मनुष्य जैसा सोचता है वैसे ही उसके आचरण होते हैं। उसके सिद्धान्त उसकी फिलासफी और उसके विज्ञान का उसके जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इसमे सन्देह नहीं कि कुछ ऐसे भी मनुष्य हैं जिनके आन्तरिक विचार इच्छाशक्ति के निर्बल होने के कारण उनको सामाजिक गति के बाहर जाने नहीं देते। परन्तु इसमे भी संशय नहीं कि आन्तरिक विचार कभी न कभी इच्छाशक्ति को भी पलट देते हैं। मनुष्य की फिलासफी उस जल के प्रवाह के समान

है जो पृथ्वी के नीचे वह रहा है और जहाँ कहीं नर्म ज़मीन पाता है वहीं फूट निकलता है।

जो पुरुष यह मानता है कि मैं शरीर से अतिरिक्त कुछ नहीं। जन्म से पहले मेरा कोई अस्तित्व न था। मृत्यु के पश्चात् न रहेगा। उसके लिये यह लोक परलोक है और मृत्यु ही उसके जीवन का अन्त है। ऐसे पुरुष के विचार अपने शरीर से परे जा ही नहीं सकते। वह तो अवश्य ही ऋण ले लेकर घी पियेगा। और जब तक जियेगा उस समय तक भोग विलास में लगा रहेगा। यदि इस प्रकार के मनुष्य सृष्टि भर में हो जाय तो उनके लिये सदाचार, परोपकार, अहिंसा आदि निरर्थक हो जाते हैं। वह आत्म-त्याग करें तो किसके लिये करें? आत्म-त्याग का अर्थ ही उनके लिये क्या है? क्या ऐसे पुरुष कुछ कष्ट सहकर दूसरों का भला करने के लिये उद्यत होंगे? मेरा अपना विचार तो यह है कि यदि आज मुझे पूर्ण विश्वास हो जाय कि मैं शरीर के अतिरिक्त और कुछ वस्तु नहीं हूँ तो मेरा जीवन ही एक विचित्र अकथनीय विलास प्रियता में परिवर्तित हो जायगा। यह बात मेरे ही तक परिमित नहीं है। इतिहास बताता है कि भारतवर्ष के चारवाक मतानुयायी तथा यूनान के एपीक्यूरियल लोगों (Epicurians) के जीवन किस प्रकार के रंग में रंग गये थे इन्हीं लोगों की तो उक्ति है कि

अङ्गना लिङ्गनाज्जन्यं सुखमेव पुमर्थता

अर्थात् स्त्री का आलिङ्गन ही पुरुषार्थ है। इनके मत में तो सबसे अधिक पुरुषार्थी वही कहलायेगा जो इधर उधर से सुन्दर युवतियों को इकट्ठा करके उनसे रमण करता रहे।

इसी प्रकार जो समस्त संसार तथा अपने को शून्य मानते हैं उनके कर्त्तव्य परायणता के लिये कौनसी ऐसी वस्तु है जो प्रेरक का काम करेगी? शून्यवाद का प्रचार ही जातियों तथा व्यक्तियों को

शून्य की ओर ले जाता है और ज्यों ज्यो इनकी यह भावना बढ़ती जाती है त्यो त्यों उनकी विभूति भी कृष्ण पक्ष के चन्द्रमा के समान घटते घटते अमावस्या रूपी अन्धकार तक पहुँच जाती है।

हम देखते है कि जो जातियां अपने को ईश्वर मान बैठी हैं उनका उसी प्रकार का व्यवहार नही होता जैसा उनका होता है जो अपने को उन्नतशील जीव मानती हैं। क्योकि एक स्थान मे उन्नति के लिये मार्ग खुला है और दूसरे से, नहीं।

इसी प्रकार जो जाति या व्यक्ति आस्तिक हैं उसका जीवन नास्तिकों से अवश्य भिन्न होगा और जिस प्रकार के उसके आस्तिकता सम्बन्धी विचार होगे उसी प्रकार के उसके आचरण भी होगे।

इस लिये यह कहना ठीक नही है कि आस्तिकता सम्बन्धी विचारो की मनुष्य के जीवन मे कोई आवश्यकता नही पड़ती। वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न केवल मस्तिष्क सम्बन्धी व्यायाम ही नहीं है। यह प्रश्न मनुष्य जाति की उन्नति के मार्ग मे मृत्यु और जीवन का प्रश्न है। इसलिये उपनिषत् कहती है :—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यं चरन्ति ततेपदं संग्रहेण ब्रवीमि।

कि जिसके पद का सब वेद गायन करते हैं, जिसके लिये सब तप आदि व्रत किये जाते हैं जिसकी इच्छा से ही लोग ब्रह्मचर्य्य का पालन करते हैं वही ईश्वर है। यथार्थ में जिसका ईश्वर पर विश्वास नहीं है, जिसके सन्मुख ईश्वर-प्राप्ति जैसा उच्च आदर्श नही है वह ब्रह्मचर्य्य जैसी कठिन तपश्चर्य्या क्यो करेगा? उसके लिये तो ललनालिङ्गन ही समस्त जीव का उद्देश्य है। यही इसके पुरुषार्थ की इति श्री है।

विचार कीजिये कि मनुष्य का उद्देश्य क्या है ? थोड़ी देर के लिये आस्तिकता के भाव को दूर रख दीजिये। ईश्वर हो या न हो। हमे उससे कुछ प्रयोजन नहीं। हम उसके विषय मे सोचें ही क्यो ?

अंजुम शनास को भी ख़लक़ है दिमाग़ का।
पूछो अगर ज़मी की, कहे आसमां की वात ॥

हम आकाश पाताल एक नहीं करना चाहते। सच्चे व्यावहारिक मनुष्य की भांति सोचना चाहते हैं। मनुष्य जीवन का क्या उद्देश्य है ? दुःखो का दूर करना ? यह तो निषेधवाचक वाक्य है। हमारे दुःख कैसे दूर हो सकते हैं ? फिर हम मे तथा कुत्ते विल्ली मे क्या भेद है ? वह भी तो दुःखो के दूर करने में ही लगे रहते हैं :—

आहारनिद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम् ।

दुःख के दूर करने के साधारण उपायो को दृष्टि में रखते हुये तो पशु तथा मनुष्य समान ही हैं। फिर मनुष्य का क्या उद्देश्य है ? और उसका ईश्वर अस्तित्व के साथ क्या सम्बन्ध है ?

आधुनिक आचार-शास्त्र वालो ने विना ईश्वर की सहायता के ही मनुष्य के आचार की विवेचना की है। और उनके कई मत हैं। मिल आदि अपने को यूटीलिटेरियन (Utilitarian) या लाभ-वादी कहते हैं। उनका कथन है कि हमको वही काम करना चाहिये जिससे लाभ हो। परन्तु 'लाभ' अनिश्चित शब्द है। जिसका लाभ १ रुपये का, सम्पत्ति का या स्वास्थ्य का ? लाभवादी कहते हैं 'सुख का'। अच्छा यदि सुख ही अभीष्ट वस्तु है तो जो कुछ सुख के लिये किया जाय वह सब उचित होगा। और चोरी, डाका, व्यभिचार आदि खोटे से खोटे कर्म उचित होंगे। 'अनुचित' का नाम ही न रहेगा। यदि कहो कि 'अधिक से अधिक मनुष्यों

का अधिक से अधिक सुख" (Greatest happiness of the greatest number of men) ही जीवन का उद्देश्य होना चाहिये तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य बहुत से अनाचारो से बचा रह सकता है परन्तु एक मनुष्य अपनी जान को खो कर अधिक से अधिक मनुष्यों के अधिक से अधिक सुख का क्यो सम्पादन करे इसके लिये कोई साधन नही है। आज यदि मैं अपनी जान दे दूं तो मेरे देश वालो का भला होगा। उनका दासत्व दूर हो जायगा उनको स्वतन्त्रता प्राप्त हो जायगी। परन्तु ऐसा मै क्यो करूं ? मुझे इसके बदले मे क्या मिलेगा ? मेरे मरने के पश्चात् मेरे देश वाले मेरे इस ऋण को किस प्रकार चुकावेंगे। या यदि वह न चुकायेंगे तो मुझे उसका किस प्रकार बदला मिलेगा। यह सब प्रश्न है जो केवल लाभवादी नही दे सकते। ईश्वर-वादी कह सकता है कि मृत्यु मेरा अन्त नही है। मुझे ईश्वर के नियमों तथा आज्ञाओं का पालन करना है। आज यदि मै मनुष्य जाति की सेवा मे प्राण देता हूँ तो मेरा आत्मा उच्च होगा। मै ईश्वर की ओर से फल पाऊँगा मुझे स्वयं सन्तोष होगा। लाभवादी शायद कहेंगे कि यह भी तो लाभ ही हैं। लाभ अवश्य है। परन्तु इस लाभ मे और उनके कथित लाभ मे आकाश पाताल का अन्तर है। यहां प्रेरणाशक्ति बड़ी उच्च है।

जो लोग सदाचार के भवन को ईश्वर-अस्तित्व की नींव पर बनाना नहीं चाहते अथवा जो इस नीव को खोद डालना चाहते हैं वह सदाचार को एक प्रकार से नीव रहित बना रहे हैं। वह मनुष्य जाति के मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वह नही देखते कि ईश्वर-विश्वास ने सदाचार को कहां तक दृढ़ किया है।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि आस्तिकता ने सदाचार को दासता की कड़ियो मे जकड़ दिया है।" पुण्य पुण्य के लिये

(Virtue for Virtue's sake) करना चाहिये" यह भाव लोगो मे नही रहा । वह झूठ इसलिये नही बोलते कि ईश्वर दण्ड देगा, चोरी इसलिये नही करते कि ईश्वर अप्रसन्न होगा । इस प्रकार लोगो के हृदयों मे भय वैठता जाता है । और वह वास्तविक रीत्या सदाचारी नही वनते । परन्तु ऐसा कहने वाले गहरे नही जाते ।

वस्तुतः मनुष्यों की प्रकृति भिन्न भिन्न है । उनके मस्तिष्क मे जहाँ अन्य भाव हैं वहाँ भय भी है । भय मनुष्यो मे स्वभावतः है । कही वाहर से नही आ गया । वह भावो मे से एक है । उसको हम संसार से निकाल नही सकते । निकृष्टतम अवस्थाओ मे भय अधिक होता है और उन्नतशील मस्तिष्को मे इसकी न्यूनता होती जाती है । परन्तु यह नही कह सकते कि भय के लिये प्रकृति मे मे कोई स्थान ही नही ।

यह भय क्यो है ? इसका उपयोग क्या है ? यदि विकास वादी डार्विन आदि से पूछा जाय तो वह कहते हैं कि भय का उन्नति के लिये उपयोग है । उनका सिद्धान्त है कि विना आवश्यकता के कोई भाव होता ही नही । हम भी इस वात मे उनसे सहमत है ।

अव देखना यह है कि भय का आचार-शास्त्र मे क्या उपयोग है ? एक नियम, जैसे सच वोलना, मनुष्य समाज के लिये उपयोगी है; इससे संसार का लाभ होगा । इससे अधिक से अधिक जन सख्या को अधिक से अधिक सुख प्राप्त होगा । इसलिये मनुष्य समाज ने नियम वनाया कि सच अवश्य वोलना चाहिये और जो पुरुष सच न वोलेगा उसको सभा, समाज या राज की ओर से दण्ड मिलेगा । जो उच्च पुरुष हैं वह दण्ड का विचार न करते हुये भी सच वोलेंगे और झूठ से घृणा करेंगे । परन्तु निकृष्ट श्रेणी के मनुष्यों को इसी दण्ड का विचार करके सच वोलना पड़ेगा ।

याद रखना चाहिये कि यदि हम जनता की वास्तविक दशा का पता लगावें तो मनुष्यों की उच्च से उच्च श्रेणियों में भी ऐसे निकृष्ट लोगों की संख्या मिलेगी। अब इन लोगों को भय का अनुभव कराने के क्या साधन हैं? यह निकृष्ट हैं अतः उनको भय ही नियम में रख सकता है। परन्तु सर्वव्यापी भय कहाँ से आयेगी? समाज बल या राज बल प्रत्येक स्थान या प्रत्येक दशा में तो कृतकार्य्य हो नहीं सकता। एक मनुष्य के झूठ बोलने से ही प्राण बचते हैं। उसके झूठ का समाज या राज्य भी पता लगा नहीं सकता। अब प्रश्न यह है कि वह झूठ क्यों न बोले? ईश्वर विश्वासी तो कहेगा कि समाज न देखे, राजा न देखे परन्तु जो

पश्यत्यचक्षुश्च शृणोत्यकर्णः

बिना आंख के देखता और बिना कान के सुनता है उसकी सूक्ष्म दृष्टि से मैं कैसे बच सकूंगा? इस प्रकार ईश्वर का सच्चा विश्वासी उस समय भी पाप करने से बचेगा जब उसे संसार में किसी का भी भय नहीं है। परन्तु जिसका ईश्वर पर विश्वास नहीं वह ऐसे समय झूठ को ही पुण्य समझेगा क्योंकि झूठ लाभदायक है। यही कारण है कि स्वतन्त्र आचारवादियों ने झूठ को विशेष अवस्थाओं में विहित बताया है। (See Sidgwick' Ethics).

इसमें सन्देह नहीं कि हमारे इस दृष्टान्त में 'भय' सदाचार का साधन है। परन्तु हमारा तो सिद्धान्त ही यह है कि निकृष्ट अवस्थाओं में 'भय' को अवश्य साधन मानना पड़ेगा। और क्यों न मानें? एक शस्त्र उपस्थित है। यदि वह अधिक से अधिक उपयोगी हो सकता है तो उसका अवश्य प्रयोग करना चाहिये।

परन्तु एक बात स्मरण रखनी चाहिये। ईश्वर के भय और अन्य चीज़ों के भय में भेद है। जो ईश्वर से डरता है वह वस्तुतः अन्य किसी से नहीं डरता। यह भय भय नहीं किन्तु अभय का

सब से प्रकृष्ट हेतु है। इसी लिये आस्तिक वादियों ने खुदातर्स, गाड-फियरिंग (God-fearing) आदि शब्दों का निर्माण किया है। ईश्वर से डरना उच्चतम गुण समझा जाता है। क्योंकि जो ईश्वर से डरता है वह उसके नियमो का उल्लङ्घन नही कर सकता। वस्तुत: नियमो का उल्लङ्घन करना अभय का चिह्न है ही नहीं। यह महान् नीचता, कायरता तथा निर्बलता का चिह्न है।

नियमोल्लङ्घन तथा भय में क्या सम्बन्ध हैं? इसके विषय में सर्व साधारण में एक प्रकार का भ्रम फैला हुआ है। प्राय: अशिक्षित या कुशिक्षित या अर्धशिक्षित लोग यह समझते हैं कि वीर वह है जो नियमो को तोड़ सके। इससे अधिक भूल क्या हो सकती है? नियमो के पालन करने के लिये बल चाहिये। तोड़ने के लिये क्या बल? मनुष्य नियमों को क्यों तोड़ता है? इसीलिये कि वह निर्बल है। वह प्रलोभनो का सामना नही कर सकता। थोड़ी सी कीच पाते ही उसका पैर फिसल जाता हैं। कोई खाद्य पदार्थ देखा मुंह मे पानी भर आया। सुन्दर युवती देखी, मन डिगने लगा। यह सब नियमोल्लङ्घन के उदाहरण निर्भयता और वीरता के उदाहरण नहीं है। यदि मनुष्य को एक बार दृढ़ निश्चय हो जाय कि बल और निर्भयता नियमों के पालन में है न कि उनके उल्लङ्घन मे, तो सैकड़ो बड़े आदमी सच्चे बड़प्पन को प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु लोगो के हृदय मे तो

समरथ को नहिं दोष गुसांई

की विषैली शिक्षा बैठी हुई है। यह उनको प्रलोभनों से युद्ध नहीं करने देती। "मै राजा हू मेरे राजा में मुझ से ऊपर कोई नहा। अत: मैं सब से अधिक भोग विलास कर सकता हूँ। स्त्रियों के सतीत्व को नष्ट कर सकता हूं तथा असतियों के गट्ठ के गट्ठ अपने महलों में रख सकता हूँ।" यह विचार क्या वीर पुरुषों के विचार

हैं ? क्या यह आत्मा की अभयता को सूचित करते हैं ? वस्तुतः यह तो नीचे दर्जे की निर्बलता है। यह भय का निकृष्टतम रूप है। जिन लोगो का कथन है कि

परस्त्री-कुच-कुम्भेषु कुम्भेषु परदन्तिनाम् ।
निपतन्ति न भीरूणां दृष्टयः शरवृष्टयः ॥

वह वस्तुतः स्वय भीरु होते हुये दूसरों को भीरु बता रहे हैं।

सच्चा अभयपन वह है जो आत्मा को ससार के बड़े से बड़े प्रलोभनो से युद्ध करने के लिये उद्यत करता है और यह अभयपन ईश्वर से भय करने से ही प्राप्त होता है। जिसको ईश्वर का भय है उसे संसार मे किसका भय है ? और जिसे ईश्वर का भय नहीं वह सृष्टि की तुच्छ से तुच्छ वस्तु से डरेगा। आंखें खोल कर देखो और राजा तथा रंक दोनो के जीवन हम को यही उपदेश करते हैं। जिन्होंने ईश्वर से भय नही किया और उसके नियमो का उल्लङ्घन करते रहे वह अन्त मे बड़ी शोचनीय अवस्था को प्राप्त हो गये।

इसलिये ईश्वर के भय को साधारण भय से तुलना करना भूल है। हम ऊपर कह चुके हैं कि निकृष्ट मनुष्यो को पाप कर्म से बचने के लिये भय बहुत उपयोगी है। परन्तु यही भय शनैः २ मनुष्य को प्रेम की ओर भी लाता है। जो मनुष्य ईश्वर से डरते हैं वह कुछ दिनो मे उससे प्रेम भी करने लगते हैं और भय का निकृष्ट भाव प्रेम के उत्कृष्ट भाव में परिवर्त्तित हो जाता है। ईश्वर से डरना और ईश्वर से प्रेम करना यह दोंनो अन्त मे मिल जाते हैं।

लोग कहते हैं कि प्रेम मनुष्य का उत्कृष्टतम भाव है। प्रेम से पूर्ण हृदय अमूल्य रत्नो का कोष है जिसके सामने ससार को समस्त विभूति पत्थर के तुल्य है। परन्तु इस उत्कृष्टतम भाव का उत्कृष्टतम विकास उसी समय होता है। जब आत्मा परमात्मा के प्रेम मे मग्न

होता है। जब उसे न केवल अणु अणु परमाणु परमाणु में ही अपने प्यारे के दर्शन होते हैं किन्तु अपने निज आत्मा में वह अपार प्रकाश की विभूति को देखता है। उस समय उसे अपनी सुध बुध भी नहीं रहती। उसी समय के लिये उपनिषद् कहती है :—

ब्रह्म विद् ब्रह्म एव भवति*

अर्थात् ब्रह्मज्ञ ब्रह्म हो जाता है।

वस्तुतः ईश्वर प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य को सदाचारी रखने के लिये और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, सदाचार के जो कुछ नियम बनाये जा सकते है वह सब ईश्वर-प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि मिल या अन्य लाभ-वादियों के कथनानुसार हम इस बात को मान लें कि "अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख" सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है तो भी इसके लिये ईश्वर-प्रेम से अधिक और क्या साधन हो सकता है? जिसको मुझसे प्रेम है उसको मेरे बच्चों से अवश्य प्रेम होगा।

इसी दृष्टान्त के अनुकूल जिसको ईश्वर से प्रेम है उसको मनुष्य मात्र से अवश्य प्रेम होगा क्योंकि वह जानता है कि समस्त प्राणी उसी परमपिता परमात्मा के पुत्र हैं। मिल तो कहते है कि अधिक से अधिक मनुष्यों का सुख-सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है। उनका विचार मनुष्य से आगे जा ही नहीं सकता। परन्तु ईश्वर प्रेम की गति आगे चलती है। क्या केवल मनुष्य

*इसका यह अर्थ नहीं है कि जीवात्मा ब्रह्म बन जाता है। ब्रह्म बनने वाली वस्तु नहीं है। जो बना करती है वह ब्रह्म नहीं है। यहां वस्तुत जीव की अवस्था का वर्णन किया है। ब्रह्मज्ञ ब्रह्म के विचार में इतना मग्न हो जाता है कि उसको अपना कुछ विचार नहीं रहता उसका मन सर्वथा ब्रह्म के ही विचारों से परिपूर्ण होता है।

ही ईश्वर के पुत्र हैं ? क्या अन्य प्राणी नही ? क्या मनुष्य के सुख के लिये अन्य प्राणियों को दुःख दिया जा सकता है ? कदापि नही। आस्तिक का, सच्चे आस्तिक का यह साहस कहां कि वह किसी प्राणी को दुःख दे सके ? उसके हृदय से तो यही निकलेगा कि

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मै सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ। भाई का भाई से सीधा सम्बन्ध नही किन्तु अपने पितृजन के द्वारा सम्बन्ध है। इसी प्रकार मनुष्य का अन्य मनुष्यो तथा प्राणियो से सम्बध और निकटस्थ सम्बन्ध स्थापित करने वाला यदि कोई दृढ़तम सूत्र है तो आस्तिकता है।

कुछ लोग शायद आक्षेप करें कि यदि आस्तिकता वस्तुतः ऐसी सार्वजनिक सजीवन बूटी है तो आस्तिक लोगो को दूसरे मनुष्यो के साथ क्रूरता करते क्यो पाते है ? क्यो ऐसा होता है कि जो मनुष्य अत्यन्त भक्ति ईश्वर की करता है वही सब से अधिक स्वार्थी कपटी तथा क्रूर भी होता है।

इस आक्षेप मे कुछ तो अत्युक्ति है और कुछ भ्रम। ऐसा तो नही देखा गया कि जो कोई ईश्वर का जितना भक्त हो उतना ही वह स्वार्थी और कपटी भी हो। वस्तुतः हम ईश्वर भक्तो को ही ससार की भिन्न भिन्न सस्थाओ मे सेवा करते पाते है। हाँ कभी कभी ऐसा होता है कि अपने को आस्तिक कहलाने वाले बहुत सी नीचता करते पाये जाते हैं। परन्तु इसका मुख्य कारण आस्तिकता नही किन्तु पाखण्ड है। संसार मे बहुरुपिये बहुत हैं। वह अनेक रूप धारण करके ससार को ठगना चाहते हैं। कही प्रतिष्ठित पुरुषो का रूप रखते हैं और कही आस्तिको और ईश्वर उपासकों का। परन्तु बहुरुपियों के दृष्टान्तों से हम ठीक परिणाम तक नही पहुँच सकते।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि अन्य गुणों के समान आस्तिकता का भी विकास होता है। आस्तिकता 'छू मन्तर' या जादू की लकड़ी से उत्पन्न नहीं हो जाती। जिस प्रकार शनैः शनैः कक्षा क्रम से पढ़ते पढ़ते ही मनुष्य को गणित, भूगोल तथा अन्य विद्यायें आती हैं उसी प्रकार ईश्वर-विश्वास भी क्रमशः अभ्यास तथा अध्ययन से आता है। इसके लिये गुरु चाहिये, परिस्थिति चाहिये और शिष्य का शुद्ध आत्मा चाहिये। ईश्वर-विश्वास आत्मा की उच्चतम अवस्था का नाम है। हम प्रायः लोगों को ईश्वर विश्वास की भिन्न भिन्न श्रेणियों में पाते हैं। उनमें कुछ कपटी भी हैं जो चोरी की गाउन (चोले) पहन कर ग्रेजुएट (स्नातक) बन गये हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनमें अभ्यास की कमी है और सामाजिक परिस्थिति का वह सामना नहीं कर सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो सच्चे गुरु और सच्चे सिद्धान्तों के अभाव की दशा में कुछ रस्मों या पाखण्ड को ही आस्तिकता समझे हुये हैं। वह पत्थर को हीरा समझे हुये हैं अतः पत्थर का ही मूल्य उनके हाथ लगता है। हीरे का नहीं।

परन्तु इससे आस्तिकता की उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं हो जाती। वस्तुतः उन साधारण आस्तिकों के जीवन भी जिनमें हमको इतनी त्रुटियाँ मिलती हैं अत्यन्त नीच होते यदि उनको आस्तिकता तथा ईश्वर-विश्वास का कुछ भी प्रकाश न मिलता।

ईश्वर-विश्वास मनुष्य को उस समय सत्य मार्ग पर दृढ़ होने के लिये बल देता है जब संसार के अनेक प्रलोभन तथा अनेक भय उसे झूठ बोलने के लिये प्रेरणा करते हैं। ईश्वर-विश्वासी मनुष्य फाँसी पाने से भी नहीं डरता और हर्ष पूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करता है क्योंकि वह समझता है कि मृत्यु के समय भी

ईश्वर का करुणामय हाथ उसके ऊपर है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को सच्ची क्षमा सिखाता है। ईश्वर विश्वास मनुष्य को दम, शम तथा-इन्द्रिय निग्रह के अभ्यास मे सहायता देता है। ईश्वर विश्वास उसको पापाचरण से रोकता है। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो ईश्वर-विश्वास एक ऐसा पारस मणि है जिसके छूने से ही मनुष्य का जीवन कुछ का कुछ बन जाता है।

लोग कहेंगे कि क्या बिना ईश्वर-विश्वास के हम इन गुणों को धारण नहीं कर सकते ? मै कहता हूँ "नही। कदापि नहीं।" कम से कम इतिहास या दृष्टान्तो का इस विषय में अभाव है और यह सिद्ध भी नही हो सकता। वस्तुतः आदि सृष्टि से अब तक ईश्वर-विश्वास किसी न किसी रूप मे मनुष्यमात्र मे प्रचलित रहा है। इसी के आधार पर लोगों ने आचार-शास्त्र की नीव रक्खी है। और इसके आश्रय से वह नियम ससार के वायुमण्डल में प्रविष्ट हो रहे हैं। उनका येन केन-प्रकारेण प्रत्येक मनुष्य के ऊपर प्रभाव है। इसलिये यदि कोई मनुष्य ईश्वर पर विश्वास नही भी करता तो भी वह नियम उसे एक सीमा तक सदाचार के नियमो को उल्लङ्घन करने नही देते और इस प्रकार पाप एक सीमा से बाहर जाने नही पाते। अब यदि नास्तिक लोग ऐसे स्थान पर पहुँच सकें जहां ईश्वर-विश्वास का लवलेश भी नहीं है और वह अपने पुराने संस्कारों को भी एक प्रकार से धो डाले तब शायद इस बात का अनुमान किया जा सकता है कि ईश्वर-विश्वास के बिना मनुष्य सदाचारी रह सकता है या नहीं। परन्तु यह कैसे होगा ? मै यह जानना चाहता हूँ कि पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के बिना भी मै चल फिर सकता हूँ या नही। इसके लिये मुझे उन स्थानो पर जाना होगा जहाँ आकर्षणशक्ति का सर्वथा अभाव हो। क्या ऐसा अनुमान संभव है ? कदापि नही। जब सम्भावना नहीं तो व्यर्थ

कल्पना ही क्यों करनी ? वैज्ञानिक प्रयोगों मे जब कल्पना की जाती है तो उसका कोई कारण अवश्य होता है।

फिर एक बात और है। सदाचार से क्या अर्थ लेते हो ? यही न कि मनुष्य झूठ न बोले, किसी को त्रास न दे, चोरी आदि न करे ? थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि केवल सामाजिक आवश्यकतायें मनुष्य को इन नियमो के पालने के लिये प्रेरक हो सकती हैं। परन्तु फिर भी तो प्रेरणा बाहर से ही आयेगी। और इस सदाचार की एक सीमा होगी। यदि सदाचार के लिये आत्म-शान्ति (Self-satisfaction) भी आवश्यक है तो उसकी प्राप्ति ऊपरी बातों से न होगी। परम सुख या परम आनन्द से मनुष्य उस समय तक वंचित ही रहेगा जब तक वह अपने मे एक महती सत्ता का प्रकाश नहीं देखता। चेतन मनुष्य जड़ वस्तुओ से केवल शारीरिक दु:खो से बच सकता है और शारीरिक सुखो की ही प्राप्ति कर सकता है। परन्तु शारीरिक सुख कितने क्षणभगुर हैं ? इसका पता प्रत्येक भोग विलास मे लिप्त पुरुष को शीघ्र ही लग जाता है।

पीत्वा पीत्वा पुनः पीत्वा यावत् पतति भूतले।

से भी तो तृप्ति नहीं होती, विलास-प्रियता की अग्नि प्रत्येक आहुति से और अधिक प्रचण्ड होती है और मनुष्य का आत्मा उसमे दग्ध हो जाता है। वाह्य विषय सुख देने के लिये नहीं किन्तु शारीरिक साधारण आवश्यकताओ की पूर्ति मात्र के लिये है। भूख लगे खाना खालो, जिससे शरीर काम करने के योग्य बना रहे। परन्तु यदि यह समझा कि जीवन का उद्देश्य ही खाना है तो खाने से भी बहुत जल्दी दु:ख पहुँचने लगता है और मनुष्य उन सुखों से वंचित रह जाता है जो अति सूक्ष्म और इसलिये अधिक रोचक है। मिल ने अपनी पुस्तक यूटीलिटेरियनिज़्म (Utilitarianism) में एक प्रश्न उपस्थित किया है कि यदि सुख चाहना ही मनुष्य का

उद्देश्य हो तो उसमें और सुअर में क्या भेद रहेगा ? क्योंकि जो आनन्द सुअर को कीचड़ में लोटने से होता है उससे अधिक आनन्द एक राजा को कोमल शय्या पर लेटने से नहीं होता। फिर वही उसका उत्तर देते हैं कि आनन्द आनन्द में भेद है। सुअर का आनन्द सुअर का आनन्द है और मनुष्य का आनन्द मनुष्य का आनन्द है। सुअर में वह शक्ति ही नहीं जो सूक्ष्मतर आनन्द का अनुभव कर सके। मिल का इतना कथन तो ठीक है। परन्तु यदि मिल महोदय अपनी उस युक्ति को और आगे बढ़ाते और आनन्द की उत्कृष्टतम तथा सूक्ष्मतम अवस्था का विचार कर सकते तो उनको पता चलता कि जिस प्रकार मनुष्य का आनन्द सुअर के आनन्द से उच्च कोटि का है इसी प्रकार विषयों में लिप्त मनुष्य के आनन्द से ईश्वर-विश्वासी का आनन्द कई गुना उच्च कोटि का है। एक गणितज्ञ को जो सुख गणित सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में आता है वह लड्डू पेड़े में नहीं आता। परन्तु एक बालक जिसे उस सूक्ष्म आनन्द का कुछ भी ज्ञान नहीं यह नहीं समझ सकता कि लड्डू पेड़े से अधिक मीठी वस्तु भी कोई हो सकती है। यही हाल बाल-बुद्धि मनुष्यों का है। वह तो इन्द्रियों की तृप्ति को ही सुखों का सार भूत समझते हैं। और यह इन्द्रियां मनुष्य को उस समय तक नाच नचाती रहती हैं जब तक चेतन-जीव अपने को उनके दासत्व में रखता है। पराई उंगली के संकेत पर नाचने से न सुख ही मिलता है न दुःख की निवृत्ति होती है, इसीलिये वेद में कहा है।

यस्तुसर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ ॥ यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥ (यजु० अ० ४०]

अर्थात जो समस्त सृष्टि को एक परमात्मा में व्याप्त देखता है उसको किसी प्रकार का मोह या शोक नहीं हो सकता।

यही कारण है कि हम ईश्वर-भक्तों को ससार के सुखों पर लात मारते तथा अपने कर्त्तव्य के पालन करने मे किसी का भय न करते हुये देखते है। लोग उनको मूर्ख कहें, इसकी उनको चिन्ता नही। परन्तु उनका हृदय प्रेम से पूर्ण है। यह वस्तुतः सदाचार का सच्चा आधार है।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि जब ईश्वर निराचारी (un-moral) है तो वह हमको सदाचार कैसे सिखा सकता है? निराचारी का अर्थ शायद पाठकगण समझ गये होंगे। एक सदाचार होता है दूसरा दुराचार, यह दोनो सापेक्षिक शब्द हैं। मनुष्य या तो सदाचारी होगा अथवा दुराचारी, परन्तु कुत्ते, बिल्ली आदि प्राणियों मे सदाचार दुराचार का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि उनका काम बुद्धि पूर्वक नही होता। इसलिये उन प्राणियों की गणना आचारात्मक प्राणियो (moral beings) मे नही है। उनको न सदाचारी कह सकते हैं न दुराचारी। इसी प्रकार कुछ लोगो का कहना है कि ईश्वर के सम्बन्ध में भी आचार सम्बन्धी प्रश्न नहीं उठता। वह भी आचारात्मक नही अर्थात् निराचारी (Unmoral being) है। क्योंकि वह एक ही प्रकार के काम करता है उनसे विपरीत नही कर सकता। इस प्रकार यह लोग कहते हैं कि मनुष्य को आचार वह सिखलाये जो स्वयं आचार-युक्त हो। निराचारी सत्ता मनुष्य को सदाचारी कैसे बना सकती है?

हमारा उत्तर यह है कि जिस प्रकार पत्थर या कुत्ते बिल्ली आदि निराचारी हैं उसी प्रकार ईश्वर नहीं है। वस्तुतः हम जिस अर्थ में एक मनुष्य को सदाचारी कह सकते हैं उसी अर्थ में

ईश्वर को भी सदाचारी कहा जा सकता है। ईश्वर सत् है अतएव उसका आचार भी सदाचार कहलायेगा। पत्थर आदि जड़ पदार्थ और कुत्ते बिल्ली आदि प्राणी झूठ नहीं बोलते। चोरी नहीं करते। परन्तु यह केवल निषेधात्मक सदाचार है। बुद्धि पूर्वक नहीं है। ईश्वर के सभी काम बुद्धिपूर्वक होते हैं। केवल इसलिये उसको निराचारी नहीं कह सकते कि वह दुराचार नहीं कर सकता। जिस प्रकार सत्पुरुषों के आचार मनुष्य मात्र के अनुकरणीय हैं, इसी प्रकार ईश्वर के दया, प्रेम, परोपकार तथा न्याय भी मनुष्यों को अवश्य अनुकरणीय हैं। ईश्वर को निराचारी (Unimoral) कह कर उससे सदाचार को भिन्न करना केवल वाग्जाल है। इसका कोई वास्तविक अर्थ नहीं। आर. एस. आर्मस्ट्रोंग ने सच कहा है :—

"Goodness is the life of harmony with the eternal conditions which spring from the being of God; and Blessedness (the pure and perfect happiness) is the feeling of that harmony in the life." (God and the Soul p. 141).

"उन सत नियमों के अनुकूल जीवन व्यतीत करना ही सदाचार है जो सत्पुरुष अर्थात् ईश्वर की ओर से है और इस अनुकूलता का अनुभव करना ही परमानन्द है"।

कुछ लोगों का कथन है कि आस्तिक लोगों ने ईश्वर के ऐसे गुण और कर्म वर्णन किये हैं कि हम उनको सदाचार की कोटि में नहीं रख सकते। और कोई सदाचारी मनुष्य उनको मानने के लिये तैय्यार न होगा। फिर यह कैसे कहा जाय कि ईश्वर के कर्मों का अनुकरण करके हम सदाचारी बन जायगे। मिल महोदय ही लिखते है :—

"Convince me of it, and I will bear my fate as I may. But when I am told that I must believe this and at the same time call this being by the names which express or affirm the highest human morality, I say in plain terms that I will not. Whatever power such a being may have over me, there is one thing which he shall not do, he shall not compel me to worship him. I will call no being good, who is not what I mean when I apply that epithet to my fellow-creatures: and if such a being can sentence me to hell for not so calling him, to hell I will go."

मिल के कहने का तात्पर्य यह है कि यदि उनको ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण मिल जाय तो वह इसको मान लेगें। परन्तु वह उसको उन विशेषणों से पुकारने के लिये तैय्यार नहीं हैं जो एक सदाचारी मनुष्य के लिये प्रयुक्त किये जाते हैं चाहे ईश्वर उनको घोर नरक में ही क्यो न डाल दे। अर्थात् वह नरक की यातनायें भी सहन करने को उद्यत है परन्तु क्रूर सत्ता को दयालु कह कर झूठ बोलने के लिये उद्यत नहीं।

वस्तुतः यह एक वीरता-युक्त वाक्य है और इसके कहने में मिल अपने लाभवाद की भी परवाह नहीं करते। घोर से घोर दुःख मिलने पर भी वह सत्यवादी बनना चाहते हैं। इस सत्यवाद की प्रेरणा उनको किस ओर से हो रही है? लाभवाद (Utilitarianism) और सुखवाद (Hedonism) जिसके वह एक कट्टर प्रचारक हैं उनको दुःख सहन करके सत्य बोलने के लिये कभी प्रेरणा नहीं करेगा। मैं तो समझता हूँ कि यह प्रेरणा उसी शक्ति की ओर से हो रही है जिसको स्वामी दयानन्द ईश्वर की आवाज़

कह कर पुकारते हैं। वस्तुतः इस अपेक्षा से देखें तो सदाचार की कसौटी हमारे आत्मा के भीतर ही उपस्थित है। आत्माओं का आत्मा प्रत्येक आत्मा को उपदेश दे रहा है कि पाप से बचो और पुण्य मे निष्ठा रक्खो चाहे तुम्हे कितने ही दुःख क्यो न सहन करने पड़ें। जिस सत्ता पर विश्वास करने के लिये मिल के पास कोई प्रमाण नही है वही सत्ता मिल को उनके सिद्धान्त के विरुद्ध भी उपदेश दे रही है और मिल सुन रहे है कि नरक की यातना भोगना अच्छा है परन्तु झूठ बोलना अच्छा नही है। डाक्टर वार्ड (Dr. Ward) ने ठीक हा कहा था कि

"When a crucial case really comes before him, his better nature compels him to decide sternly, premptorily, effusively, indignantly against his own doctrine."

अर्थात् जब समय आता है तो मिल की उच्च प्रकृति उनको अपने मत के विरुद्ध भी इतने बल-पूर्वक निश्चय करने के लिये बाधित करती है।

कैसी आनन्द की बात होती यदि कही मिल को यह पता लग जाता कि यह उपदेश, यह सत्य बोलने का उपदेश, यह क्रूर शक्तियो से सामना करने का उपदेश, यह कठिन दुःख उठाते हुये भी सत्य-परायणता का उपदेश, जिस पर मुग्ध होकर उसकी लेखनी से ऐसे उच्च भावो का उद्गार निकल रहा है उस सत्ता की आवाज़ है जिसने वेदो मे कहा था :—

अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः।

कि मनुष्य को झूठ मे अश्रद्धा और सत्य मे श्रद्धा करनी चाहिये।

परन्तु यह संभव नहीं है। यह उस समय तक सम्भव नहीं है

जब तक संसार में सच्ची आस्तिकता का प्रचार नहीं होता। कितने धर्म है जिनमे ईश्वर को अत्यन्त क्रूर और दुराचारी तक माना गया है। तुलसीदास जी रामायण मे लिखते हैं।

विघन मनावहिं—देव कुचाली। (अयोध्या काण्ड)

कौन सा पाप है जिसको पुराणों में देवों से सम्बद्ध नहीं किया गया ? कौन सी बुराई है जो देवते नहीं करते ? ईर्ष्या, डाह, व्यभिचार, झूठ, मक्कारी सभी की गाथाओं से पुराण तथा पुराण सदृश अन्य धर्म ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यूनान के इलियड और ओडेसी को पढ़िये। वहां भी देव और देवियों की इसी प्रकार की करतूतें पढ़ने मे आती हैं। यूनान की देव माला पर विचार कीजिये, नहीं नहीं बड़े बड़े धर्मों के धर्म-ग्रन्थ बाइबिल और क़ुरान को पढ़िये। जो कुछ इनमे ईश्वर के विषय मे कहा गया है उससे तार्किक मनुष्य के हृदय मे आस्तिकता की ओर से उपरति हो ही जाती है। और जब एक बार नास्तिकता का बीज हृदय में बो दिया गया तो उसके अनेक प्रकार से पल्लवित तथा पुष्पित होने मे कोई देर नहीं लगती।

आवश्यकता इस बात की है कि हम ईश्वर के सच्चे स्वरूप को देख सकें। उसी समय हमारा हृदय धर्म के सच्चे भावों से प्रपूरित होगा और उसी समय हम सच्चे सदाचारी बन सकेंगे।

लोगो के इस कथन में कोई सार नहीं कि सच्चे आस्तिक दुःख पाते हैं और नास्तिकों को सुख मिलता है। सुख और दुःख और चीज़ है और सुख तथा दुःख के आडम्बर और चीज़। साधारण मनुष्य केवल ऊपरी आडम्बरों को देख कर ही सुख या दुःख की कल्पना कर बैठते है। वह समझते हैं कि महलों मे रहने वाले सब सुखी हैं और क़ैद में पड़े हुये सब दुःखी। परन्तु जो सुख तथा दुःख के वास्तविक स्वरूप को समझते है वह कभी ऐसी भूल नही करते।

सुख और दुःख आत्मा के भीतर से आता है बाहर से नहीं। समस्त प्रकृति के वैभव को प्राप्त करके भी मनुष्य का हृदय महादुःखी हो सकता है और कारागार मे पड़ कर भी आत्मा को सुख की प्राप्ति हो सकती है। जो नास्तिक है उसको तो वस्तुतः यह भी पता नही कि सुख है क्या? वह तो चारवाको के समान साधारण सुखों की सामग्री को ही सुख समझा हुआ है। जिस समय उस पर आपत्ति आवेगी, जिस समय उसको किसी मानवी-शक्ति का सहारा नहीं मिलेगा, जिस समय उसको धैर्य बधाने के लिये कोई न होगा उस समय उसके सामने अधकार ही अधकार तो होगा, उस समय कौन उसको सान्त्वना देगा? कौन उस तप्त हृदय से कहेगा कि "घबराओ मत मैं तुम्हारे साथ हूँ"? ऐसे मनुष्य के लिये तो वस्तुतः मध्याह्न भी आधी रात के तुल्य है। वह अपने बाहुबल पर भरोसा रखता है परन्तु एक घड़ी ऐसी आती है जब यह बाहु भी मनुष्य को धोखा दे बैठते हैं। इससे तुलना करो उस मनुष्य की जो ईश्वर का विश्वासी है। निर्जन बन हो, आधी रात हो, समुद्र हो, तूफान उठ रहा हो, कारागार हो, समस्त शरीर रोग ग्रसित हो। अग्नि-कुण्ड हो, चाहे कैसे भी कष्ट क्यों न हों, ईश्वर का ध्यान आया नहीं उसके आनन्द का स्रोत बहा नही। जलते हुये शरीर के होंठो पर भी एक बार हर्ष और मुस्कराहट के चिह्न प्रकाशित हो जाते हैं। माता की गोद मे रोगी बालक को भी चैन मिल ही जाता है। फिर जगदम्बा की गोद मे बैठ कर, उसकी लोरियां सुन कर उसका हाथ अपने सिर पर पाकर कौन सा संतप्त हृदय होगा जो अपने दुःखो को न भूल जाय और जिसमे आह्लाद की किरण का प्रकाश न हो सके।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो लोग नित्यों मे नित्य और चेतनो मे चेतन परमात्मा को अपने हृदय में देख सकते हैं उन्ही को वास्तविक सुख मिलता है अन्य को नहीं।

परन्तु कुछ लोग हैं जो इस वास्तविक आनन्द को भ्रम समझते हैं उनका कथन है

"You speak of the starry heavens restoring your soul peace and consciousness of God I have found a cup of coffee have the like effect. Do you not think that a dose of opium or has-hish if of right amount, would open up heaven to you."

कि तुम तारों भरे आकाश को देखकर जो आनन्द और ईश्वर विचार प्राप्त करते हो मुझे यह आनन्द काफी के एक प्याले में मिल जाता है। क्या पर्य्याप्त परिमाण में अफीम या नशीली वस्तु के खाने से स्वर्ग का द्वार नहीं खुल जाता? शायद ऐसे ही महानुभावो ने

पीत्वा पीत्वा पुनःपीत्वा यावत्पतति भूतले

का सिद्धान्त निकाला था। उनके विचार में वेहोशी का नाम आनन्द है। यदि ज्ञान का तिरोभाव ही आनन्द हो तो पाषाण, काष्ठ आदि हम से कई गुने आनन्दी होंगे। क्योकि अफीमी की पीनक तो कभी खुल भी सकती है परन्तु मेरी मेज और कुर्सी को किसी अवस्था मे भी दुःख का भान नहीं हो सकता। कितने मूर्ख हैं वह लोग जो दुःख से वचने के लिये नशीली वस्तुओं का प्रयोग करते है। मुझे याद है कि एक महाशय को जब कोई मानसिक व्यथा सताती थी तो वह एक वोतल ब्राण्डी अपने पेट मे उड़ेल लेते थे। वह समझते थे कि शराव एक तोप है जिसको देखकर दुःख दूर भाग जाता है। परन्तु दुःख कभी कभी

उनके नशे को भी दूर भगा देता था। यदि शराब में दुःख दूर करने की शक्ति होती तो शराब की दुकान से तो दुःख कोसों दूर रहा करता। परन्तु शराबियों से पूछो कि दुःख किस प्रकार अपनी समस्त सेना के साथ उन पर आक्रमण करता है और उनका पीछा नहीं छोड़ता।

वास्तविक दुःख निवृत्ति तो तभी होती है जब हमारे हृदय की आंख खुल जाती है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

बारहवाँ अध्याय

ईश्वर प्राप्ति के साधन

ईश्वर प्रत्येक स्थान और काल में व्यापक होने से प्रत्येक जीव को स्वभावतः ही प्राप्त है। यजुर्वेद में लिखा है।

तदेजति तन्नैजाति तद्दूरे तद्व-
न्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य
वाह्यतः ॥

(४०।५)

अर्थात ईश्वर अचल है परन्तु सर्व संसार को चलाता है। वह दूर भी है और निकट भी है। वह सब के भीतर है। और बाहर भी।

परन्तु सब के पास होने पर भी वह यथार्थ में दूर है अर्थात यद्यपि काल और स्थान की अपेक्षा सब के निकट है तथापि सब को प्राप्त नही है अर्थात् उसका सब को अनुभव नही होता।

यह अनुभव कैसे हो इसी का इस अध्याय में उल्लेख किया जायगा।

ईश्वर प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं। कर्म, उपासना और ज्ञान। ये तीनो मिलकर ईश्वर की प्राप्ति कराते हैं अकेले नहीं। वस्तुतः जिस प्रकार दाहिनी आंख और बांई आंख दोनों मिलकर देखती

हैं और देखने के लिये दोनों आंखों का होना आवश्यक है इसी प्रकार अकेले कर्म या अकेली उपासना या अकेले ज्ञान से ईश्वर की प्राप्ति नही होती। यह तीनो साधन साथ साथ प्रयोग में लाने चाहिये। अलग अलग नहीं। अर्थात् कोई यह नही कह सकता कि पहले हम कर्म कर लें फिर उपासना और फिर ज्ञान का अवलम्बन करें। इन तीनो का साथ साथ अवलम्बन करना पड़ेगा इसी का नाम ईश्वर-भक्ति है और इसी से अन्त मे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

कर्म

पहले हम कर्म को लेते हैं जो ईश्वर भक्ति का पहला अङ्ग है। हम कर्म और फल की विवेचना करते हुये बता चुके हैं कि मनुष्य को अच्छे कर्म करते रहना चाहिये। वेद मे बताया है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

अर्थात् मनुष्य को आयु पर्यन्त उत्तम कर्म ही करते रहना चाहिये। यही उपाय है जिससे वह कर्म के बधन मे नही फसने पाता।

वहुत से लोग समझते हैं कि वेदों मे कर्म की अवहेलना की गई है। यह भ्रम इनको ऐसे वाक्यों से हो जाता है जैसे।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नही होती। परन्तु वह यह नहीं समझते कि विना कर्म के ज्ञान भी नही होता। इसी भ्रम मे पड़े हुये वहुत से अपने को वेदान्ती कहने वाले चिमटा हिलाते इधर उधर फिरा करते हैं और कर्म नहीं करते।

यदि हम अपने शरीर पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि इसमे ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ दोनों हैं। आँख पैरो को चलने में

सहायता देती है और पैर आँख को ऐसे स्थान पर ले जाते हैं जहाँ वह उत्तम उत्तम दृश्यो को देख कर अधिक ज्ञान की प्राप्ति कर सके। इस प्रकार ज्ञान और कर्म दोनो मिल कर एक दूसरे की उन्नति के कारण होते हैं। कभ कर्म पहले होता है कभी ज्ञान पहले। कभी तो ज्ञान के द्वारा हम कर्म करते हैं। कभी कर्म के द्वारा हमको ज्ञान की प्राप्ति होती है।

कुछ लोगों का विचार है कि सांसारिक कार्य्य करते हुये हम ईश्वर की प्राप्ति नहीं कर सकते। अतः वह संसार छोड़ कर ईश्वर की खोज करते हैं मानो ईश्वर संसार मे नही किन्तु इसके बाहर किसी स्थान में है। कुछ लोग समझते हैं कि जब तक हम कर्म करते रहेंगे हमको ईश्वर की भक्ति करने का अवसर न मिलेगा। परन्तु वेद इनका विरोध करता है। वेद का उपदेश है कि बिना कर्म किये हुये हमारा कल्याण हो ही नही सकता।

जिस समय से बच्चा उत्पन्न होता है उसी समय से उसका कर्म करना आरम्भ हो जाता है। यद्यपि वह स्वयं उन कर्मों का उत्तरदाता नही हो सकता जो वह ऐसी छोटी अवस्था मे करता है जब उसकी बुद्धि विकसित नही होती। तो भी उसके माता पिता तथा परिजनो के कर्मों का प्रभाव उसके आत्मा पर पड़ना आरम्भ हो जाता है। इसी लिये वैदिक संस्कारो के करने का उपदेश है। यज्ञ इत्यादि इसी लिए किये जाते है। जिससे बच्चे के आत्मा पर अच्छे प्रभाव पड़ें। यह शुभ संस्कार ही मनुष्य को आगामी जीवन में पुण्य करने तथा पाप से बचने के योग्य बनाते हैं। और यही अन्त मे मे उसको ईश्वर की प्राप्ति कराते हैं। यहाँ हमने 'अन्त मे, शब्द प्रयुक्त किया है जिससे हमारा तात्पर्य मुक्ति से है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि मुक्ति से पहले इन कर्मों द्वारा ईश्वर की प्राप्ति नहीं होती। वस्तुतः जिस समय से अच्छे सस्कार आरम्भ होते हैं

उसी समय से ईश्वर का अनुभव भी होना आरम्भ हो जाता है। ईश्वर का अनुभव वस्तुतः भोजन के समान है जो शरीर को पुष्टि भी देता है और अधिक भोजन को ग्रहण करने की शक्ति भी प्रदान करता है। अर्थात् अच्छे संस्कार पड़ते ही मनुष्य को ईश्वर का अनुभव होने लगता है और यह ईश्वर का अनुभव मनुष्य को पुण्य कर्म करने मे सहायक होता है। पुण्य कर्म अपनी वारी से ईश्वर के अनुभव को अधिक करते हैं। यह अधिक अनुभव अधिक पुण्य कर्मों मे सहायता करता है इस प्रकार अन्त को मोक्ष हो जाता है। वेद मे कहा है:—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणया श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

अर्थात् जब अच्छे कर्म करने का व्रत मनुष्य करता है तो उसको उस कर्म के करने का अधिकार प्राप्त होता है। अधिकार की प्राप्ति से योग्यता मिलती है और योग्यता के लाभ से श्रद्धा अर्थात् उत्साह उत्पन्न होता है। श्रद्धा से सत्य का लाभ होता है।

श्री शंकराचार्य वेदान्त दर्शन के पहले सूत्र की व्याख्या करते हुये ब्रह्म जिज्ञासा के लिये चार बातें आवश्यक बताते हैं:—

(१) **नित्यानित्य वस्तुविवेकः**—अर्थात् यह निश्चय हो जाय कि कौन सी वस्तु नित्य है और कौन सी अनित्य।

(२) **इहामुत्रार्थ भोगविरागः**—अर्थात् लौकिक और पारलौकिक सुखो के भोग से वैराग्य का उत्पन्न होना।

(३) **शमदमादि साधन सम्पत्**—अर्थात् (शमदमादि रूपस्य साधनस्य सम्पत् प्रकर्ष इति भामती) शम, दम आदि मन तथा इन्द्रियो को वश मे करना।

(४) मुमुक्षत्वं:—अर्थात् मोक्ष की इच्छा।

परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि बिना ईश्वर भक्ति या ब्रह्म जिज्ञासा के उत्पन्न हुये ही नित्यानित्य का विवेक या शमदमादि साधन सम्पत् आदि साधनों का सम्पादन कोई कर सकेगा। नित्य और अनित्य का विवेक तो तभी होगा जब ईश्वर को मनुष्य पहचानने लगेगा। वस्तुतः नित्य और अनित्य का विवेक तथा ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को साथ साथ ही होता है। जैसे दीपक से हम दीपक को भी देखते हैं और अन्य वस्तुओं को भी। वही सूर्य्य का प्रकाश हमको सूर्य्य का भी पता देता है और अन्य वस्तुओं का भी। इसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान हमको ब्रह्म तथा अन्य वस्तुओं के विवेक में भी सहायक होता है। इसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञान की इच्छा के बिना न तो भोगों के वैराग्य हो सकता है न इन्द्रियों पर ही दमन हो सकता है। इसलिये यही कहना ठीक होगा कि यह सब साधन और साध्य का काम करते हैं। बच्चा आंख खोलते ही सूर्य के प्रकाश को ग्रहण करने लगता है। परन्तु प्रचण्ड प्रकाश के ग्रहण करने की उसमें शक्ति नहीं। सूर्य के कोमल से कोमल प्रकाश अर्थात् प्रातःकालीन प्रकाश के ही कुछ कुछ ग्रहण करने की उसमें शक्ति होती है। परन्तु वह कोमल प्रकाश ही उसकी आंख में अधिक प्रकाश ग्रहण करने की शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा का हाल है।

बहुत से लोग समझते हैं कि ब्रह्म जिज्ञासा का कर्म से कुछ सम्बन्ध नहीं। परन्तु यह उनकी भूल है। शंकराचार्य्य लिखते हैं:—

वेद एवाग्नि होत्रादीनां श्रेयः साधनानामनित्यफलतां दर्शयति 'तद्यथेह कर्म चितोलोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यचितोलोकः क्षीयते' (छांदोग्य ८। १। ६) इत्यादि।

अर्थात् 'वेद में अग्नि होत्र आदि श्रेय साधनों के फलों की अनित्यता का वर्णन है जैसे छान्दोग्य मे लिखा है कि जैसे इस लोक के लिये किये हुये कर्ण का फल क्षीण हो जाता है इसी प्रकार दूसरे लोक के लिये किये हुये पुण्य का फल भी क्षीण हो जाता है।"

परन्तु फिर अग्नि होत्र आदि को भी **श्रेय साधन** क्यों कहा? यदि मद्यपान, पर-स्त्री-गमन आदि कर्मों के फल की भांति अग्निहोत्र आदि कर्मों का फल भी अनित्य है तो फिर इनके करने की क्या आवश्यकता है? इनको श्रेय कहने का क्या प्रयोजन है? अवश्य है? वह दोनो कर्म एक से नहीं हैं। एक कर्म हमको ईश्वर की प्राप्ति की ओर ले जाता है। दूसरा हमको उस मार्ग से हटाता है। साधन उसी समय तक रहता है जब तक साध्य की प्राप्ति नही होती। साध्य की प्राप्ति हुई नही और साधन नष्ट हुआ नही। खाना पकाने के पश्चात् ही चूल्हे को आग बुझा दी जाती है। क्योंकि साध्य की प्राप्ति हो चुकी। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चूल्हे की अग्नि अनित्य थी अतः उनका जलना ही निष्प्रयोजन था। छान्दोग्य उपनिषद् ठीक कहती है कि इन कर्मों का फल क्षीण हो जाता है परन्तु फल के क्षीण होते हुये भी वह अपना अर्थात् साधन का काम कर ही जाता है।

हमारे जीवन के सभी शुभ कर्म जो ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं हमारे लिये अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके बिना हम ईश्वर प्राप्ति के साधनों का सम्पादन नही कर सकते। इनमें से कुछ तो दूरस्थ साधन हैं कुछ निकटस्थ। परन्तु मनुष्य साधन से जितना ही दूर होगा उतना ही उसको दूरस्थ साधनो का प्रयोग करना पड़ेगा। इसको एक उदाहरण से स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कीजिये कि हमको कोल्हापुर से कलकत्ते जाना है। कलकत्ता यहां से दूर है। अतएव प्रथम तो मुझे एक तांगा करके

स्टेशन पहुँचना चाहिये फिर वहां से टिकट लेकर मिरेज की गाड़ी मे बैठना चाहिये। फिर अनेक स्टेशनों को पार करते हुये और कई स्टेशनों पर रेलगाड़ी बदलते हुये कलकत्ते पहुँचना होगा। मार्ग मे कई स्थानो पर भोजन करना तथा स्नान आदि भी करना पड़ेगा। यह सब साधन हैं एक साध्य अर्थात् कलकत्ते पहुँचने का। परन्तु इनमे कुछ दूरस्थ हैं और कुछ निकटस्थ। अर्थात् मिरेज स्टेशन से मै कलकत्ते के बजाय दूसरे स्थानो को भी जा सकता हूँ। परन्तु कलकत्ता स्टेशन पर पहुंच कर अन्य स्थानो पर जाने की सम्भावना कम है। खाना खाना भी कलकत्ते पहुँचने का एक साधन है क्योंकि बिना खाना खाये कलकत्ता पहुंचना असम्भव होता। परन्तु वही खाना चोरी करने का भी साधन हो सकता है। अतः निश्चय यह हुआ कि वह सब काम जो एक साध्य तक ले जा सकते हैं उस समय उसके साधन कहलाते हैं जब वह साध्य को दृष्टि मे रखते हुए किये जाते है। अर्थात् साधन के लिये दो शर्तें जरूरी हैं :—

(१) उसमे साध्य तक पहुँचाने की योग्यता हो।

(२) उसका अवलम्बन साध्य को दृष्टि मे रख कर किया गया हो।

यदि इनमे से किसी शर्त का अभाव है तो वह साधन नही है। मुझे कलकत्ते जाने के लिये मिरेज स्टेशन को जाना है। परंतु मेरी दृष्टि मिरेज के बजाय कलकत्ते पर ही लगी हुई है। मित्र पूछते हैं "कहां जाते हो ?" मै कहता हूँ "कलकत्ते को।" मै यह नहीं कहता कि मिरेज को जा रहा हूँ।" यद्यपि मै मिरेज को ही जा रहा हूँ परन्तु मेरा लक्ष्य कलकत्ते पर है।

इस प्रकार सांसारिक काम हैं। हम चार प्रकार के काम करते हैं :—

(१) कुछ काम ऐसे जो ईश्वर प्राप्ति कराने की योग्यता रखते हैं और इसलिये किये जाते है हमको ईश्वर प्राप्ति हो। जैसे दान देना, विद्या पढ़ना, दूसरे का उपकार करना।

(२) कुछ काम ऐसे हैं जो ईश्वर प्राप्ति कराने की योग्यता तो रखते है परन्तु इस उद्देश्य से नही किये जाते। जैसे यश के लिये दान देना या किसी स्वार्थ के लिये दूसरे की सहायता करना।

(३) कुछ काम ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं परन्तु उनमे ईश्वर-प्राप्ति कराने की योग्यता नही। जैसे मूर्त्ति पूजना, अथवा किसी पशु को वलि देना।

(४) ऐसे काम जो न तो ईश्वर-प्रप्ति कराने के योग्य हैं न वह इस उद्देश्य से ही किये जाते है। जैसे चोरी, डाका आदि।

तीसरी और चैाथी कोटि के काम न तो ससार को लाभ ही पहुँचाते हैं न कर्म करने वाले के आत्मा को उच्च कर सकते है। यह निषिद्ध हैं और इनसे व्यक्ति तथा सोसायटी सभी की हानि होती है।

दूसरी कोटि के काम मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति तो नही कराते परन्तु वह उसको ईश्वर-प्राप्ति के निकट अवश्य ले आते हैं। वह शुभ काम करता है। परन्तु सकाम भाव से। उसमे शुभ काम के लिये रुचि उत्पन्न हो जाती है और निषिद्ध कर्म उसके आत्मा पर बुरे सस्कार नही डाल सकते। स्वार्थवश पुण्य करने के कारण उसको सन्मार्ग से विचलित होने का भय अवश्य है। उसी प्रकार जैसे मिरज पहुँच कर सम्भव है कि मै कलकत्ते के बजाय दूसरे स्थान को चल पड़ू। परन्तु यह भी सम्भव है कि बिना कलकत्ते जाने के उद्देश्य के भी मै मिरेज पहुँच कर किसी

बात की प्रेरणा से कलकत्ते चल पड़ें। क्योंकि मिरेज कोल्हापुर की अपेक्षा कलकत्ते से निकट है।

सकाम अर्थात स्वार्थ वश पुण्य करने वाला मनुष्य ईश्वर प्राप्ति के अधिक निकट है उस पुरुष की अपेक्षा जो निषिद्ध कर्म कर रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि छान्दोग्य उपनिषद् के ऊपर दिये वाक्य के अनुसार सकाम कर्मों का फल क्षीण अवश्य होगा। परन्तु वह कर्म मनुष्य को ईश्वर अनुभव के निकट ले आवेंगे।

इसलिये यज्ञ आदि करना व्यर्थ नहीं किन्तु परमावश्यक है। क्योंकि इनसे आत्मा पर अच्छे संस्कार पड़ेंगे। यदि इनको न किया जाय तो मनुष्य आगे चलने के योग्य नहीं हो सकेगा। कल्पना कीजिये कि भोजन करना मनुष्य त्याग दे। तो थोड़े दिनों मे उसका शरीर निर्बल हो जायगा। मस्तिष्क चक्कर करने लगेगा। फिर क्या उसमे मुमुक्षुत्व की योग्यता रहेगी? क्या यह योग का साधन कर सकेगा? कदापि नही। इसी प्रकार अन्य सांसारिक शुभ कर्मों का हाल है। जो मनुष्य बिना इन कर्मों के ईश्वर प्राप्ति करना चाहता है वह भ्रम मे है उसको ईश्वर प्राप्ति तो क्या उसका निकट भी प्राप्त नहीं हो सकेगा।

वह शुभ कर्म क्या हैं।

(१) पञ्चमहायज्ञादि यज्ञ करना।

(२) अपने निर्वाह के लिये शुभ कर्म करना।

(३) दान करना।

(४) दूसरे जीवों के दुःख दूर करने के लिये उपाय सोचना।

इन चार कोटियों के अन्तर्गत सब काम आ जाते हैं जो मनुष्य को ईश्वर की प्राप्ति के निकट ले जाते हैं।

परन्तु यदि यह ईश्वर-प्राप्ति को दृष्टि में रख कर किये जाते हैं तो ईश्वर-प्राप्ति सुगम हो जाती है और बहकने का भय नही रहता। यदि यह ईश्वर-प्राप्ति को लक्ष्य मे रख कर नही किये जाते तो प्रथम तो बहकने का भय होता है। दूसरे आत्मा मे मुमुक्षुत्व उत्पन्न नही होता और न नित्यानित्य विवेक मे ही कुछ सहायता मिल सकती है।

हम कुछ मनुष्यो को देखते हैं कि वह केवल होम आदि को ही कर्म काण्ड समझते हैं। वह नित्य प्रातःकाल उठ कर सन्ध्या करते है, हवन करते है, अन्य यज्ञो मे भी भाग लेते हैं परन्तु न तो वह अपने निर्वाह के लिये शुभ कर्म करते हैं, न दान देते और न ही वह सामाजिक दुःखो को दूर करने का प्रयत्न करते है। ऐसे पुरुष कभी उन्नति नही कर सकते। यह कर्म काण्ड नही, पाखण्ड काण्ड है। होम आदि करना पाखण्ड नही है। परन्तु अपने कर्त्तव्यो को वही तक सीमित करना बड़ा पाखण्ड है हिन्दू जाति मे आजकल ऐसा पाखण्ड बहुत है। होम आदि कर्मकाण्ड के अंग मात्र हैं। वह आवश्यक अंग अवश्य है परन्तु बहुत बड़ा अग नही है। जो मनुष्य खेत जोत कर छोड़ देता है और उसमे बीज नही बोता वह मूर्ख और पाखण्डी है क्योकि यद्यपि खेत जोतना कृषि का आवश्यक भाग था परन्तु बहुत बड़ा भाग नही था। पञ्च महायज्ञ करना एक प्रकार से अपने आत्मक्षेत्र को अन्य कार्य्यों के लिये तैयार करता है।

गृहस्थ धर्म का पालन करना, सन्तानोत्पत्ति, तथा परिवार के पालन के लिये धनोपार्जन, यह भी कर्मकाण्ड का एक मुख्य अंग है। विवाह करना स्वयं स्वार्थता के आगे एक पग बढ़ाना तथा शम दम आदि का अभ्यास करना है। यदि गृहस्थधर्म के पालन का विचार छोड़ दिया जाय। यदि परिवार के पालन की चिन्ता न रहे

तो मनुष्य को बहुत से अनुभवों की प्राप्ति न हो जो उसकी उन्नति के लिये आवश्यक है। स्मृतियों तथा धर्म शास्त्रों में चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रम की व्यवस्था तथा उनके कर्त्तव्यों का निर्देश इसीलिये है कि वह न केवल अभ्युदय की ही पर्याप्त कराते हैं किन्तु उसके साथ ही साथ निश्रेयस के लिये भी साधन होते हैं, उदारता, कोमलता तथा प्रेम का विकास गृहस्थ के भीतर ही होता है। यह वास्तविक प्रेम या परोपकार की पहली सीढ़ी है। एक पत्नी-व्रत तथा एक स्त्रीव्रत मनुष्य को सिखाता है कि अपने को दूसरे के लिये भूल जाने और अपने आराम को दूसरों के आराम के लिये त्याग देने की क्या आवश्यकता है। यदि विवाह का शुभ संस्कार न हो तो मनुष्य इन्द्रिय-दमन कर ही नहीं सकता। व्यभिचार तथा उच्छृङ्खलता से मनुष्य को रोकने का विवाह और गृहस्थाश्रम एक उत्कृष्ट साधन है। जिस समय स्त्री सन्तान को उत्पन्न करती है उसी समय उसके हृदय मे मातृ-प्रेम का अपूर्व और स्वार्थ-रहित स्रोत बहने लगता है। इस शुद्ध प्रेम की उपमा किसी अन्य से नही दी जा सकती। यदि पति के लिये प्रेम मे कुछ कुछ स्वार्थता तथा विलासता की गन्ध भी आती हो तो वह गन्ध सन्तानोत्पति के साथ सर्वथा जाती रहती है। इसी प्रकार गृहस्थ मनुष्य अपने सम्बन्ध को अपने आत्मा से ऊपर उठा कर अन्य प्राणियों तक ले जाता है। वह एक वृत्त बनाता है जिसका वह स्वयं केन्द्र है परन्तु उसकी स्त्री बच्चे तथा अन्य सम्बन्धी एक परिधि हैं।

यदि गृहस्थाश्रम शास्त्रोक्त रीति से व्यतीत किया जाय तो यह परिधि शनैः २ बढ़ने लगती है। गृहस्थ का धर्म है कि वह दान दे अर्थात् अपना सुख त्याग कर कुछ सुख की सामग्री को दूसरों के दुःख निवारण मे व्यय करे। दान का विचार करते ही हमको

अनुभव होने लगता है कि जो परिधि हमने अपने वाल वच्चो तक ही खींची थी, वह क्षुद्र है। वह अनुदार है। इसको बढ़ाने की आवश्यकता है। स्त्री तथा वच्चों के अतिरिक्त अन्य भी ऐसी व्यक्तियां हैं जिनसे हमसे सम्बन्ध होना चाहिये। इनकी "उन्नति मे ही अपनी उन्नति समझनी चाहिये। जव तक दुखी है हमको सुखी होने का अवसर न मिलेगा। जव तक वह दूपित या अशुद्ध हैं हम यत्न करते या देवालयों में ईश्वर का ध्यान करते हुये भी अदूपित या शुद्ध न रह सकेंगे। जव तक उनमे पवित्रता न आवेगी हमारा आत्मा उन्नति को प्राप्त न होगा। इस प्रकार गृहस्थ धर्म के अन्य कार्य्यों के साथ साथ ही दान या परोपकार भी कर्त्तव्य हो जाता है।

जो लोग यह समझते हैं कि हमको दूसरो से क्या, हम स्वय शुद्ध तथा धर्मात्मा वने रहें, वह सृष्टि के कार्य्य-क्रम को ही नहीं समझते। समुद्र का एक विन्दु यदि चाहे कि मै स्वय अन्य विन्दुओ की वुराई या भलाई को ग्रहण न करूं तो यह असम्भव है। प्रलय अवस्था मे अनन्त जीव एक दूसरे से अलग थे। वह एक दूसरे के विपय मे सर्वथा अनभिज्ञ तथा असम्बद्ध थे। परन्तु ईश्वर ने सृष्टि को इसलिये रचा कि वह जीव इस प्रकार असम्बद्ध न रहें। सृष्टि को रचना अथवा शरीर निर्माण ही जीवों के परस्पर निकट आने का एक मार्ग है। प्रत्येक चेतन का दूसरे चेतनो के साथ साक्षात् सम्बन्ध नही हो सकता उसके लिये चेतनो को उन्नति के शिखर पर पहुँचना चाहिये। जिन्होने कभी उन्नति नहीं की परन्तु करना चाहते है उनको अवश्य एक दूसरे को साथ शरीर, द्वारा सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा। यही तो कारण है कि मनुष्य की उत्पत्ति की एक विशेप रीति निर्माण की गई है। फिर अन्य प्राणियों के साथ भी हम अपने शरीरो द्वारा ही सम्बन्ध जोड़ते हैं। मुझे शरीर को पुष्ट रखने के लिये खाने की आवश्यकता है। खाना

उत्पन्न करने के लिये खेती की आवश्यकता है। खेती के लिये लोहार की। लोहार के लिये खान खोदने वाले की। खान खोदने के लिये भूगर्भ विद्या की। भूगर्भ विद्या को उन्नत करने के लिये अन्य विद्वानों की। इस प्रकार यह शृङ्खला यहां तक बढ़ती है कि हमारा सम्बन्ध सृष्टि के प्रत्येक प्राणी से हा जाता है। इसी को सभ्यता अर्थात् परस्परतंत्रता कहते है! गृहस्थ आश्रम मे इस सम्बन्ध मे अपनी आवश्यकताओं अथवा स्वार्थ का लवलेश होता है। परन्तु यही सम्बन्ध आगे चल कर इस सीमा तक पहुँच जाता है कि आत्मा से आवाज़ आने लगती है कि

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

जब मनुष्य का हृदय इतना उदार हो गया तो वह कर्मकाण्ड की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है! वह अपने समस्त जीवन को परोपकार मे लगा देता है। उस समय उस ईश्वर का अनुभव न केवल अपने ही आत्मा मे होता है किन्तु प्रत्येक आत्मा मे वह उसी का प्रकाश देखता है।

शुनि चैव श्वपाके चैव पण्डितो समदर्शिनः। (गीता)

हम ऊपर कह चुके हैं कि सांसारिक व्यापार ईश्वर प्राप्ति के दूरस्थ साधन हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इनको छोड़कर हम किसी छोटे मार्ग का अवलम्बन कर सकते हैं। यदि एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचने के दो मार्ग हो एक सौ कोस और दूसरा पचास कोस। तो एक सौ कोस के मार्ग को अवश्य त्याग देना चाहिये। परन्तु वस्तुतः ईश्वर प्राप्ति का कोई सीधा मार्ग है नही। जो सीढ़ी के जिस दण्डे पर है उसको उसी दण्डे से चोटी तक का अन्तर नाप लेना चाहिये। यदि कोई मनुष्य इतना उदार हो गया

है कि विना गृहस्थ का अवलम्बन किये ही उसको समस्त सृष्टि अपना कुटुम्ब प्रतीत होने लगी है तो वह गृहस्थियो की अपेक्षा आगे है। ऐसे मनुष्य को गृहस्थ मे फँस कर पीछे की ओर लौटना नहीं चाहिये। अन्यथा वह अपने साध्य से और दूर हो जायगा। परन्तु यदि मनुष्य का हृदय इतना विकसित नहीं है तो केवल लोक-लज्जा अथवा अन्य प्रलोभनो मे फँस कर उसे गृहस्थ का कभी त्याग नहीं करना चाहिये। आजकल हिन्दू जाति मे जो साधुओं तथा सन्यासियो की भरमार है वह वस्तुत: सद्-गृहस्थियो की अपेक्षा ईश्वर-प्राप्ति से बहुत दूर हैं। गृहस्थ-पुरुष कम से कम अपने परिवार के लिये तो अवश्य ही स्वार्थ त्याग करता है परन्तु इन साधुओ के वृत्त की परिधि तो इनके आत्मा से १ इञ्च भी आगे नही बढ़ती। यह भोग विलास करते हैं परन्तु अपनी कमाई से नहीं इन्द्रियो के भोगों मे लिप्त रहते हैं परन्तु किन्ही अन्य प्राणियों की चिन्ता नहीं करते। आजकल के साधु तथा साधुनियो की कथायें ऐसी भयङ्कर हैं कि हम उनमे और चोर डाकुओं मे कोई भेद कर ही नही सकते। इनकी आत्मा अधम से अधम गृहस्थियो से भी नीच हैं। वह सभी भोगना चाहते हैं परन्तु गृहस्थ के कर्त्तव्यो का भार अपने सिर पर नहीं लेना चाहते। यह केवल कर्मकाण्ड के महत्व को न समझने के कारण होता है।‡

---

‡आश्चर्य की बात है कि भारतवर्ष के साधु-सन्यासी गीता को अपना परम धार्मिक पुस्तक मानते हुये भी कर्म की अवहेलना करते हैं। शायद ही ऐसा कोई साधु पाओगे जो गीता को किसी न किसी रूप में न पढ़ता हो परन्तु शायद ही ऐसा कोई साधु हो जो कर्मपरायणता अपना कर्त्तव्य समझता हो। यह लोग गीता को पाठ मात्र पढ़ते हैं और उसके ऊपर कभी विचार नहीं करते। गीता कहती है —

कर्मकाण्ड के विषय मे दो बड़ी भूलें हैं। कुछ लोग तो केवल कुछ आडम्बरो को ही कर्मकाण्ड समझते हैं और कुछ कर्मकाण्ड को ईश्वर प्राप्ति के लिये सर्वथा अनावश्यक समझते हैं। पहले विचार ने तो हिन्दू-जाति मे अभिमानी और मत्सरी पण्डितो की संख्या को बढ़ाया है जो अपने को शुद्ध रखना ही अपने कर्त्तव्यो की इति श्री समझते है। दूसरी भूल ने लाखो झूठे पाखण्डी और अचार-भ्रष्ट सन्यासियो का आधिक्य किया है। इस प्रकार दो बड़े दल जो अपनी तथा अपनी जाति की उन्नति के बहुत बड़े साधन हो सकते थे उसके पतन का हेतु बन रहे है।

पण्डित लोग समझते हैं कि यदि उन्होंने किसी अधम जाति तक वेदो का प्रकाश पहुँचाया, यदि उन्होन ईश्वर की पूजा करने से पहले किसी अस्पृश्य जाति को छू लिया, यदि उनके पूजा के स्थानो में अन्य जाति वाले चले गये तो उनको झट पातक लग जायगा। यदि उनके सिवाय समस्त संसार झूठ बोलने, अनाचार करने, अज्ञान में डूबे रहने, यज्ञ आदि शुभ कर्मो से वञ्चित रहने रूपी घोर अन्धकार मे डूबा रहा तो परमात्मा अपने निकट आने का द्वार उनके लिये खोल देंगे और उनको स्वर्ग-धाम तक पहुँचने के लिये कोई कठिनाई नही पड़ेगी। परन्तु कितनी मूर्खता है ? कितना भ्रम है ? हे मूर्ख

कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्य यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ ३। १५

नियत कुरु कर्मत्वं कर्म ज्यायोह्यकर्मण।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध्ये यद कर्मण। ३। ८

अर्थात् कर्म करना वेदों की आज्ञा हैं और वेद ईश्वर वाक्य है। इस लिये कर्म की श्रेष्ठता है। हे अर्जुन ! कर्म अवश्य करना चाहिये। कर्म करना कर्म न करने से श्रेष्ठ है। कर्म बिना किये तो शरीर यात्रा भी नही हो सकती।

जीव ! तू समझता है कि संसार भर में अज्ञान-रूपी अन्धकार छाया रहे और प्रकाश तुझ तक पहुँचता ही रहेगा ? संसार भर में अधर्म रूपी रोग के कांटो की भरमार हो जाय और तू स्वस्थ्य रहेगा, संसार भर का वायुमण्डल दुराचार से भर जाय और तुझ पर उसका कुछ प्रभाव न पड़ेगा, ससार अवनति के घोर रसातल को चला जाय और तू उन्नति के शिखिर पर ही बैठा रहेगा ? नही ? नहीं ! कदापि नहीं ! जो संसार को अज्ञान मय रखना चाहता है उसे ज्ञान कभी नही आ सकता, जो दूसरों को अशुद्ध देखते हुये उनको शुद्ध करने का प्रयत्न नही करता, उसे स्वय अशुद्ध रहना पड़ेगा। जो दूसरो को नीच और अस्पृश्य रखना चाहता है, वह एक दिन स्वयं अस्पृश्य हो जायगा। जो दूसरो को धर्मात्मा बनाने का चिन्तमन नहीं करता वह स्वय धार्मिक नहीं हो सकता ? जो दूसरो को गिराना चाहता है वह स्वयं भी अवश्य गिरेगा। ईश्वर ने समस्त सृष्टि को एक घनिष्ट सम्बन्ध के सूत्र मे पुरोदिया है। सूत्र टूटते ही दाने भूमि पर गिर पड़ते हैं। इसलिये आवश्यकता है कि कर्म के मर्म को समझ कर इस सूत्र को सुदृढ़ किया जाय।

कर्मकाण्ड की अवहेलना मत करो और न पाखण्ड-काण्ड को ही कर्म काण्ड समझो। हां इस बात का अवश्य ध्यान रक्खो कि जो शुभ कर्म करो उसको ईश्वर प्राप्ति का साधन मात्र समझो। साधन को साध्य समझ लेने से उन्नति रुक जाती है और अभीष्ट फल की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये गीता मे कहा है:—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिंद्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये।
(५। १०,११)

अर्थात् जो पुरुष ब्रह्म पर लक्ष्य रखता हुआ कर्म करता है वह जल मे कमल के समान कर्मों मे नहीं फसता। योगी लोग शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियों से फल की आकांक्षा छोड़ कर कर्म करते हैं। उनका लक्ष्य केवल आत्मा की शुद्धि पर होता है। बीच में होने वाले छोटे छोटे फलो की वह परवाह नहीं करते। जो गेहूँ के लिये खेती करता है उसको भूसा साथ मे मिल जाता है। इसी प्रकार जो आत्म-शुद्धि के लिये कर्म करते है उनको आत्म-शुद्धि के साथ साथ सांसारिक सुखों की भी प्राप्ति हो जाती है। परन्तु परम आवश्यक बात यह है कि कर्म काण्ड का पालन करते हुये हम अपना ध्येय पर लक्ष्य रक्खें। इसके लिये कर्म-काण्ड के साथ ज्ञान-काण्ड तथा उपासना काण्ड की आवश्यकता है।

ज्ञान-काण्ड

ज्ञान-काण्ड मनुष्य को लक्ष्य की स्मृति दिलाता रहता है। मनुष्य कर्म काण्ड में लिप्त होने नहीं पाता। उसका निश्चय हो जाता है कि जो कुछ मै कर रहा हूं वह शुभ है, श्रेय है, आवश्यक है, परन्तु फिर भी साधन है। साध्य नहीं। सीढ़ी है, चोटी नहीं। ज्ञान के अभाव मे लोग साधन को ही साध्य समझ लेते हैं। जिसने रेलगाड़ी को अपना घर समझ लिया, जो स्टेशन आने पर भी उससे उतरना नहीं चाहता वह मूर्ख है महामूर्ख है। जो सीढ़ी के दण्डो को पकड़े बैठा हुआ है उसकी बुद्धि के लिये क्या कहा जाय? परन्तु यह सब कुछ उसी समय होगा जब हम अपने ज्ञान का वृद्धि करें।

ईश्वर के ज्ञान प्राप्त करने के निम्नलिखित साधन हैं :—

[१] **सृष्टि-रचना का ज्ञान**—हम पिछले कई अध्यायों मे अनेक स्थलो पर बता चुके हैं कि सृष्टि-रचना से जिसमे हमारे

शरीर की रचना भी शामिल है ईश्वर के अनेक गुणों का प्रकाश होता है। यदि हम अपनी उंगली उठाकर ही उस पर विचार करने लगें तो हमको उसमें ईश्वर की अपार-महिमा का प्रकाश मिल जाता है।

[२] वेदादि सच्छास्त्रों का अध्ययन—जिनमें ईश्वर के विषय में अनेक उपदेश हैं।

[३] सद्गुरुओं का उपदेश तथा सत् पुरुषों का संग।

जो मनुष्य ईश्वर-प्राप्ति करना चाहता है उसको अपने दिनों का कुछ न कुछ भाग अवश्य इन तीनों साधनों के सम्पादन में व्यय करना चाहिये। हम सृष्टि रचना को नित्य प्रति देखते हैं परन्तु उस दृष्टि से नहीं जो ईश्वर प्रेमी की होती है। सायंस सभी पढ़ते हैं परन्तु उनकी दृष्टि सृष्टि के नियमों के आगे चल कर उसके नियन्ता तक नहीं जाती। कल्पना करो कि तुम विदेश से यात्रा करते हुये अपने घर के स्टेशन पर पहुंचते हो। तुम्हारी माता तुम्हारी प्रतीक्षा में स्टेशन पर पहुंचते हो। तुम्हारी माता तुम्हारी प्रतीक्षा में स्टेशन पर आई हुई है जिस दृष्टि से वह माता रेलगाड़ी की ओर देखेगी वह दृष्टि अन्य किसी की न होगी। गाड़ी स्टेशन पर आती है। गाड़ी के इंजन, गाड़ी के डिब्बे, गाड़ी की गति सभी का उसकी दृष्टि में तुम से सम्बन्ध है। उसके लिये गाड़ी एक प्यारी वस्तु है, गाड़ी के लिये नहीं किन्तु उस प्यारे के लिये जिसको वह गाड़ी ला रही है। वही गाड़ी आवे और यदि तुम उसमें न हो तो गाड़ी की समस्त शोभा उसके लिये फीकी है। इसी प्रकार जब तुम सृष्टि की ओर देखते हो तो अपने प्यारे को दृष्टि में रख कर देखो। पहाड़ों की ऊँची शिखरें, समुद्र

की तरङ्गें, नदी का बहाव, सूर्य्य, चन्द्र की गति, सभी में तुम ईश्वर का प्रकाश देख सको। एक फ़ारसी कवि कहता है।

कि वचश्मानि दिल मुबीं जुज़ दोस्त।
हर्चि बीनी बिदां कि मज़हरे ओस्त ॥*

इसी विषय मे माण्डूक्योपनिषत् कहती है :—

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानम्।

अर्थात् यह समस्त जगत उस ईश्वर का उप-व्याख्यान है।

परन्तु प्रत्येक को यह उपव्याख्यान सूझ नही पड़ता। इसके लिये अभ्यास करना पड़ता है। बच्चे को छोटेपन से ही प्रत्येक वस्तु का ईश्वर से सम्बन्ध बताते रहना चाहिये। उसके आत्मा पर आरम्भ से ही ऐसे संस्कार अंकित करने चाहिये कि ईश्वर सब मे व्यापक है वह हमको प्रत्येक वस्तु देता है। इत्यादि इत्यादि। वस्तुतः नित्यानित्यविवेक का क्या अर्थ है? यही न कि हमको यह पहचान हो जाय कि नित्य क्या वस्तु है और अनित्य क्या? जब तक हम अनित्य वस्तुओ मे नित्य का चमत्कार नहीं देखते उस समय तक हम ज्ञानी नही कहला सकते। जो कुछ हमको नाम रूप दृष्ट पड़ता है वह सब अनित्य है परन्तु मिथ्या नहीं है। वह भी नित्य का प्रकाश है नित्य का उपव्याख्यान है। मिथ्या वस्तु सत्य वस्तु का उपव्याख्यान नही हो सकती। इसलिये संसार में जो कुछ दीखता है वह मिथ्या नही किन्तु सत्य है।

बहुत से लोग समझते हैं कि वेद आदि शास्त्रो को पढ़ना ईश्वर-प्राप्ति का साधक नही किन्तु बाधक है। वह सन्तों के अनेक वचनो को उद्धृत करते हैं जिनमे शास्त्रो के पढ़ने का या

---

* हृदय की आंख से अपने प्यारे के सिवाय किसी को मत देखो। जो कुछ देखता है उस सब को उसी का प्रकाश समझो।

तो निषेध किया गया है या उनकी अवहेलना की गई है। बहुत से वेदों और उपनिषदों के वाक्यों से सिद्ध करते है कि शास्त्रो का पढ़ना ईश्वर-प्राप्ति के लिये व्यर्थ है :—जैसे वेद मे लिखा है :—

यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति ।

अर्थात् जो ईश्वर को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा ?

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम् ॥
(मुण्डकोपनिषत् ३।२।३)

अर्थात् यह आत्मा न तो कथाओं से प्राप्त होता है न बुद्धि से न वेदो के श्रवण से। जो ईश्वर का वरण करता है उसी को उसकी प्राप्ति होती है।

इसी उपनिषद् मे लिखा है :—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति हस्म ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ [मुण्डकोपनिषत् १।१।४, ५)

अर्थात् दो विद्यायें हैं एक अपरा जिसमे वेदादि का अध्ययन है और दूसरी परा जिससे ईश्वर की प्राप्ति होती है। यहाँ वेदो को परा विद्या से सम्मिलित नहीं किया है। इसलिये जिन लोगों की इच्छा ईश्वर प्राप्ति की है उनको वेदों से क्या प्रयोजन। एक उर्दू का कवि कहता है :—

क़िताबों में धरा क्या है बहुत लिख लिख के धो डालो।
हमारे दिल पे नक़्शे कलहजर है तेरा फ़रमाना॥

इसी बात के अनुसार हज़ारो साधु लोग चिमटा हिलाते फिरा करते हैं। उनसे यदि पूछो "कुछ पढ़े हो?" तो कहते है "हमको पढ़ कर क्या करना? हम तो केवल राम नाम जपते हैं।"

परन्तु यह एक दोष है। वस्तुतः वेदादि सच्छास्त्रों के बिना ईश्वर का ठीक ज्ञान नही हो सकता। और जब तक ज्ञान न हो उस समय तक ईश्वर की प्राप्ति कैसे होगी? हम एक स्थान पर लिख चुके हैं कि मिथ्या-ज्ञान से केवल ईश्वर ईश्वर कहने मात्र से ज्ञान न होगा। सन्तों ने कई स्थानो पर जो वेदो की अवहेलना की है वह उनको भूल है या उनका तात्पर्य दूसरा है। बहुत से सन्त तो ऐसे हो गये है जो स्वयं विद्वान् न थे। केवल उनके बहुत से अनुयायी हो गये। अतः उन्होने अपनी बुद्धि तथा योग्यता के अनुसार जैसा मनमें आया वैसा उपदेश कर दिया। अनेक स्थानो पर उनके ग्रन्थो या उनकी वाणियों मे परस्पर विरोध मिलता है। उनके उद्देश्य भले भी हों तो भी हम उनको प्रमाण नही मान सकते। यदि वही सन्त वेदादि पुस्तको को पढ़े होते तो उनके आत्मा को अधिक शान्ति होती।

बहुत से अन्धविश्वासी अनुयायियो में एक दोष है। वह किसी मनुष्य की अच्छी अच्छी बातों के साथ साथ उसकी बुराइयों का भी अनुकरण करने लगते हैं। जैसे यदि किसी साधु को भोग विलास से विरक्त पाया तो उसके वचन भी मानने लगे। यह भूल हैं। सम्भव है कि उसको वैराग हो परन्तु ज्ञान न हो। या ज्ञान हो और वैराग न हो। यदि वैराग हुआ और ज्ञान न हुआ तो संसार से उपरति तो हो जायगी। परन्तु उसको ईश्वर की प्राप्ति न होगी।

यदि वेद आदि पढ़ कर ज्ञान प्राप्त कर लिया और वैराग नही हुआ तो भी ईश्वर की प्राप्ति नही होने की। क्योंकि भोग विलास मे फंसा हुआ आत्मा वेद पढ़ कर भी अपने को उन्नत नही कर सकता। हम ने ऊपर जो वेद तथा मुण्डकोपनिषद् के प्रमाण दिये हैं उनका यही तात्पर्य है। उनसे यह नहीं समझना चाहिये कि वेद आदि सत् शास्त्रों का किसी प्रकार अनादर किया है। वेद मे लिखा है कि जो ईश्वर को नहीं जानता वह वेद पढ़ कर क्या करेगा? इसका तात्पर्य यह है कि जो साधन की प्राप्ति करके ही सन्तुष्ट हो जाता है और साध्य की ओर ध्यान नही देता उसके लिये साधन का सम्पादन भी व्यर्थ ही है। मै रेल में बैठूं परन्तु उस स्थान पर न उतरूं जहाँ उतरना है तो वह मेरी मूर्खता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेद पढ़ने मात्र से कुछ नहीं होता। पढ़कर आचरण करने से ही लाभ होगा। वेद दो प्रकार से पढ़े जा सकते है एक तो केवल मंत्रो को पढ़ लेना और ईश्वर-प्राप्ति के लिये प्रयत्न न करना। ऐसा पढ़ना अपरा विद्या मे शामिल है। परन्तु जब पढ़ने के पश्चात् जीव ईश्वर का विचार करने लगता है और उस पर लक्ष्य रखते हुये अपने आचरण करता है तो परा विद्या का आरम्भ होता है। यह बात केवल वेदाध्ययन या ईश्वर-प्राप्ति के विषय मे ही लागू नही होती। चाहे किसी बात को लीजिये सब मे यही नियम सत्य ठहरता है। एक व्यापारिक पाठशाला मे लड़का व्यापार सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता है। इनका पढ़ना अतीव आवश्यक है। उनका उपयोग है। परन्तु उस पुस्तक के अध्ययन को हम व्यापार नही कह सकते। जिसने पुस्तकें पढ़ीं और व्यापार करना आरम्भ नही किया उस को केवल पुस्तकें आलमारी से उठकर धन नही प्राप्त करा सकती। प्रयोग आवश्यक है। इसी बात पर वेद तथा उपनिषत् के उपयुक्त वचनो मे बल दिया गया है। उससे यह कदापि नही

समझना चाहिये कि वेदादि शास्त्रों के अध्ययन का उपयोग नही।

वस्तुतः इसी भ्रम के मिटाने के लिये तो गुरु की आवश्यकता है। गुरु अनुभवी होना चाहिये जिससे वह शिष्य की कठिनाइयो को दूर कर सके और उसको कठिन बातों का तात्पर्य बता सके। हिन्दुओं मे एक प्रथा है। लोग कहा करते हैं कि जब तक हम गुरु नही करते उस समय तक हमको स्वर्ग नही मिल सकता। इसलिये वह गुरु मत्र ले लेते हैं अर्थात् कोई पण्डित या सन्यासी उनके कान मे मंत्र फूंक देता है। इसी को गुरु-दीक्षा कहते हैं। परन्तु यह गुरु-दीक्षा वास्तव में गुरु दीक्षा नहीं है किन्तु ढोग है। जिस पाखण्डी ने स्वयं ईश्वर-प्राप्ति का कोई साधन नही किया वह दूसरे को क्या मार्ग बतायेगा। ऐसे ही गुरुओ के विषय मे मुण्डकोपनिषत् मे आया है :—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमान्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
(मुण्डक० १। २। ८)

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वय कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत् कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकश्च्यवन्ते॥ (९)

अर्थात् अविद्या में फँसे हुये लोग अपने को पण्डित मान कर और यह समझ कर जो हम कर रहे हैं ठीक है दूसरो को बहकाते हैं उनकी वैसी ही गति होती है जैसी अन्धे के पीछे से चलने वाले अन्धो की होती है। इनको कभी अच्छी गति प्राप्त नही हो सकती।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार हिन्दू-जाति मे आजकल झूठे साधु और सन्यासियो का बहुत आदर है उसी प्रकार ऐसे गुरुओ

का भी है। मूर्ख लोग उनको धन देकर गुरुमन्त्र ले आते हैं। परन्तु उससे लाभ क्या होता है ? वस्तुतः कुछ भी नहीं। 'लोभी गुरु लालची चेले' की लोकोक्ति लागू होती है। यह गुरु नहीं हैं किन्तु ठग हैं। इनका आदर करने से जाति को बहुत हानि होती है। और शिष्यों की न तो अविद्या दूर होती है न उनकी उन्नति होती है।

गुरु वही है जो सच्चा ज्ञान देता है। यह ज्ञान एक क्षण या एक दिन से नहीं दिया जाता। इसके गुरु और शिष्य का बहुत दिनों तक संसर्ग होना चाहिये। अध्ययन जादू का लकड़ा नहीं है कि "एक ! दो ! तीन !" और आ गई।

उपासना-काण्ड

ईश्वर-प्राप्ति का तीसरा साधन उपासना है। इसका ईश्वर प्राप्ति से निकटस्थ सम्बन्ध है। यद्यपि उपासना साधन है तथापि कई अंशों में इसको साध्य भी कह सकते हैं क्योंकि सच्ची उपासना उसी समय हो सकती है जब अन्य साधनों का सम्पादन हो जाता है। जिसको साधारण लोग ईश्वर पूजा कहते हैं वह वस्तुतः उपासना ही है। कर्म काण्ड तथा ज्ञान काण्ड अर्थात् शुभ कर्म करना तथा ज्ञान प्राप्त करना उपासना के साधन मात्र हैं। इनसे मनुष्य के आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्धि होने से ईश्वर के लिये प्रेम होता है। प्रेम से आनन्द प्राप्त होता है।

व्यावहारिक दृष्टि से उपासना के दो अङ्ग है। एक प्रार्थना और दूसरा ध्यान। ध्यान मुख्यतः योग के आठ अङ्गों में से एक है। इसका उल्लेख हम इस पुस्तक में नहीं करेंगे। जिन विशेषज्ञों को इसकी आवश्यकता हो वह योग दर्शन में देख सकते हैं। परन्तु यहाँ हम सर्वसाधारण के हित के लिये कुछ संकेत करना पर्य्याप्त समझते हैं।

प्रार्थना को हमने यहाँ साधारण अर्थ में लिया है और इससे

हमारा तात्पर्य स्तुति और प्रार्थना दोनों से है। स्तुति ईश्वर के गुणों के गान को कहते हैं और प्रार्थना ईश्वर को साक्षात् मान कर उससे सहायता याचना के लिये की जाती है। इस प्रकार की प्रार्थना यदि ध्यान से पूर्व की जाय तो ध्यान मे बड़ी सहायता मिलती है। और यदि ध्यान न भी किया जाय और केवल उच्च स्वर से प्रार्थना ही की जाय तो भी बड़ा लाभ होता है। इससे चित्त एकाग्र होता है और हृदय को शान्ति होती है। आत्मा को अनुभव होने लगता है कि मैं किसी बड़ी भारी शक्ति के साथ हूँ।

बहुत से लोग शंका किया करते हैं कि ईश्वर को उच्च स्वर से पुकारने से क्या लाभ है ? क्या ईश्वर बहरा है ? सुनता नही ? जो तुम इतने उच्च स्वर से चिल्लाते हो ? क्या ईश्वर खुशामदी है ? जो तुम उसके गुणों को कई बार बखानते हो ? क्या ऐसा करने से ईश्वर तुम्हारी खुशामद मे आजायगा और तुमको कर्मों से अधिक फल दे देगा ? इत्यादि इत्यादि।

ऐसी शंका करने वाले प्रार्थना के तात्पर्य को ही नहीं समझते। वह समझते है कि जिस प्रकार लोक में राजा की प्रशंसा झूठी सच्ची की जाती है और वह ऐसी प्रशसा करने से प्रसन्न रहते हैं इसी प्रकार शायद ईश्वर के भक्त भी ईश्वर को ऐसा ही समझते हैं। परन्तु वस्तुतः यह बात नही है। हम जो कुछ करते हैं ईश्वर के लिये नहीं करते किन्तु अपने लिये करते हैं, और कर्मों से फल पाने की आकांक्षा से नहीं करते किन्तु अपनी आत्मिक उन्नति के उद्देश्य से करते हैं।

इसमे सन्देह नहीं कि ईश्वर प्रार्थना का भी बहुत कुछ दुरुपयोग होता है। जहाँ अज्ञान-वश लोग अन्य बातों का दुरुपयोग करते हैं वह यदि ईश्वर प्रार्थना का भी दुरुप-योग करें तो आश्चर्य नहीं है। परन्तु ईश्वर-प्रार्थना का मौलिक

तात्पर्य न यह था न है। बहुत से लोग समझते हैं कि जैसे राजों या राज कर्मचारियों को रिश्वत दे देने से हमारे बहुत से काम निकल जाते हैं इसी प्रकार ईश्वर-प्रार्थना से भी यही लाभ हो जाया करता होगा, जैसे हे ईश्वर ! यदि मुझे अमुक व्यापार मे लाभ हो जाय तो मै अमुक भाग दान दूं।" "हे परमात्मा ! यदि मेरा शत्रु मर जाय तो इतनी बार तेरी गायत्री का जाप करूं।" इत्यादि परन्तु यह सब प्रार्थना के उपयोग को ठीक न समझने के कारण होता है, ईश्वर हमारे किसी पाप को क्षमा नही कर सकता और न हमारे कार्यों से अधिक या न्यून फल दे सकता है। उसे न धन की आवश्यकता है न प्रशसा की।

वस्तुतः जब हम उसके गुणो का गान करते हैं तो उन गुणो के लिये हमारे हृदय मे श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और हमारे आत्मा के मल नष्ट होने लगते हैं। आत्मा के कारण शरीर पर बुरे कर्मों के जो सस्कार जम जाते हैं उनके लिये स्तुति साबुन का काम करती है।

स्तुति मे बहुत बड़ी शक्ति है। इसका परिचय एक बात से लग सकता है। हमारे शरीर पर हमारे मस्तिष्क का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। हमारे समस्त कार्य्य मस्तिष्क से ही आरम्भ होते हैं। मस्तिष्क में पहले विचार उठता है और यह विचार अनेक तन्तुओ द्वारा हमारे अवयवों को कार्य्य करने के लिये प्रेरणा करता है। भिन्न भिन्न विचार मस्तिष्क के कोष्ठो (Brain-cells) पर भिन्न २ प्रभाव डालते है। कल्पना करो कि एक कामोत्पादक कथा सुनी जाय या गीतिका गाई जाय तो मस्तिष्क मे एक प्रकार के काम-सम्बन्धी विचार उठेंगे और उन विचारों द्वारा हम अनेक कुचेष्टायें करने लगेंगे जिनमे मानसिक कुचेष्टायें भी शामिल हैं। परन्तु यदि वीर-रस के गीत गाये जायं तो उनके गाते ही बाहुओ मे फड़कन उत्पन्न हो जाती है। इसी

प्रकार जब हम ईश्वर स्तुति करते हैं तो उन गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विचार हमारे मस्तिष्क में उठते हैं और हमारे मस्तिष्क के कोष्ठो की बनावट मे भी परिवर्त्तन हो जाता है। यदि लगातार सच्चे हृदय से उच्च स्वर से प्रार्थना की जाय तो जिस प्रकार के गुणों का उस प्रार्थना मे वर्णन है उसी प्रकार के परिवर्त्तन हमारे मस्तिष्क मे उत्पन्न होने लगते हैं।

परन्तु एक बात याद रखनी चाहिये। प्रार्थनायें मस्तिष्क मे परिवर्त्तन करने के लिये है। यह तमाशा नही है। इसलिये प्रार्थनायें ऐसी हो जिनको मनुष्य समझता हो और जो ईश्वर के वास्तविक गुणों से सम्बन्ध रखतीं हो। बहुत से लोग ईश्वर को मनुष्य मानकर मनुष्य सम्बन्धी गुणो का उसमे आरोपण कर देते हैं। इसका नाम उन्होंने भक्ति रक्खा है। कोई प्रातःकाल उठकर कहता है "उठो नन्दलाल भोर भयो" कोई मूर्त्ति के सामने भोग ले जाकर प्रार्थना करता है कि 'इसे खाओ'। इत्यादि। कोई "चोर जारशिखा मणि" कह कर श्री कृष्ण जी की स्तुति करता है। कोई श्रीकृष्ण जी को "दुकूल चोर" कह कर पुकारता है। ऐसे गुण वर्णन करने से मस्तिष्क पर क्या प्रभाव पड़ता है? इसको समझने वाले भली भांति जान सकते हैं। जब हम अपने आराध्य को 'दुकूल चोर' या 'माखन' चोर कह कर पुकारते हैं तो यदि वस्तुतः हममे कुछ समझ है तो 'चोर' शब्द भी अवश्य हमारे मस्तिष्क पर अपने अर्थो का प्रभाव डालता होगा। यदि नहीं समझते तो यह प्रार्थना ही व्यर्थ हुई। इस प्रकार समझने की दशा में हानिकारक और न समझने की दशा मे व्यर्थ व्यापार अवश्य होता है।

लोग समझते है कि ऐसा करने से हम ईश्वर के प्रति भक्ति प्रकट करते हैं। इसी विचार ने 'भक्ति मार्ग' निर्माण किया है।

परन्तु यह लोग भक्ति का अर्थ ही नही समझते। यूनान के इलिएटिक-दर्शन (Eleatic School) का संस्थापक ज़ेनोफ़ेनीज़ (Xenophanes) कहता है कि बजाय इसके कि ईश्वर मनुष्य को बनावे ; मनुष्य ईश्वर को बनाता है। बाइबिल में लिखा है कि ईश्वर ने मनुष्य को अपने समान बनाया। ज़ेनोफ़ेनीज़ कहता है कि लोग ईश्वर को अपने समान बनाते हैं।

"Negroes imagine them as black and with flattened noses, the Thracians with blue eyes and hair, if oxen and horses could paint, they would represent their gods as horses and Oxen" (The *Problems of Philosophy by Janet and Seailles* p. 249)

अर्थात् नीग्रो लोग ईश्वर को काला और चपटी नाक का समझते हैं और थ्रेस के लोग नीली आंखो तथा लाल बालो वाला। यदि बैल और घोड़े भी चित्रकारी जानते तो वह ईश्वर को बैल और घोड़े की आकृति का समझते।

हमने बहुत से अन्धविश्वासियो के मुख से सुना है कि श्री तुलसीदास जी अड़ गये कि "हे ईश्वर हम तो तुझे धनुष बाण लिये हुए ही देखना चाहते हैं।" तुकारामजी के लिये सुना है कि कि उन्होने ईश्वर से प्रार्थना की कि हम इस शरीर मे तेरा निराकार स्वरूप नहीं देख सकते अतः तू हमको शरीर धारण करके चतुर्भुजी स्वरूप मे दर्शन दे।

वस्तुतः प्रार्थना का इससे अधिक दुरुपयोग नहीं हो सकता। प्रार्थना है आत्मा को ईश्वर तक उठाने के लिये न कि ईश्वर को आत्मा तक गिराने के लिये। जो लोग ईश्वर का अवतार मानते हैं वह ईश्वर तक अपना उत्तरण (उठना) नही चाहते किन्तु अपने तक ईश्वर का अवतरण (गिरना) चाहते हैं। इसीलिये

मनुष्य ऐसी कल्पनायें करते करते गिर जाता है और उन्नति के स्थान मे अवनति कर बैठता है ।

भक्ति शब्द का आजकल ऐसा दुरुपयोग होता है कि अच्छे आस्तिको को आस्तिक शब्द से घृणा हो जाती है । अभी थोड़े दिन हुये विहार मे एक मत चला है उसको 'राम सखी' कहते हैं । उनका कथन है कि राम को सीता सब से प्रिय है इसलिये जो राम की भक्ति चाहते हैं उनको चाहिये कि सीता बनें । सीता बनने की विधि यह है कि पुरुष स्त्री का भेष रखते हैं और हर प्रकार से उसी प्रकार के हाव भाव दिखाते हैं जैसे स्त्रियां अपने पति के सम्मुख दिखाया करती है । इसका नाम उन्होने ईश्वर-पूजा या भक्ति रख छोड़ा है । ऐसी प्रार्थनाओ का एक ही फल हो सकता है कि उनके आत्मा पर स्त्रैणो के संस्कार जम जायें और दूसरे जन्म मे उनको स्त्रियो का जन्म धारण करना पड़े ।

वस्तुत: यह भक्ति नही किन्तु अपनी कल्पनाओं के पीछे दौड़ना है । 'भक्ति' शब्द संस्कृत के "भज् सेवायाम्" धातु से बनता है । यदि हम ईश्वर के सच्चे सेवक हैं तो उसकी आज्ञा का पालन करेंगे न कि ईश्वर को अपनी मन मानी बातें करने पर बाधित करेंगे । उस सेवक के लिये क्या कहा जा सकता है जो अपने स्वामी से अपनी मन मानी कराना चाहता है ? इसी प्रकार जो लोग भक्ति के बहाने से इस प्रकार की इच्छायें रखते हैं वह अपने आत्मा को दूषित करते हैं । ईश्वर तो ऐसी सत्ता नही है जो ऐसे मूर्खों के कहने से अपने नियम टाल सके । यदि टाल सका तो ईश्वर ही नही । परन्तु भक्ति के नाम से बहुत से मूर्ख ठगे जाते है । और बहुत से पाखण्डी अपना उल्लू सीधा किया करते हैं । इसलिये ऐसे पाखण्डो से मनुष्यों को सदैव बचना चाहिये । और ऐसी प्रार्थना करनी चाहिये जिससे हमारा आत्मा उच्च हो ।

उच्च स्वर से प्रार्थना करने का एक लाभ यह है कि मन का विक्षेप दूर होता है और मन मे एक प्रकार की शान्ति आती है। इसके विषय में अधिक लिखने की आवश्यकता नही है। इसका अनुभव अभ्यास करने से प्राप्त हो सकता है।

उपासना का दूसरा अङ्ग ध्यान है। यदि अच्छा गुरु मिल जाय तो उसके सरक्षण मे रह कर मनुष्य को प्राणायाम सीखना चाहिये। उससे मन एकाग्र हो जाता है। मन के एकाग्र करने की प्राणायाम से अच्छी कोई विधि नहीं है। मन का और प्राणों का स्वाभाविक सम्बन्ध है। मन की गति रुकते ही प्राण की गति रुक जाती है और प्राण की गति रुकते ही मन की गति रुक जाती है। इसका अनुभव हम साधारणतया भी कर सकते हैं। यदि कोई ऐसी आकस्मिक घटना होती है कि जिसमे यकायक हमारा मन लग जाता है तो उसके साथ ही प्राण भी रुक जाता है। यह केवल क्षण मात्र के लिये होता है परन्तु होता अवश्य है। ज्यो ही मन चलायमान हुआ प्राण भी चलने लगता है। इससे स्पष्ट है कि यदि प्राण को रोका जाय तो मन भी उसके साथ ही रुक जायगा।

ध्यान मे मन के रोकने की क्या आवश्यकता है? इस पर कुछ विचार करना चाहिये। वस्तुत: हमारा मन इतना चचल है कि जब तक वह चलता रहता है हम कुछ काम नहीं कर सकते। अर्जुन कहते है :—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ ६। ३४॥

अर्थात् हे कृष्ण मन ऐसा चचल है कि उसको प्रयत्न करने से

भी नही रोक सकते। मुझे उसका रोकना हवा के बाँधने से भी दुस्तर प्रतीत होता है।

इस पर श्रीकृष्ण का उत्तर है :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौंतेयं वैरागेण च ग्रह्यते ॥ ६ । ३६

अर्थात् हे अर्जुन, माना कि मन का रोकना कठिन है तो भी अभ्यास और वैराग्य से इसका निरोध हो सकता है।

पतञ्जलि मुनि योग शास्त्र मे कहते हैं।

अभ्यास वैरागाभ्यां तन्निरोधः ॥

बिना मनको स्थिर किये काम भी तो नहीं चलता। जिस प्रकार हिलते हुये या मैले दर्पण मे अपना मुख नहीं दीख सकता इसी प्रकार मल-युक्त या विक्षेप-युक्त मन मे ईश्वर का ध्यान नही हो सकता। ईश्वर प्रार्थना तथा शुभ कर्मों से मन का मल दूर होता है और ध्यान से विक्षेप।

परन्तु प्राणायाम करने मे एक बात का विचार रखना चाहिये। केवल पुस्तकें पढ़ कर या अण्ड बण्ड पाखण्डी गुरु की शिक्षा से बहुधा प्राणायाम की सिद्धि नही होती और अनेक प्रकार के रोग शरीर को लग जाते हैं। आज कल साधुओं मे योग के ऐसे अण्ड बण्ड प्रकार प्रचलित है कि उनसे बहुत से उत्साही युवक हानि उठा बैठते हैं और जो रोग एक बार लग जाते हैं वह समस्त आयु भर उनका पीछा नहीं छोड़ते। कम से कम फेफड़ो के रोगों का तो बहुत ही भय होता है। अतः जब तक तुम संयमी नही हो सकते या जब तक तुमको अच्छा गुरु नही मिल सके उस समय तक प्राणायाम न करो। केवल बिना प्राणायाम के ही ध्यान जमाने का

यत्न करो। इससे प्राणायाम के समान लाभ तो न होगा परन्तु न होने से कुछ होना अच्छा है। ऐसा करने के लिये सध्या या प्रार्थना के मन्त्रो पर विचार करना या ओ३म् का जाप करना अच्छा है। योग-दर्शन मे लिखा है :—

तज्जपस्तदर्थ भावनम् ।

अर्थात् ओ३म् का जाप करे और उसके अर्थों पर विचार करे। इससे भी मन के एकाग्र होने मे कुछ न कुछ सफलता अवश्य प्राप्त होगी।

॥ समाप्त ॥